

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

गुरुमण्डल ग्रन्थमालायाः दशमम्बुध्वम्

निरुक्तम्

(निघण्टुः)

श्रीमन्महर्षिग्रास्काचार्य्य प्रणीतम्

प्रथमो भागः

श्री देवराजयज्वकृत 'निर्वचन' नाम टीका सहितम्

श्रीनाथादिगुरुप्रणं गणपतिं पीठत्रयम्भैरवम् ।

सिद्धौघं घटुकचयम्पदयुगं द्वतीकर्म मण्डलम् ॥

पीराग्न्यष्ट चतुष्क पष्टिनवकं पीरावलीपञ्चकम् ।

श्रीमन्मालिनि मन्त्रराजसहितं घन्देगुरोर्मण्डलम् ॥

Curumandal Series No. X. ²

Mans
NIRUKTAM
(NIGHANTU)

BY
Maharshi Yaskacharya

WITH A
COMMENTARY BY
Pandit Devaraja Yajvan

Volume 1.

FIRST EDITION 5000

**5, Clive Row,
Calcutta.**

**Vikram Era.
2009**

**Christian Era
1952**

PREFACE.

Language had become an object of wonder and meditation with the Aryans in India at a very early period. Only two nations of the world viz., India and Greece are credited by Max Muller with having conceived the science of Grammar independently of each other. The facts of language were culled by these Aryan forefathers of ours and used for linguistic generalisations were recorded in NIRUKTA by Yaska who deals with Vedic etymologies. The NIGHANTUKA is the first part of the NIRUKTA, in which synonymous words are taught. This part begins with GAUH and ends with DEVAPATNIS. My friend Shri B. D. Trivedi has published this NIGHANTU in the present booklet for the use of young students, who may desire to commit it to memory to facilitate a deeper study of NIRUKTA at a later age. As NIRUKTA is one of the six VEDANGAS its study is necessary for the understanding of the Veda seen from the modern point of view. Shri Trivedi, therefore, deserves our best thanks for the publication of the present booklet which besides helping all students of Vedic literature, aims at popularising our Sacred Books. A close study of which will not fail to inspire the younger generation of Indians to noble ways of thought and life most needed for the regeneration of our Bharatavarsha.

Bhandarkar Oriental
Research Institute
Poona 4
1st July, 1952.

P. K. GODE

* श्रीहरिः *

प्राक्कथन

—:—

“प्राक्तनेन निष्कारणं पडङ्गोवेदोऽप्येयोऽयम्”

—(२)—

भारतीय अध्ययन-क्रम सबसे प्रथम वेद को पढ़ना जानना बताता है। यथा, “स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” वेद पढ़ना चाहिए। यह पाठ्यविधि है। मानवीय धर्मशास्त्र में कहा है “योऽनघीय द्विजो वेदमन्यत्रं कुरुते धमम्। स जीवन्नेव शुद्धस्यमानु गच्छति सान्त्वयः॥” जो द्विजानि वेद न पढ़ कर केवल अन्य साहित्यों का अध्ययन करता है वह सतुष्टुम्य शुद्धत्व प्राप्त करता है अर्थात् वेद विहित कर्म करने का अधिकारी नहीं होता है। वेद विद्या के अध्ययन से देवीवल विकास होकर स्वर्ण शास्त्र, विज्ञान, साहित्य, कला आदि के प्रचुर विज्ञान की क्षमता और विद्वज्जीवनी की प्राप्ति हो जाती है। भारतवर्ष की शिक्षणप्रणाली वेदाध्ययन से प्रारम्भ होती है। वेदार्थ का ज्ञान अति गम्भीर होने से “विश्वं कल्पोऽयं व्याकरणं निरुक्तं एतदोम्बीति” इन छे अक्षरों का

पहले ज्ञान प्राप्त कर लेना परमावश्यक है। मुण्डकोपनिषद् में आया है :—“देविषो वेदितव्ये इति हस्म यद् ब्रह्मविदोवदन्ति परा चेवा परा च। तत्र अपरा ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वणः शिक्षा कल्प व्याकरण छन्द ज्यौतिष निरुक्ताः। अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते।” धर्मज्ञान के साधन पड़ंग सहित वेद अपरा विद्या बताये गये हैं। परमपुरुषार्थ ब्रह्मज्ञान के विकासक उपनिषद् भाग को ‘पराविद्या’ सञ्ज्ञा दी गई।

शिक्षा:—“आत्माबुद्ध्यु समेत्यार्यान्” इत्यादि से वर्णों (स्वर-व्यञ्जन) का उच्चारण क्रम जिसमें बताया गया है उस को शिक्षा कहा है। जैसे, तैत्तिरीय में “अथ शिक्षां व्याख्यास्यामः” इस शिक्षाध्याय में वर्ण और स्वर का उच्चारण बताया है। सबसे प्रथम किसी मन्त्र के पूर्ण ज्ञान के पूर्ण वर्ण स्वर का उच्चारण-क्रम भलीभाँति जानलेना चाहिये। प्राचीन आविशल व्याकरण पर हमारे एक मित्र ने लिखा है कि उन्होंने ५० वर्षों तक उच्चारण में समय लगाया और उन्होंने मुख के किस स्थान को कितना संकोचन कितना विकाश कर तथा गिद्धा का आकुञ्चन संकोचन तत्स्थान स्पर्श का विधान दिखा कर प्रत्येक वर्ण के सूचारुरूप से उच्चारण प्रकारकी प्रक्रिया बताई है। वस्तुतः वर्ण और शब्द का उच्चारण का ज्ञान साहित्य और मन्त्र की मौलिक मर्यादा है “मन्त्रो होनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तत्पर्यमाह। स नागवज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।” अष्टौ उच्चारण कियागया मन्त्र प्रयोगकर्ता के लिये हानिकर सिद्ध हुआ है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शिक्षा के देनेवाले महानुभाव पूर्ण विद्वान् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र और निःस्वार्थ

हों जिससे किसी प्रकार की हानि न हो। जैसे वृत्रासुर ने “इन्द्र शत्रुर्यधस्व” में अपने लिये ही पूर्वपद प्रकृति स्वरत्वं रख कर घातकता बना ली। सबसे प्रथम स्वरवर्ण का उच्चारण समझना परमावश्यक है शिक्षा का मुख्य अर्थ वर्णस्वर का उच्चारण है।

कल्प :—किस मन्त्र की किस कार्य में कल्पना की जाती है इस विधि का ज्ञान जिनसे होता है उसे कल्प कहते हैं। जैसे, आचमनायन कल्प, धौधायन कल्प, आपस्तम्ब आदि ये कल्प हैं। इन में जिस वस्तु में जिस कर्म में जो मन्त्र लगाया जाता है, उसका वर्णन है।

व्याकरण :—शब्द की प्रकृति और प्रत्यय के संयोग का उपदेश पद का स्वरूप, पदार्थ का निश्चय व्याकरण से प्राप्त होता है। आज तक भी पाणिनीयादि व्याकरण के आविर्भावों की गेली पदार्थ निरूपण में प्रयोग की जाती है। कहा भी है :—

“छन्दःपादौ तु वेदस्य द्वन्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।

उपोतिषामयनं यक्षुर्निरक्तं भोग्यमुच्यते ॥

शिथिलानां तु वेदस्य सुखं व्याकरणं स्मृतम्।

सम्भारसांगमधीन्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥

इस श्लोक में पद की मूर्ति का वर्णन है। साङ्गवेदाध्ययन से ब्रह्मलोक की प्राप्ति शास्त्र में बतलाई है।

निरक्त :—“वर्णांगमो वर्ग शिष्यंयात्र ही आपसी वर्गविकारनाशी। धातोस्तदप्रातिशयेन योगस्तदुच्यते यक्षयिर्निरक्तम्।” उक्त परिभाषा निरक्त को यक्षक्षणात्मक बताती है जिसका आगे विस्तरीकरण करेंगे। गो शब्द से देखपछी शब्द तक निष्पट्ट का विषाकलाप है। किसी

शब्द के अर्थज्ञान में दूसरे व्याकरणादि की अपेक्षा के बिना स्वयं अर्थ के प्रकट करने को निरुक्त कहा है। यो शब्द से प्रारम्भ कर देवपत्नी शब्द तक जो समाप्ताय है उसे यास्क ने, निरुक्त संज्ञा दी है। जैसे, इतने पृथ्वी के नाम इतने हिस्स्यादि के नाम आदि। यास्काचार्य ने निरुक्त तीन कागड़ों में बताया है। निरुक्त :—(१) निघण्टु, (२) नैगम, (३) देवता यह पञ्चाध्यायी निरुक्त है।

छन्द :—इस में अक्षरों से छन्द बने हैं। किस देवता की स्तुति प्रधानतया किस छन्द में हो यह विधान है “छन्दश्छादनात्” छन्द का ज्ञान वेदार्थज्ञान का अविभाज्य अंग है जिसका ज्ञान न होने से मनुष्य को अज्ञानी लिखा है।

ज्योतिष—“वसन्ते प्राहणोऽग्नीनादधीत” यज्ञ का काल, दुर्गकाल, उचित अनुचित समय का ज्ञान और ग्रहगति से भौमान्तरिक्ष उत्पात का ज्ञान ज्योतिष से होता है। ज्योतिष दो प्रकार का रूप ग्रहज्योतिष है।

सम्पूर्ण शब्दराशि नाम, आप्यात, निपात और उपसर्ग इन चार स्कन्धों में रहती है। नाम संज्ञा को कहते हैं। निरुक्त प्रत्येक नाम का निर्बचन करता है। यास्काचार्य “नामान्याप्यातशतानि” कह कर निर्बचनक्रम निर्देश करते हैं; जैसे, अग्नि शब्द है इसका आप्यातज्ञ निर्बचनक्रम है ‘अग्निः अग्निर्भवति’ आदि है। संज्ञा आप्यात (निया) से बनी है। इससे यह निष्कर्ष आया कि अर्थ के ज्ञान में निरपेक्षतया पद जहाँ कहा गया वह निरुक्त का लक्षण है “अथाविशेषे निरपेक्षतया। पदज्ञानं यद्योक्तं सन्निरुक्तम्” छान्दोग्य उपनिषद् में आया है “त वा एव आत्मा हृदि तस्य तदेव निरुक्तं हृदयमिति तन्मात्रं हृदयम्” ८।१।२।

अर्थ के ज्ञान में दूसरे की सहायता बिना जो अर्थ को प्रगट करना होता है उसे निरुक्त कहते हैं। इसी तरह ओङ्कार का निर्वचन किया गया। “आष्ट धातु” से ओङ्कार बना सर्वमाप्नोतीती ओङ्कारः। स्मृतियों में भी बहुत ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ बिना निरुक्त के नहीं हो सकता। जैसे, “मांस भक्षयिनाऽभ्युग्र यस्य मांसमिहाङ्म्यम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः” इति मांसस्य निर्वचनम्। मांस का निर्वचन कौत्स ने किया है, मांसम्-माननं वा मानसम् वा मनोयस्मिन् सीदति वा। दूसरे स्थान पर मनु में आया है :— “भ्रादभुक् वृषलीकल्पम्” इस में वृषली शब्द स्त्री का वाचक है। वाल्मिक ने इस शब्द का यह निर्वचन किया है :—“वृषलो वृषलीलो भवति वा वृषालीलो वा” इसलिये वृषली का अर्थ व्यभिचारिणी हुआ। इसी प्रकार महाभारत में भी आया है “महत्त्वाद् भारतत्वाच्च महाभारत-मुच्यते” निरुक्तस्य यो वद सर्वपापैः प्रमुच्यते”। महाभारत काल में भी स्वतंत्र अर्थ में निरुक्त का ही आश्रय लिया है वही मोक्षधर्म में अर्जुन ने पूछा है :—

“भगवन् ! भूतभक्ष्येण सर्वभूतसुखद्वय !
 लोकाणाम जगन्नाथ लोकानामभयप्रद ॥
 यानि नामानिते देव ! कीर्तितानि मनीषिभिः।
 येषु सपुराणेषु यानि गुणानि कर्मभिः ॥
 तेषां निष्कं तत्त्वेन श्रोतुमिच्छामि वेदाव !
 नदन्यो मायां निष्कं स्वामृतेप्रभो ॥”

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा “गौणानि तत्र नामानि

कर्मजानिच यानि सत् । निरुक्तं कर्मजानां त्वं शृणुष्व प्रयतोऽनघ !”
 कहते हैं : हे निष्याप ! कर्म से जो नाम उत्पन्न हुए हैं उन्हें तुम छनो ।
 यथा ; यास्क के मत में नाम आख्यातज हैं इस से आगे कहते हैं :—

“नाराणामयनं ह्यात मिद मेकः सनातनः ।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपोवैनरसुतयः ।

अयनं सस्य उत्पूर्वमतो नारायणोऽहम् ।”

कात्यायन के मत में “नाम घातुत्तमाह निरुक्ते व्याकरणे ।” नाम और आख्यात उपसर्ग और निपात यह जिस में होते हैं उसे निरुक्त कहते हैं । निरुक्त पञ्चाध्यायी है । यह गवादि शब्द से देवपत्नी तक पांच अध्यायों में विस्तृत है । यह पहले बता दिया गया है । वैदिक मन्त्र पदों के धर्मज्ञान के हेतु यास्क ने समाज्ञायः समाज्ञातः सख्यातद्वयः इत्यादि त्रयोदशाध्यायात्मक निरुक्त की रचना की है ।

निरुक्त के बिना वेदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता । पञ्चाध्यायी निघण्टु भागत्रय नवाध्याय निरुक्त के आश्रय से वेद के मन्त्रों का ज्ञान होता है । समाज्ञाय को निघण्टु कहते हैं । आगे लिखा है, “निगमा इमे भवन्ति छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य” निगमा अर्थात् निरुचय से वे निगुद्गार्थक हैं “तानि गवादिदेव पत्न्यन्त नामानि छन्दोभ्यः समाहृत्य” मन्त्रों से लेकर अयन किया है जैसे, महर्षि यास्क ने कहा है :—
 साक्षात्कृतधर्माण् अपयो बभूवुस्तेऽभवेभ्यः असाक्षात्कृतधर्मभ्यो उपदेशेन मन्त्रान् सम्राजुः उपदेशाय ग्लायन्तोऽवेभ्योविरसप्रहृणाय इमं ग्रन्थं समाश्रासिषु बर्द च वेदाङ्गानि च” । उपरोक्त उपदेश से यह ज्ञान हुआ कि पहले रूप में वेद मन्त्र आकाश में बिखरे हुए थे अर्थात् ईश्वर के अनादि

निःस्वासस्य यह वेदराशि नादात्मक वीचि तरङ्गों में दिव्य आकाशमण्डल में लहरा रही थी इनको कृतधर्मा ऋषियों ने पाया । इन विकीर्ण मन्त्रों को एकत्र कर निघण्टु बना कर अध्ययनाध्यापन द्वारा विस्तार किया गया । पहले इनको ब्राह्मणग्रन्थों में समाग्रान किया । ब्राह्मणग्रन्थ भी जय वेदार्थ ज्ञान में पर्याप्त न हुए तब इनको निरुक्तादिग्रन्थों में समाग्रान किया । निरुक्तादि कहने से वेद के छे अङ्गों के योज्यभूत पदङ्ग हुए । जैसा पहले कह चुके हैं शिक्षा से स्वरवर्ण का ज्ञान कल्प से मन्त्रों का विनियोग, व्याकरण से विभक्ति आदि का ज्ञान, वेदबोधित कर्म करने का काल का परिज्ञान ज्योतिष से तथा मनुष्यों के शुभाशुभ कर्म विषाकादि अध्ययन विधि को जानने के लिये छन्द और इसी प्रकार शब्द निर्वचन के लिये निरुक्त है “ना निरुक्त्विद्वाङ्मयात्” । साथ ही शब्द लक्षण परिज्ञान का भूल व्याकरण ही है । यह शब्दार्थपरिज्ञान आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक धर्मार्थ काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ बिना निरुक्त के नहीं हो सकता है । इस से स्पष्ट हुआ कि अर्थ परिज्ञान के लिये निरुक्त ही प्रधान है । इस तरह सम्पूर्ण शब्दराशि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात लक्षणात्मक है । नाम जो हैं आख्यातज हैं कोई कोई अनेक धातुओं से भी बने हैं । आख्यातज में भावप्रधान होता है । नाम में सत्त्व की प्रधानता होती है । नाम का उपदेश जैसे निरुक्त्वे कदा है गौ इत्यादि २१ पृथ्वी के नाम १५ हिरण्य के नाम बताये हैं । उसके भागे ३२ धातु गमनार्थक हैं इस तरह बतलाया है कि यह नाम है और यह आख्यात है इस लिये नाम और आख्यात के लक्षण निरुक्तकार ने बतलाये हैं । कहा है “ऋपयो ह्युपदेशस्य नान्तं यान्ति गृथकृत्वाः । लक्षणेन तु सिद्धाना मन्तं यान्ति विपरिचितः ॥”

“भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानिनामानि” यास्काचार्य ने शब्द के निर्वचन करने में शब्दों को तीन वृत्तियों में रक्खा है ; परोक्ष, अति परोक्ष और प्रत्यक्ष । “परोक्ष प्रिया हि नै देवाः ।” इसलिये जितने नाम हैं उनका निर्वचन निरुक्त से ही होगा । “पञ्चाध्यायी निघण्टोश्च निरुक्तमुपरि स्थितम्” । तो प्रत्येक शब्द का निर्वचन निरुक्त से ही होता है । यद्यपि निरुक्त का प्रथम काण्ड नैघण्टुक काण्ड लिखा है परन्तु उस में निघण्टु के एक ही शब्द का निर्वचन कहा गया है । भारद्वाज में, “समाख्यायं निघण्टव इत्याचक्षते, निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति, छन्दोम्यः समाहृत्य समाहृत्य समाज्ञातास्ते निगन्तव एव सन्तो निगमना-क्षिण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः अपिवाऽऽहननादेवस्युः समाहृता भवन्ति ।”

अर्थात् मामाख्यात उपसर्ग निपातात्मक शब्दराशिको मन्त्रों से एकत्र कर निघण्टु की रचना की गई है । निघण्टु शब्द अति परोक्षवृत्ति का है । शब्द की तीन प्रकार की वृत्ति होती है—(१) अतिपरोक्ष, (२) परोक्ष और (३) प्रत्यक्ष । यह ज्ञान निरुक्त शास्त्रगम्य है । शब्द को अतिपरोक्ष वृत्ति से प्रथम परोक्षवृत्ति में लाया जाता है तब प्रत्यक्षवृत्ति में लाकर निर्वचन अर्थात् निरोक्ष बचन निर्वचन उसे भली प्रकार देखकर अर्थाकारवृत्ति में लाया होता है । कहा भी है “परोक्षप्रियाः हि देवाः” वेदों में देवताओं का संस्तरन प्रायः परोक्षवृत्ति में हुआ है । उदाहरणार्थ, निघण्टु, अतिपरोक्षवृत्ति में इसका परोक्षवृत्ति में निगमाः यह स्वरूप होता है प्रत्यक्षवृत्ति में निगमयितारः अर्थात् प्रत्यक्षवृत्ति में प्रिया उत्पन्न अन्तर्गत रहती है । परोक्ष एवं अतिपरोक्षवृत्ति में निर्वचन से ही अर्थ प्राप्ति होती है इस कारण वेदार्थ परिज्ञान बिना निरुक्त के

अप्राप्य है जैसे, निघण्टव्यः यह अतिपरोक्षवृत्तिगत अर्थ है। इसी शब्द की निगन्तव्य यह परोक्षवृत्ति हुई और “निगमवितारः” यह प्रत्यक्षवृत्ति है। निरुक्त के लक्षण में ऊपर लिखा है “वर्णागमो वर्ण विपर्ययः इत्यादि व्याकरणशास्त्र में उणादि प्रकरणगत शब्द परोक्षवृत्ति वह कर “असमाप्ता उणादयः” यह बताया भी है। अनेक क्रिया होने पर भी किसी एक क्रिया को लेकर शब्द का निर्णय केवल निरुक्त शालग्राम्य है यही समाहता प्रत्यक्षवृत्ति में “समाहताः” एकत्र करने के अर्थ में गी आदि से देवपत्न्यन्त का सङ्केत है। शब्दराशि आकाश में भगन्त है। उन में से कुछ शब्द मन्त्रद्वारा ऋषियों ने एकत्र कर निघण्टु बनाया है। एक अभिधान में अनेक धातुओं का निर्णय किस प्रकार हुआ इन पर कहा है :—“नामान्यप्यातजातानि” नाम सप्त आध्यात से पने हैं यह निरुक्त का निश्चय है जो उसका त्रिधापद है उससे परोक्षवृत्ति से लेकर निर्णय प्रकार बताया है। जो रुद्र शब्द हैं वही भी जो रुद्रिप्रयुक्त शब्द हैं उन्हें जो धातु रुद्रिपद के अर्थ को बताती है उसे लेकर निर्णय करना बताया है।

निघण्टु के शब्दों का निर्णय निरुक्त में किया है। वेद में जिन शब्दों का समाग्रान हुआ उनका निर्णय वेदार्थ के अति निगूढ़ होने से किया गया। वेद शब्द किस का वाचक है समास से प्रथम उसका निर्देश यह है “वेद्यन्ते जायन्ते प्राप्यन्ते धर्मादिपुरुषायाः इति वेदाः।”

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न युज्यते। एवं विदन्ति वेदेन तस्माद्देवस्य वेदता”। प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से जिस वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता उस अव्यक्त ब्रह्म का ज्ञान जिससे होता है वह

वेद शब्दवाच्य है। शास्त्र शब्द का भी प्रधान अर्थ वेद शब्द से ही है।

“अनेक संशयोच्चेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्। सर्वस्यलोचनं शास्त्रं यस्यनास्त्यन्ध एव सः” सम्पूर्ण प्रकार के संशय को छेदन कर परोक्ष इन्द्रियातीत तत्त्वका ज्ञान जिस से होता है वही शास्त्र है। इसी को भगवद्गीता में “दिव्यं ददामि ते चक्षुः” दिव्य चक्षु वेद को कहा है। अपौरुषेय वाक्य भी वेद को बताया है अर्थात् परमेश्वर के निःश्वासरूप से आविर्भूत शब्दराशि वेद है। “स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” स्वाध्याय भी वेद की लम्हा है। श्रुति शब्द भी वेद का ही वाचक है “श्रुति स्तु वेदो विज्ञेयो धर्म-शास्त्रं तु वै स्मृतिः” श्रुति का अर्थ है वह वाक्य रूप अव्यक्तशब्द जिन्हें दिव्याकाश में भगवन्नाते मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने सुने है। “श्रुतिस्मृत्युदितकर्मद्वयमुतिष्ठन्ति मानवाः” श्रुति से वेदप्रतिपाद्य यज्ञादि कर्मका अनुष्ठान से तात्पर्य है, यतः जैमिनि ने भी बताया है “आद्यायस्य क्रियार्थत्वात्” वेदमन्त्र यज्ञादिक्रिया के बोधक हैं जिन से देवता शक्ति का साक्षात्कार होता है तथापि “उदितंऽमुदितं चैव समवाप्युविते तथा सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं यदि की श्रुतिः।”

वेद के स्वरूप निर्णय में ऋषायन ने मन्त्र ब्राह्मण को वेद शब्द से बोधित किया है “मन्त्रब्राह्मणमित्याहुर्वेदशब्दं महर्षयः। विनियोगव्यस्योपः समन्त्र इति कथ्यते ॥ विधिस्तुतिकरं येषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि।” मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों को वेद कह कर जिन मन्त्रों को कर्म (यज्ञादि) में विनियोग किया गया है वे मन्त्र कहे गये और देवताओं की स्तुति आदि भाग ब्राह्मण कहा गया है। निरुक्त में तो

कर्मगम्पत्तिमन्त्रो वेदे" मन्त्र भाग को ही निर्वचन का कारण कहा है । वेद चार भागों में कहा गया है—“ऋक्पाद्वदो गीति इति सामगाय यजुर्मय । एवं चतुर्वेदेषु त्रिवैव विनियुज्यते ।” पद्यात्मक ऋक् और गद्यात्मक यजुर्वेद कहा गया है ज्ञानात्मक साम कहा गया है । मनुसंहिता में आया है “अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं महा सनातनम् । हुवोऽ यज्ञसिधेर्द्व्यष्टयजुः सामलक्षणम्”—इन तीनों के अन्तर्गत अथर्ववेद भी है । बृहदारण्यक में आया है “अं अरुच महतो निःस्पृष्टमेतत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वणः ।” महाभारत में आया है “एकतमचतुरो वेदान् भारतश्चेतदेकतः । पुरा त्रिल उरैः सर्वैस्तमेत्य तुलया धनम् । चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्योऽप्यधिक यदा । तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन्महाभारतमुच्यते” ॥ अथ च इति के आगे प्रथम स्कन्ध में प्रतिपादन किया गया है “यो त्रिवाचचतुरोवेदान्” इस कथन से भी चार वेदों की सिद्धि होती है । अथी शब्द यों कहा गया है कि यह रचना पद्य, गद्य और गीति इन तीनों विषयपरक है । क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् में भी चार वेद ही बताये गये हैं । सनत्कुमार के प्रश्न के उत्तर में “ऋग्वेदोऽध्येमि यजुर्वेदोऽध्येमि सामवेदोऽध्येमि अथर्ववेदोऽध्येमि ॥ इन चार वेदों का वर्णन है ।

“चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वेतीर्षे सप्ताहस्तासो अस्य । त्रिषा यद्भ्यो गृपभ्यो रोरवीति महोदेवो मर्त्यांश्चातिवेदः” इस से चार वेद सिद्ध होते हैं । मनु ने भी चार वेद का निरूपण कहा है । जहाँ कहीं प्रथी त्रिषा पद आया है वहाँ सर्वत्र त्रयीशब्द चारों वेदोंका वाचक है । ऋग्वेद की २१ शाखा यजुर्वेद की १०० शाखा साम की १००० शाखा और अथर्ववेद की ६

शाखा हैं। यथा, शाकलादिशाखाओं को ऋग्वेद नाम से कहादि शाखाओं को सामवेद नाम से शौनकादि शाखाओं को अथर्व वेद नाम से कहा गया है। आधर्वणिक मन्त्र ग्रन्थी विद्या से पुष्पक नहीं है। अथर्व ऋषि के द्वारा जो मन्त्र प्रगट हुए हैं वेही अथर्ववेद में संगृहीत हैं। यस्तुतः पुरु ही वेद विभिन्न रचना (पद्य, गद्य और गीति) के रूप में ग्रन्थी कहा गया है। ऋक् संहिता, यजु संहिता, साम संहिता और अथर्व संहिता, यहाँ संहिता का अर्थ है वर्णों का एक प्राणयोग करना। पाणिनि ने कहा है “परः सखिकर्पः संहिता”। ऋक् का लक्षण पद्यात्मक मन्त्र चारों संहिताओं में विद्यमान रहने पर भी जहाँ इसकी अधिकता हो उसको ऋक् तथा गद्यात्मक मन्त्र की अधिकता को यजुः कहेंगे। जहाँ स्तोम और गायन के मूलभूत लक्षण हो उसे सामवेद कहते हैं। अर्थात् पद्य, गद्य और गीति वेद से तीन प्रकार की रचना हुई एतदर्थ वेद ग्रन्थीविद्या शब्द से प्रसिद्ध हुआ। अथर्व नामक ऋषि यज्ञ की प्रक्रिया को सर्वप्रथम चलायेवाले हुए उन्होंने यज्ञादि प्रक्रिया को ऋग्वेदादि नाम दिये। ऋग्वेदसंहिता के १-६-४५ में आता है “यज्ञैरथर्थां प्रथमः पथस्ततो” अर्थात् अथर्वों ने यज्ञ का मार्ग दिखाया। ऋग्वेदसंहिता के सप्तम मंडल में अग्नि जातः अथर्वाः। ऋग्वेद के ४-५-२३ सं० में “त्वामग्निः पुष्करान्-अथर्वाग्नि रमन्थत इत्यादि इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि यज्ञ विस्तार अथर्वों में हुआ है। जैसे, प्रधान ऋत्विजों के समन्वय में कहा गया ‘होता ऋग्वेदी हो’ अथर्वं यजुर्वेदी हो और उद्गाता सामवेदी हो। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रपाठक। (५-५-८) में आया है, “यज्ञात्वं केन क्रियते” इसका यह तात्पर्य है कि होता, अथर्व

और उद्गाता भिन्न भिन्न वेदों से कृणीत हो गये परन्तु मन्त्रा सारे यज्ञ का नियन्त्रण करता है उस की किस विधा से नियुक्ति की जाय ? “अथर्वविद्या” तात्पर्य यह है कि धनुर्वेदज्ञ भी हो वही मन्त्रा का पद प्रदण कर सकता है । हमसे यह स्पष्ट प्रतीत है कि यज्ञकार्य निर्वाहार्थ संहिता विभाजित की गई । प्रदत्तं केन त्रियते ? इसका उत्तर जब “अथर्व विद्या” यह आया है तो इसका यह अर्थ निकलता है कि “अथर्व संहिता” के ज्ञान के बिना मन्त्रा नहीं हो सकता । यज्ञ होता, अध्ययु और उद्गाता इन में क्रमशः ऋग्, यजु और साम का ज्ञान तो या ही परन्तु मन्त्रा में तीन विधाओं के अतिरिक्त अथर्ववेद की योग्यता का होना परमावश्यक है इसी से यह भी अपेक्षित है कि राक्षसादिकृत विघ्न निवारण कर पद यज्ञ की रक्षा करे । अतः मन्त्रा का अथर्ववेद ज्ञाता होना आवश्यक है । ऋक्संहिता में “ऋषो त्व पाँच मास्ते पुष्य्यान् गायत्रन्त्यो गायन्ति नक्षत्रीः । मन्त्रा रक्षो वदति जानविषाम् यज्ञ स्प मात्रां विमिमीन उत्पः ।” इस ध्वनि से मन्त्रा सर्वत्रिं एवं अथर्ववेदविद् हुआ क्यों कि “अथर्वानामपि धन्तु मन्त्रा परिहरेत्तदा” उसका अभिप्राय यही है । यज्ञसमाप्ति के लिये चार संहिताओं का ज्ञान आता है । इसीलिये ऋग्वेद का दूसरा नाम दोहवेद, यजुर्वेद का अध्ययुवेद, अथर्व वेद का उद्गामवेद और सामवेद का गानवेद । हमसे अन्तरिक्षज्ञा इत्यादि पुरोक्त बचन सिद्ध हो गये । एन्द्र भी वेद का वाचक है एन्द्र से वायु आदि देवताओंका प्रदण होता है । “प्रीति एन्द्रोमि आयोराता ओषधयः” एन्द्र का अर्थ पोषण है अक्षर समाप्ताय का नाम एन्द्र है । इसलिये छन्दसां एन्द्र अर्वां ओ यज्ञ भाषान में आच्छादित थे तब “एन्द्रेभ्यः समाह्व्य समाह्व्य समाप्तानाः

इनको एकत्र करके प्रणित किया गया है। निरुक्त में आया है छादन करने से ही वह मन्त्र “छन्दोम्य मन्त्रेभ्यः। तैत्तिरीय में आया है “यत्प्रणयः छन्दसां मध्ये ऋषभः” इत्यादि प्रणय सम्पूर्ण वेदों में श्रेष्ठ है। छान्दोग्य ब्राह्मण में आया है “देवा ये मृत्यो विभ्यतः स्वर्गो विद्यां प्रादिशते स्ते छन्दोभिश्छादयन्” देवता मृत्यु से भयभीत होकर वेदों के शरण में गये और इनको रक्षा के लिये छन्द से ढका गया। पुरुष सूक्त में भी है “छन्दांसि जंजिरे” गायत्र्यादि का भी छन्द में व्यवहार हुआ है। ऋग्वेद अष्टम मण्डल में “छन्दांसि च दधतो ह्यज्यरेणु” यहां भी “शब्दानां छादनम्” शब्दों का छादन गायत्र्यादि छन्दों से होता है। छन्द एक अक्षरवाले से लेकर बहुत अक्षरोंवाले तक होते हैं। पिङ्गलशास्त्र में इनका विस्तृत वर्णन किया गया है। पाणिनि ने भी “छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति” कहा है। स्थाव्याय और भागम भी वेद को कहते हैं जैसे, पातञ्जल महाभाष्य में “रक्षोहागमलध्वतं देहाः प्रयोजनम्” कह कर भागम को वेदसिद्ध विधा है। निगम वेद को ही कहते हैं। वाल्कले निगमनात् निगम कहा है। मनु ने भी निगमालयाम् कह कर वेदवाचकता कही है। भागवत में भी वेदवाचक निगम पद है। यथा ;—“निगम कल्प-सरोर्गलितं फलं शुक्रमुखादमृतदधमयुतम्। विवृत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका शुधि भावुकाः”। निगम-वेदरूपी कल्पवृक्ष से निकला हुआ भागवत है। मन्त्र भी वेद को कहते हैं “मन्त्रवाहणयो वेदनामधेयम्” मन्त्र किसे कहते हैं तो “रूपयोऽपि दार्पणानां नान्तं यान्ति शृणुत्वदाः। लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपरिचयतः ॥” मन्त्रः मनतात् मननोर्मुन्यः। इस से सिद्ध होता है कि मन्त्र के बिना आप्यादिक,

आपिदैविक और आपिभौतिक ज्ञान नहीं होता है। “यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामपत्यमिच्छन् स्तुतिम्ययुङ्क्ते तदैवतः समन्त्रो भवति” जिस कामना से जिस देवता में अपनी अभिलाषा की इच्छा करता हुआ स्तुति करता है उस देवता का वह मन्त्र होता है। मन्त्रों के निम्नलिखित भेदशास्त्र में वर्णित हैं—“ह्रीं विध्यर्थवाद याज्ञाशीः स्तुतिप्रै-
प्रयाहिकः । प्रनो व्याकरणं तर्कः पूर्ववृत्तानुकीर्तनम् ॥ अवधारणं चोपनिषद्
वाक्यार्थन्तु प्रयोदश । मन्त्रेषु ये प्रहस्यन्ते व्याख्यातृधुतिबोदिताः ।” ये
मन्त्र जिस में रहते हैं उसको संहिता कहते हैं। संहिता के पाठ में
आठ विहृति हैं यथा ; “जटा, माला, शिखा, छेत्ता, ध्वजो, गगनो, रयो,
धन इति अष्टा प्रहृतयः प्रोक्ताः कर्मण्यं मनोविभिः” इस प्रकार समग्र
वेदों का अध्ययन करना विधि है। वेद वृत्तशः अधिगन्तव्य है अर्थात्
समग्र वेद पढ़ना चाहिये। मनु ने कहा है :—“पट् त्रिंशदाब्दिर्वैश्वं
गुरोस्त्रैविधकं व्रतम् । वेदानधीत्य वेदान्वा वेदन्वाऽपि कथञ्चन”
इत्यादि ।

वेदार्थ में शासनात्मक होने से निरुक्त कहा गया है। निरुक्त का
प्रयोजन वेदार्थ को स्पष्ट करना है। यह निरुक्त शास्त्र वेदरूपी सागर
में ध्यात था वहीं से आनुधविक हुआ। ब्राह्मणग्रन्थों में यह अङ्कुरित
हुआ है, निदानग्रन्थों में परलपित हुआ है। हमी को यास्काचार्य ने
काण्डप्रयात्मक निरुक्त और पञ्चाध्यायात्मक निषण्ड में प्रथम कर
प्रकरण किया है। निरुक्त के प्रथमाध्याय में ग्रन्थ की भूमिका निषण्ड
निर्णनादि का दूसरे तीसरे अध्याय में निर्वाचन का प्रकार भादि कह
कर निषण्डक काण्ड बतलाया है। चौथे अध्याय में एक पदी

आख्यान कर नैगमकाण्ड और पीछे के छे अध्यायों में देवताओं का वर्णन कर देवतकाण्ड बताया है। आगे देवस्तुति को लेकर आत्मतत्त्वों का उपदेश किया है। निरुक्त एक प्रकार निघण्टु का ही भाग्य है। किन्तु उसमें सब नामों का निर्वचन नहीं किया गया है। जैसे; निघण्टु में आया है, पृथ्वी के २१ नाम हैं किन्तु उसमें एक गोशब्द का ही निर्वचन बताया है अन्यान्य नामों का कोई निर्वचन के लिये उल्लेख नहीं किया है। अन्य नाम निघण्टु में विनादीकरण किये गये हैं वहाँ गो शब्द एक निरुक्त के प्रकार का सूचक है। निरुक्त में वेद के तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है; जैसे; “पुरुष विद्या नित्यत्वात्कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे” मनुष्यों में ज्ञान की अनित्यता के कारण कर्म की सम्पत्ति वेद में केवल मन्त्रों का ही निर्वचन नहीं किया गया है अपितु, धर्मशास्त्रों में भी जो शब्द आये हैं उनका भी निर्वचन किया गया है। गो शब्द के निर्वचन में पयः और क्षीर शब्द का भी निर्वचन है लोक और वेद में शब्दों की सामान्यता दिखाई गई है, जैसे “यत्त्वादि पद जातानि नामाभ्यातोपसर्गनिपातानि”।

नाम, भाष्यात्, उपसर्ग और निपात ये लोक और वेद दोनों में आते हैं। विस्दार्थ प्रतीत होनेवाले मन्त्रों का तात्पर्य बतलाया गया है। जहाँ पर वेद के अर्थ में भागंका होती है वहाँ पर सिद्धान्त करके बतलाया है। जहाँ जहाँ संहिता के भेद से मन्त्रों में भेद आया है, वहाँ वहाँ निर्वचन की विधि से ठीक कर दिया गया है। पद संहिता में शब्दों का निर्वचन बताया है। जैसे, सूर्यः सूर्य + उर्यः, जिसका अर्थ संगति नहीं होती है उसका भी अर्थ बताया है। “मित्रं प्रमीयते श्रायते समिन्यागो प्रमीतीति

वा मित्रं", मित्रमिति अनवगृहीतं मित्रम् । इसी प्रकार पुत्र दो शब्दों को एकत्रिण करके बनाया गया है । "पुरु ग्रायते नियमाद्वा पुं नरकात्प्रायते इति पुत्रः" । वेद की व्याख्या में प्रामाणिक ऋषियों के मतमतान्तर से जहाँ व्याख्या हुई है वहाँ पर त्रिनिगमन करके व्याख्या देसना निरुक्त का ध्येय है । जैसे, ऋक् संहिता का पदकार शाकल्य, सामवेदीय संहिता का गार्ग्य ये दोनों वेदव्याख्यान करने में प्रमाणमूल माने गये हैं, यथा ऋक्संहिता में आया है "यदिन्द्र विश्व मेहनाऽस्ति" यहाँ दो पद बताये हैं ; मेहनं, मंहनोयं घनं, अस्ति या तीन पद भी किये हैं म इह नास्ति । एक ही मन्त्र दो संहिताओं में आने से संहिता भेद से पाठ भेद किया गया है अनः पाठ भेद होने पर भी समानता ही माननी चाहिए । जहाँ पर एक ही नाम कालभेद और देशभेद से कुछ विभिन्न प्रतीत होता है उसका भी निरूपण से समाधान निरुक्त में किया गया है :—जैसे, आर्जिह्यायां विषाद् पूरे समय के उसजिरा विज्रामाया आदिशब्द मन्त्रों के बीच भी मन्त्रोपकार दिग्गये हैं । जैसे, शपथ और अभिराव तथा किसी भाग्य की परिदेवना, निन्दा और प्रशंसा । इस प्रकार उपासक प्रकरण से ऋषियों ने मन्त्रों को देखा है । निरुक्त में यह भी स्पष्ट किया है कि मनुष्यों ने तब प्रभाव से आर्गन्व प्राप्त किया है । वेद मन्त्रों को गृहार्थका का परिज्ञान तबम्पा में होता है । इसकी योजना इन प्रदर्शित मन्त्रों में होती है "नृचोऽग्रे परमे व्योमन् अग्निमिदेवा अजिहिने निजदुः सन्नाय वेदहिम् वाचरित्यभि" इसी प्रकार मन्त्रों में देवता का निर्णय करना भी मुख्य है किम मन्त्रका कौन

देवता है ? यथा, “शाकपूणिः सङ्कल्पयाज्ञके सर्वा देवता जानामीति” शाकपूणि ने सङ्कल्प किया कि मैं सब देवताओं को जानता हूँ। इस पर उसके समक्ष उभय लिङ्ग देवता प्रगट हुए वह उन्हें पहचान न सका। तब एक मन्त्र से उसे उपदेश किया गया। निरुक्त शास्त्र ने देवता के दिशदोकरण को दैवत काण्ड में बताया है। निरुक्त ने वेदों में विज्ञान भी प्रदर्शित किया है। यथा “दिवं जित्वन्त्यग्रयः” याज्ञिकाचार्य ने इस मन्त्र की वैज्ञानिक व्याख्या की है कुछ प्रचलित व्यवहार भी दिखाये हैं। “देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते” और सपुत्र की प्रधानता भी दिखाई है। “भान्योदर्यो मनसा मन्द्रवायुः” दूसरे गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र को मन से भी अपना पुत्र न समझे। पुण्य एवं पाप भी दिखाया है “अस्त्यस्मात् ब्रह्मचर्यमध्ययन तपः कर्म च” हम पर पाप नहीं लगा सकता है उसका कारण है हमारा ब्रह्मचर्य, तप, दानशीलता एवं वेदाध्ययन यह निर्देश किया है। देवताओं की पुरुषाकार चिन्तना भी निरुक्त में दिखाई गई है। ईश्वर का भी ज्ञान हस्त में बताया है। ईश्वर सब भूतों की रक्षा और इन्द्रियों की भी रक्षा करनेवाला है “तन्त्वोपनिषद् पूर्णं पृच्छामि” इस पुरुष शब्द के निर्घटन में ब्रह्मज्ञान बताया है।

निरुक्त तीन काण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम काण्ड नेघण्टुक काण्ड है; इस में ३ अध्याय है इसको पूर्वपट्टक कहा है। इस में पहला प्रकरण “समाग्रायः समाग्रातः” आया है; गवादिशब्द से देवपत्नी पर्यन्त शब्द समुदाय को समाग्राय कहा है उसका व्याख्यान अर्थात् यह नाम; आख्यात, उपसर्ग निपात, सामान्य लक्षण, विशेष

लक्षण, एकार्थबोधक अनवगत संस्कारबोधक अभिधान, अभिधेय मर्यादा का व्याख्यान इस में हुआ है। इस में यह बताया गया है कि यह महान् प्रयत्न एक अभिधान अनेक धातु के निर्वचन के रूप में कहा गया है। निरुक्त का सिद्धान्त है कि नाम सब आख्यातज है निगमन, समाहनन और समाहरण यह तीन प्रकार की क्रिया निघण्टु में है। चार पद की जाति (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) में नाम और आख्यात अन्य निरपेक्षता से अपने अपने अर्थ को प्रगट कर सकते हैं। उपसर्ग-निपात दूसरे शब्द के मिले बिना सार्थक नहीं हो सकते हैं। भाव की प्रधानता नाम में और सत्त्व की प्रधानता आख्यात में है। भावप्रधान आख्यात क्यों कहा है? क्रिया की कोई मूर्ति नहीं है। वह क्रियाकारकों के साथ अभिव्यक्त होकर दीख पड़ती है बिना कारकों के सहयोग के क्रिया नहीं दीखती। जैसे, 'ओदनं पवति देवदत्तः' यहाँ ओदन क्रिया का व्यापार है, कहा भी है :—“न्रियावाचकमाख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते श्रीनघपुराणान् विद्यात्कालतस्तु विशिष्यते” गौरवः पुण्यो हस्ती” आदि से सत्त्वों को उपदिष्ट किया है। “आस्ते शेते मज्जति” आदि से भाव बतलाया है। उस में “मनुष्यवद् देवताभिधानं”, देवताओं के नाम भी मनुष्यों की तरह होते हैं परन्तु “पुण्यविद्यानित्यत्वात्कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो चेदे”। भाव का निर्वचन है “भवतीति भावः। भावविकार छे बताये गये हैं जायते अस्ति विपरिणमते, वर्धते, अपशीयते विनश्यति आदि। इस प्रकार नाम और आख्यात की व्याख्या की गई है।

निपात स्या उपसर्ग ऊंचे नीचे अर्थ में, उपमा में और पादपूर्ति में

भी आते हैं। अपि शब्द सोमा के अर्थ में, एव विनिग्रहार्थ में और त्व को कहीं अर्पणाम और कहीं सर्वनाम कहा है जैसे, “अृचान्त्वः पोषमास्तं पुपुष्वान् गायत्रन्त्वो गायत्री शक्रीषु। अह्मा त्वो वदति जातविधां यत्तस्यमार्था विमिमोक्त उत्वः” ॥ यहाँ पर त्व शब्द एक का वाचक है। ऋत्विक् के कर्म में इसका विनियोग कहा है। दूसरे मन्त्र में निपात के उ और त्व का प्रयोग बताया है। विद्या सूक्त में एक मन्त्र आया है “अक्षयन्तः वर्णवन्तः सखायो मनोजवे श्वसमावभृतुः। आदध्नातः उपकक्षातः उ त्वेहदा इव आत्मा उ त्वे ददक्षे” यहाँ पर तु और त्व का प्रयोग बताया है। मन्त्रार्थ इसका यह है :—

समान इन्द्रियोंवाले अर्थात् समान शास्त्र को पढ़ें। तुम मनुष्य अपने मन की कल्पना करने में एक सिद्धान्तपर नहीं आसकतें हैं। इस में सरोवर का दृष्टान्त देते हैं, सरोवरमें जैसे जो जितनी गहराई में खान करने गया वह उतना ही पहुँच सका और उसीका ही उसने वर्णन दिया। निरुक्त में आता है :—

“स्थानुरपं भारदारः किलामूदवीर्यं चेदं न विमानाति योऽर्थम्। योऽर्थः इत्यकलं मदम्मनुतं नाकमेति ज्ञानं विधूतं पाप्मा”। यद् गृहीतमजिज्ञातं निगोदनेव शक्यते अनप्रापिव शुष्केषो न तज्जलति कश्चिन्।

येंद पद कर उसके अर्थ जानने की यद्गत ही आवश्यकता है क्योंकि अर्थज्ञान न होने से केवल भारवाही हो होता है वेदार्थ जानने से ही तज्जग्य श्रेय का मनुष्य अधिकारी होता है।

तीसरे पाद में यदुनाम और हस्वनाम का निर्बन्ध दिया है। एतुं पाद में णकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द का

विवरण किया है। अनवगत संस्कार हुए शब्दों का भी इस में वर्णन किया है जैसे जहा, जघान, उनके यह लक्षण है “तत्त्वं पर्याय-शब्देन व्युत्पत्तिशब्दयोरपि”।

चतुर्थपाद में “अर्घतिरुमांणो उत्तरेधातवः” पूजा के कर्म में, इस में मेधाविषों के नाम की भी गणना की गई है “विं प्रथीमंघावी” उनका निर्णयन भी बतला दिया “मत्तौ धीयते इति मेधा”।

दूसरा नेगमकाण्ड :—

इस में एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द बताया गया है। जैसे ; विस्तीर्य हि तमज्ञानमृषिः संक्षेपनोऽमरीन् इत्यं हि विदुर्वा लोकं समासध्यामधारणम्”जे से ; एकार्थ में अनेक शब्द ; एक अर्थ पृथिवी है और इस में अनेक गयादि शब्द आये हैं साथ ही अनेक जो गयादि शब्द हैं वह एक पृथिवी के अर्थ में आये हैं। यथोक्तम्—
“सत्त्वपर्यायशब्देन व्युत्पत्तिष्व द्वयोरपि । निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नेगमेपदे । अर्थात् नेगम में एक पदादि और अनवगत संस्कार पदों का वर्णन किया गया है। इस प्रकरण में अनवगत संस्कार पदों का निर्देश किया गया है। यथा, “शब्दरूपः पदार्थश्च व्युत्पत्तिः प्रवृत्तेर्गुणः” वहीं पर एक पद के भी दो पद किये गये। जैसे ; पुण्याद्, एक शब्द और ‘पुण्यानदनाय’, जैसे ; तिनड शब्द का नेगम परिचयन हुआ तुल्यद्वा, तुल्यप्रश्नद्वा, तुल्यपद्वा ।

“मत्तुमिव तिनडना पुनन्तो यत्र धीरा मनसावाचमत्र ; गन्तुः कः सफेत्तौ संश्लिष्यन्ति अणि ततः सुधांषो भवन्ति । जेगे, एयीने यह अनवगत है अनेकार्थ होने से इसका अर्थ गूने या “सूपने” एक

जगह अर्थ हुआ सूगते अच्छी गति में और दूसरी जगह अर्थ हुआ : देवदत्तः पुत्रं सूयते” । ‘अकुवार’ यह अनवगतसंस्कार है । “अकुपार का निगम अकुर्वाण जैसे, मन्त्र में आया है “विद्यामतस्यते वयमकुपारस्य दावने” अकुपार का अर्थ हुआ अकुस्तिस्तस्य पूर्णस्य । जैसे, जानी शब्द अनेकार्थ वाचक हुआ “आघाता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृययज्ञजामि” वहां जामि शब्द अनेकार्थवाचक है जामि शब्द का अर्थ मूल भी है और भगिनी भी । यहां पर भी जो है वह उपजन है । वैसे पिता शब्द अनवगतसंस्कार है इसका अर्थ है पाता, पालयिता जैसे घुलोक के वर्णन में आया है “घौमें पिता—चतुर्थ पाद इस में अदिति शब्द आया है यह अनवगत संस्कार है इसका अर्थ अदिति अदीना निरुक्त के पक्ष में हुआ और इतिहास के पक्ष में देवमाता बना ; जैसे, मन्त्र आया है, “अदिति घौरदितिरन्तरिक्ष ७” इस प्रकार एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द और अनवगत संस्कार शब्दों का वर्णन आया है ।

पञ्चमपाद—

धाराह शब्द—अनवगत संस्कार अनेकार्थ है, जैसे ; मेघ को भी धाराह कहते हैं, वरं उदकं आहारं यस्य स धाराहः इसलिये मेघ का भी इस में निर्वचन हुआ । वरं वरं मूलं वहति उदपच्छति धाराहः धाराह इन्द्र को भी कहते हैं । जैसे, ‘ज्वसराणि’ यह भी अनवगत है इसका निगम हुआ, “स्वयं साराणि” अर्थात् दिन जो स्वयं चलते हैं । स्व आदित्य का नाम है यह स्व को चलता है । अनेकार्थ जैसे, अरुं शब्द है यह देयता का वाचक है अरुं अन्नं अर्पति भी होता

है अन्न से देयता का अर्चन किया जाता है। “आपातमन्यु” यह शब्द अनवगत है और अनेकार्थ है इसका अर्थ हुआ आपातित मन्युः”।

“उर्यरी” यह शब्द भी अनवगत है यह अप्सरा के अर्थ का वाचक है उस महान् अस्याः वशः कामः सेयं यतति सतीत्युच्यते अप्सरा का अर्थ है अप्सरारिणी भवति अपः प्रति निरयमेव सरति तस्य प्रियमुदकं तस्माद-
प्सरा इति”।

“गुह्यं” यह शब्द भी अनवगत है अदि चक्र को कहने हैं यह पूने से ही मुख होता है।

निधुम्पुनः—यह अनेकार्थ है और अनवगत है “अपांजमिनिधुम्पुनः” इससे सोम का, समुद्र का और अग्नि का भी अर्थ है भीषेरन्मिन्कु-
णन्ति शब्दं कुर्षन्ति यज्ञपात्रं दधतीति निधुम्पुनः।

वृकः—यह भी अनवगत और अनेकार्थ है। वृकः चन्द्रमा को भी कहते हैं। श्रुत्येद मे—

“अस्यां मानहृद् वृकपथापतं ददर्ग ह। अरण आरोचन मानहृद्
अर्द्धमागानी च बर्ता—चन्द्रमा प्रकाश करनेवाला सम्बन्धर मान पक्ष
का बनानेवाला। मूर्ध को भी वृकः कहा है “यद् आगृणते” यह अन्ध-
कार को दूर देता है। श्रुत्वाग्र—“अतोहवीश्वरिणा वर्तिता वातामनो
परातीममुख्यं वृकस्य”।

गोपः—यह भी अनवगत है जोपयितव्यम्, विप्रापयितव्यम् “य इन्द्रागो
एतेषु वा स्तरन्तेनृतावृधा जोपपाकं बद्धः यद्रोहिताम देवा भगवन्मन”।

स्मिन्—अनवगत—किं तत्रास्ति, इह शब्द की अनुवृत्ति के अनुसार
स्यात्—अनवगत है—स्यात् किञ्चो भवति त्वं द्रव्यं इति इह आभिप्राय

भवति सं हन्ति वा—इस प्रकार इस अनवगत की व्युत्पत्ति की है। या कृतं विचनोति देवने” मेघ का भी कितना कहा है। इस प्रकार अनेकार्थ में आया है।

“दृश्य—उसी यह शब्द भी अनवगत है। दृश्य—दुर्षिय पापणि ऊर्मी उमी उर्गोति आच्छादनार्थ में आता है प्रायः उदात्त स्वर प्रकृतिवाले नाम हैं अनुदात्त प्रकृतिवाले निपात हैं। उदृष्यमाण अनवगत उपगम्यमान निर्वचन हुआ। कूटस्य चर्पणि यह अनवगत है। कूटस्य कृत्यस्य चर्पणि—चापयिता—द्रष्टा।

क्षय—अनवगत वज्र का नाम है। क्षामयिता क्षातयिता वा। कैपयः कपयम्—पापकारि प्रायश्चित्तेन पुनाति “कपयमेव दुष्पूरमेव कर्म चक्रे”।

अं सप्रम्—अनवगतम्—अं हसः श्राणं यह निर्वचन हुआ इससे धनुष या कवच का अर्थ निकलता है। कवचं—कु अञ्जितम् कुटिकमञ्जितम् आहावः आहावनाम इस प्रकार अनवगतार्थ अनेकार्थ शब्दों का निगमन किया गया है। जर्भरि तुर्फरी अनवगतार्थ शब्दों का भी निगम जर्भरी हिंसा करने को तुर्फरी नृसि के अर्थ में आता है। उपलप्रक्षिणी अनवगमे—इसका अर्थ उपलेषु प्ररोपणी यह निगम हुआ।

पाय शब्द जलवाचक इसका निगम पानात् सप्रवा सर्वतः पृथुः।

धायन्त इति अनवगत इसका धायन्त यह निगम “धायन्त इव सूर्यं विरोदिन्द्रस्य भक्षत।

भमरः—अनवगत इसका नियम अमृद।

सोमानं—अनवगत इसका सोतारं निगम हुआ।

देवत काण्ड—

वेद की सम्पूर्ण कोलाहलों में जो गुणवाचक पद हैं उनकी व्याख्या निघण्टु और निगम एक पद में की गई है। अतएव वेद जिनमें देवताओं की स्तुति की गई है वे देवत काण्ड में बताये गये हैं। “तद्यानि नामानि प्राधान्यं स्तुतीनां देवतानां तद्देवतम्” जिन नामों में देवता की प्रधानतया स्तुति दिगाई गई है उसे देवत काण्ड नाम से यास्काचार्य ने कहा है। यथा, यस्मात् कर्त्तव्येषां देवताया माध्वस्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुक्तं तद्देवतः । तन्मन्त्रो भवति । तास्त्रिविधाः श्रुतः परोक्षश्रुताः प्रत्यक्षश्रुताः आध्यात्मिकरम्यम् । तत्र परोक्षश्रुताः स्यान्निर्गोमयिभक्तिमिषुज्यन्ते प्रथम-पुण्येभ्योऽप्यतएव” निघण्टुक और निगम काण्ड में जो शब्द आये हैं वे प्रायः मन्त्रों में देवता के ही सम्बन्ध में हैं किन्तु उन सब मन्त्रों में देवता का स्पष्टीकरण न होने से यह देवत प्रकरण यहाँ से प्रारम्भ किया गया। जिस प्रयोजन की सिद्धि के हेतु श्रुति जिन मन्त्र से जिन देवता की प्रार्थना करता है उस मन्त्र का यह देवता होता है। देवता के ही प्रसाद से प्रत्येक प्रयोजन सिद्ध होता है, केवल मानवीय भाविभौतिक पुरुषार्थ से ही कार्य की सफलता सम्भव है। वेदिक संस्कृति का अनादर करना है। गीता में भी कहा है “दृष्टान्मोघान्दि वो देवाः दास्यन्ते वयं भाविताः । यज्ञ द्वारा भाविन होने पर देवता मनुष्यों के हित को प्रदान करता है।

देवता की स्तुति चार प्रकार से होती है। नाम, रूप, बर्ण और वस्तु यह चार प्रकार की स्तुति वेद मन्त्रों में है। स्तुति के मन्त्र त्रिविध हैं—परोक्षश्रुत प्रत्यक्षश्रुत और आध्यात्मिक।

परोक्षकृत मन्त्रों में सभी विभक्तियाँ तथा प्रथम पुरुष के एक वचन में आख्यात आता है “परोक्ष प्रिया हि मे देवाः” देवता परोक्षकृति से प्रसन्न होते हैं ; यथा, “इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः इन्द्रमिव गायिनो वृह-
दिन्द्रे यौतेतृत्सवोयेविषाणा इन्द्राय साम गायत” इत्यादि परोक्षकृत मन्त्र-
सम्पूर्ण विभक्तियों में आते हैं ।

प्रत्यक्षकृत मन्त्रों में सर्वनाम और मध्यम पुरुष आख्यात आता है, “त्वमिन्द्र ! यकादधि विन इन्द्र मृषो जदि” । हे इन्द्र तुम सबसे बलवान् हो तुम तेज को धर्पण करनेवाले हो ।

सर्वनाम उत्तम पुरुष आख्यात योग से आध्यात्मिक मन्त्र आते हैं यथा “अहं एवे निर्घणभिध्वराम्यहमादित्यैस्त विश्वेदेवैः । अहं मित्रावरणो
भा विमर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमग्निवर्गोभा” याणी देवता स्वयं कहती हैं, मैं
रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वामित्र मित्रावरण के साथ स्तुति रूप में आती
हूँ और इन्द्राग्नि देवता को हविष्य में धारण करती हूँ इत्यादि । परोक्ष-
कृत और प्रत्यक्षकृत वेदों में अधिक हैं आध्यात्मिक संक्षेप में आये हैं ।
कहीं स्तुति रूप में कहीं आशीर्वाद रूप में ये मन्त्र आते हैं कहीं शाप के
रूप में भी । एक समय किसी ने वशिष्ठ को कह दिया “अघा मुरोय
मातुधानो यदिअस्मि”—अघा स गीरेदंशभिर्वियूया यो मायावो
मातुधानेत्याह” वशिष्ठ ने कहा यदि मैं राक्षस हूँ तो
अभी मेरी मृत्यु हो जाय अन्यथा जिसने क्रोधोत्तम में मूँदे ही मुझे
कलङ्कित किया है वह अपने देश सन्तान से वियुक्त और शोकग्रस्त
हो जाय ।

निन्दाप्रणवा परक भी इस प्रकरण में मन्त्र आये हैं “मोधमन्द

विन्दते अप्रचेताः सत्यं व्रथीमि वध इत्स तस्य नार्यमणं पुष्यति नो सत्यायं
केयलाघो भवति केयलादी” ।

जो भक्त मिय धान्यव को न देकर स्वयं खाता है वह पाप को पाता
है । गीता में भी लिखा है “भुजते ते स्वयं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्”
जो मनुष्य भक्तिधि आदि कियो को दिये बिना भक्त स्वयं ही खा लेता है
वह पापी है इसो प्रकरण में द्यूत की निन्दा एवं कृपिकर्म रूप यज्ञ को
प्रशंसा की है ।

“अर्क्षमां दीप्यः कृपिमितृणस्य वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः” ।

द्यूत खेलने से बहुत अनर्थ होते हैं । महाभारत में विनाश
का कारण जुआ का खेल हुआ । तुम लोग वित्त लगाकर
खती करो । कृपि परम धर्म है । अतः सभी के लिये यह किसी
जाति, धर्म या धर्म के हों कृपि कर्म स्वयं करने की चेष्टा भगवान्
को आज्ञा है ।

जिन मन्त्रों में देवता निर्देश नहीं हैं वे मन्त्र तिम यज्ञ में विनियोग
किये गये हैं उस यज्ञ के देवतारमक वे मन्त्र हैं “यद्देवतः न यज्ञो वा
‘यगाज्ञ’ वा तद्देवता अस्ति” लेकिनवार भी यह है भक्तिधिदेवता,
‘विन्देयता, यज्ञदेवता इत्यादि ।

यह भी आता है और जातव्य है कि एक देवता की अनेक स्थान
पर भिन्न रूप में भी स्तुति की गई है ।

“महाभारत्यादेयतायाः” “एक आत्मा बहुधा स्तूपते” अग्निमित्रं
यज्ञं इन्द्रमाहुः” “एकं सद्ब्रिशा बहुधा वदन्ति” “पुण्यं पंचेदं सर्वं यद्
भूत यद्यभाष्यम्” ।

निरुक्तकार ने तीन देवता माने हैं :—“तिस्र एव देवता इति नेरुक्ताः, अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्धेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः” पृथिवी का देवता अग्नि, अन्तरिक्ष का इन्द्र या वायु, द्युस्थान का आदित्य ये तीन देवता बताये हैं। आगे कहा है “महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहुनि नामधेयानि भवन्ति”।

यहाँ स्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं भी ज्ञातव्य है जैसे पृथ्वी में मनुष्य पशु आदि रहते हैं इसी प्रकार अन्यत्र भी सम्भन्ना।

अब देवताओं के आकार की चिन्तना आती है “अधाकार चिन्तनम् पुरुष विधाः स्तुः”।

देवताओं का आकार मनुष्यों की भाँति होने से मन्त्रों में आया है “माद्वान्यां हरिम्पामिन्द्र याहि” हे इन्द्र ! दो घोड़ों पर आरुढ़ होकर सोम पान करो” यह आकार चिन्तन है और चैतन्य रूप में है। अपुरुष विध भी स्तुति के मन्त्र आये हैं; यथा, अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी, चन्द्रमा इनका द्विविध देवताओं का आकार माना गया है पुरुषविध और अपुरुषविध। निरुक्तकार यास्क ने “तिस्रो देवताः” बताकर तीन (अग्नि, इन्द्र और आदित्य) बताये हैं साथ ही उनकी भक्ति और साहचर्यों भी दिखाने हैं। किस देवता की स्तुति किस सवन में होती है यह बताया जाता है। सवन तीन होते हैं, प्राथमिक, माध्याह्निक और तार्तीयक। यथा : “अग्निभक्तिन्यषं लोकः” अग्नि पृथिवीस्थान प्रातः सवन यमस्त गायत्री इत्यादि अग्निना भग्यन्ते अग्नि के साथ जो अन्य देवता स्तुति किये जाते हैं ये अग्नि भक्तिनी नाम से निर्दिष्ट हुए हैं। प्रायः अग्नि के साथ इन्द्र, सोम, वरुण, पञ्चन्य ऋतु का संस्तवन आता

है; यथा, “त्यन्नो अग्निं यज्ञस्य त्रिद्वान्-देवस्य देहो व पांसि सौष्टाः
यजिष्ठो यन्निहतमः शोशुधानो विग्राहो पांसि प्र मुमुक्ष्यस्मैत् ।

इन्द्र के साथ जिनका संस्तवन होता है इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान माध्य-
न्दिन सवन प्रीधमर्तुं त्रिदुष् पद्मदशस्तोम है । इसके साथ संस्तवनोप
देवता अग्नि, सोम, यज्ञ, पूषा, नृहस्यति, मरुतस्यति, पर्वत, वृहस्पति, विष्णु और मित्रावरुण है । यथा, ‘इन्द्रा पर्वता नृहता रणेन यामीरिष
भा यदत्तं एषीराः । धीमं इत्यान्यध्वेगेषु देवा यर्धेयाम् गोभिरीरिषया
मदन्ता” इत्यादि मन्त्र संस्तवन में आये हैं ।

अथ आदित्य के संस्तवन का वर्णन आता है “अथैतान्यादित्यभक्ती-
भ्यस्तौ लोकस्त्वृतीय सवनं यथा जगती सप्तदशस्तोमो वैरप्यं ताम ये
य देवगणा समाग्रता उत्तमे स्थामि यागत्रियः अध्याय कर्म रसादानं
रगिमगिष्य रसाधारणम् यद्य किञ्चिन् प्रवृत्तिमादित्यकर्मैव तद्यद्गमता
वायुना सम्यक्स्वर्गे तिर्मस्तवः ।

आदित्य का संस्तवन यन्द्रमा, वायु के साथ आता है । इसी प्रम से
पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक इन स्थानों में श्रुतु, उन्द्र स्तोम का
आयोजन कर देना चाहिए ; यथा दारद् श्रुतु अनुष्टुप् उन्द्र पौराज ताम
ये पृथ्वी के आयतन है । हेमन्त पक्ष प्रियण स्तोम दारदर ताम अन्त-
रिक्ष के हैं । शिजिर-अतिउन्द्र त्रयस्यस्तोम रेवण ताम द्युभक्ति में हैं ।

उक्त क्रिया-कण्डाव मन्त्रों में आया है अतः यही मन्त्र का निवेदन
होना आवश्यक है ।

यदेभिरात्मानमाच्छादयत् देवमृत्युर्विभ्यतः “तच्छान्दसा छन्दत्वम्”
जिन छन्दोंसे देवताओं ने अपने को मृत्यु से छिपा दिया यह छन्द
छादन से है। यजुः यज्यते याज्यन्ते विशेषतया यजु से ही यज
का विधान है। तीन देवताओं में अग्नि को पृथ्वी स्थान
पताया उसका यह तात्पर्य बोधक निर्दशन है। “अग्निः कस्मादप्रणीर्भवति
अपं यज्ञेषु प्रणीयते” — “अग्नि-मीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं
रत्नधातमम्”।

इसो प्रकार जातवेदा का निर्वचन आया है “जातानि वेद वा जातानि
एन विदुः जाते जाते विद्यते इति वा” इत्यादि। इसी प्रकार पैंवानर
का भी—

पैंवानरः कस्माद् विवासाश्रयति विव एन नरा नयन्तीति
‘वा इस’ प्रकरण में आहो पुरोडाश क वर्णन आता है, विवासरीपो
द्वादश कपालो भवति इत्यादि। इसी प्रकार मध्यस्थान द्युस्थान
के देवताओं का सस्तवन उनके नामों का निर्वचन देवत काण्ड में
आया है।

देवत प्रकरण के अनन्तर परिशिष्ट प्रकरण निरुक्त में आया है। इसमें
अग्नि स्तुति के मन्त्र और स्तुत्यहमक मन्त्र आये हैं। तथा अट्यवहार्य
मन्त्र जिनके निर्वचन में प्रकृति प्रत्यय योग का ज्ञान नहीं हो सक्ता
उन्हे बताया है; यथा,—गृण्येव जर्मरी गुफरीत् नेतो मेर गुफरी
पर्फरीका। गुफरी का अवगत सस्कार के शब्दों का व्याख्यान कैसे
किया है—गृणीकी तरह अग्विनी, जर्मरी=पाटन करनेवाले; गुफरी=हवन
करनेवाले; गुफरी=विद्य कार्यकारी। इस प्रकार निगूढार्थ को देवत

प्रकरण में दिखाया है। देवत प्रकरण की व्याख्या वक्ष्यमाण इस मन्त्र में की है।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य, पादा द्वेदीपे सप्त हस्तासोभस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यांश्च आ विवेश" ।

महादेव यज्ञ मनुष्योंको इस स्वरूप में प्राप्त हुए हैं। चारवेद इसके शृङ्गभूत उच्च स्थान हैं। तीन सवन दो क्षीर-प्रायणीय एवं उदयनीय। सप्तहस्त=पात छन्द। त्रिधावद्ध=मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प इन तीन प्रस्थानों में वर्णित। रोरवीति=शब्दस्वरूप प्रगट होते हैं; यद्वा ऋग् यजु और साम से प्रगट हो रहा है।

अन्तमें अक्षर ब्रह्म की स्तुति और उसके ज्ञान में निष्ठा पर मन्त्र में कहा है :—“अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विद्ये निवेदुः । यस्तासु वेद किमुपा करिष्यति य इत्तद् विदुस्तद्भवे समासते” ॥

पर ब्रह्म प्रणव अक्षर के ज्ञान बिना वेद मन्त्रों के केवल ज्ञान से सिद्धि नहीं होती। इस मन्त्र में वेदों का ज्ञान ब्रह्मज्ञान पर पर्यवसान परम लक्ष बताया है। अक्षरे परमे व्योमन् विविधप्रकार के शब्द जाति जिस आकाश में वीथि आवर्ध रूपसे ओतप्रोत है तीन मात्रा अकार, उकार, मकार शब्दजन्य परब्रह्म का ज्ञान जिसे वेद पढ़ने से न हो सका; इस अक्षर स्वरूप में देवता समाये हुए हैं यथा प्रथम मात्रा में अग्नि ऋग्वेद पृथ्वीलोक निवासी; द्वितीय मात्रा में अन्तरिक्ष वायु यजुः और सन्तोष निवासी; तृतीय मात्रा में द्यौ आदित्य सोम तल्लोक निवासी इस प्रकार विविध गुण सम्पन्न अक्षर को जिसने न जाना उम्भका वेदों के अध्ययन मात्र से क्या लाभ? जिम्मा महामात्र ने इसे ज्ञान दिया

उसका ही वेद ज्ञान सार्थक है 'उंकार' एवेदः१.....सर्व—अर्थात् वेदज्ञान ब्रह्मज्ञान पर समाप्त है।

अन्त में कर्मकाण्ड यज्ञ का निष्कर्ष है यथा, हिंसा पुन अहिंसा दो प्रवृत्तियों से उनको दो प्रकार की गति का वर्णन है। ऐसे ही श्रीमद् भगवद्गीतामें प्रतिपादन किया गया है :—“युद्धकृष्णे गती ह्येते जगतः शाख्यते मते । एकया यात्यनां वृत्तिमन्ययाऽऽवृत्तते पुनः” ।

इस पर दैवत काण्ड समाप्ति में विशद वर्णन करते हैं :—“ये हिंसा माश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तेषां चरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्राग्निं रात्रेः पक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षा- हक्षिणायन दक्षिणायनात् पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वायुं वायोर्दृष्टिं घृष्टेरोपध्वंस्यैतद्गत्वा (तस्य सटक्षये) पुनरेषेर्लोकं प्रतिपद्यते ।

अर्थात् जो केवल यज्ञ करते हैं अहिंसा व्रत पालन नहीं करते हैं; मध्य विद्या पर, ध्यान न देकर केवल यज्ञकर्म में लगे रहते हैं वे धूमाद्राग्निं पितृलोक, चन्द्रलोक, वायु आदि में घूम कर दक्षिणायन पथ द्वारा पृथ्वी में जन्म मरण के चक्कर में पुनः जन्म रहे जाते हैं।

४ “अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्या माश्रित्य महत्तपस्तेषां ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽर्चिरभिसम्भावन्त्यर्चिषोऽहं आपूर्यमाणपश्चादुमापूर्यमाणपश्चादुदगयनं मुदगयना देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्यादौ वृत्तं वेद्युतान्मानसं मानसं पुण्यं भूत्वा ब्रह्मलोकमभिसम्भवन्ति ते ॥ पुनरावर्तन्ते शिष्टा दन्दगृहा ॥ इदं न जानन्ति तस्मादिदं श्रेष्ठं यमथाप्याह ।

इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ होकर कर्मकरना वेदों में बताया है ब्रह्मनिष्ठात्मक कर्मकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति होती है आत्मा की उत्कर्षता पर यह मन्त्र कहा है “न तं विदाथ य इमा जजानान्ययुष्माक-मन्तरं यभूव । नोद्देशेण प्रावृता जल्प्या चासुष्टृप उक्यशासश्रन्ति ।

अर्थात् अग्निधारणी अन्धकार से उस ब्रह्म का ज्ञान कटित हो जाता है । जो तपस्या एवं अहिंसा द्वारा वेदोक्त कर्म को करता है उसको ब्रह्मज्ञान से निरतिशयानन्द कैवल्य एतत् की प्राप्ति वैदिक कर्मकाण्ड में बताई है, वेदज्ञान आत्मज्ञान पर ही परिसमाप्त है ।

इसके अनन्तर निघण्टु का समास्राव है जिससे निरुक्त के प्रथम काण्ड में हो “समास्रावः समास्रातः स व्याख्यातव्यः तमिमं समास्रायं निघण्टु आचक्षते निघण्टव्यः निगमान्” निघण्टु अध्याय में वैदिक समनाम व्याख्यात को पृथक् कर बताया है ; यथा, पृथ्वी के २१ नाम पृथक् गौ, रमा, उमा आदि प्रदर्शित किये हैं, पञ्चदश हिरण्य नाम, ऐम, चन्द्रम्, रुद्रम्, इत्यादि ; षोडशान्तरिक्ष नाम अम्बरम्, विष्णु, व्योम इत्यादि देवयन्त्र इत्येक त्रिंशत् यहाँ तक निघण्टु काण्ड निरुक्त हो पृथक् लिखा है इसके रचयिता भी वाल्मिकी ही है “आद्यं निघण्टुकं काण्डं द्वितीयं त्रिंशत् तथा तृतीयं देवतन्त्रेण समास्रावस्त्रिंशत् मतः” वैदिकसमास्राय तीन काण्डों में समाप्त हुआ है ।

मानव संस्मृति का विच्छाद्य वेदों से हुआ है । वेदों में देवता शक्ति, यज्ञशक्ति से अलौकिक चमत्कार संसार के भौमान्तरिक्ष उत्पातों का शमन मानव जगत् में बहिर्मुख दृष्टि से बढ़ने से अनर्ध देवोपद्रवादि भाजने हैं, उनके शासन करने के विधान तथा वैज्ञानिक

गवेषणा शिल्पकला, औषधि, नीति आदि अमूल्य साहित्य का भण्डार अधुण रहता है। सम्पूर्ण प्रकार के मानव हित का उत्पादन वेदों में है जो भारत की एक अनुपम विधि है, जिनके ज्ञान से भारतीय जनता अभ्युदययुक्त, प्रसन्न एवं परहित में निरन्तर लगी रहती थी। ससार में जितने भी भौतिक एवं दिव्य विज्ञान निधि हैं उनका उत्पादन वेदों में ही है।

इस महान् अत्युपयोगी वेदार्थ का ज्ञान बहुत छिष्ट होने से मानवता इस के लाभ से वञ्चित प्रायः हो रही है अतः देवराजयज्व कृत टीका भी साथ में श्री महसदत्त त्रिवेदी, एम० ए० शास्त्री एवं पं० रामनाथ दाधीच साहित्य शास्त्री द्वारा सन्तोषनादि कार्य को सचाररूपेण सम्पादित कर प्रस्तुत की गई है। गुरुमण्डल के सत्त्वावधान में वैदिक विज्ञान की पिपासा पर ध्यान दिया मानवता के एकनिष्ठ परम उपासक श्रीयुक्त सेठ मनसुखराय जी मोर ने। आपने मानवता के हित के लिये वेदज्ञान की सरलता जिससे हो यह विचार कर “गुरुमण्डल” के दशम पुण्य रूप में निरुक्त-निघण्टु का प्रकाशन कर जनता की दीर्घकालीन उत्कण्ठापूर्ण पिपासा को शांत कर भगवान् वेद के अग्रगण्य नियम सुख आशीर्वाद को ग्रहण किया है। जनता इस से लाभ उठाये भगवती पराम्था सेठ जी के इस विद्याविकास यज्ञ को सकल बनाये “सर्वज्ञानाधिकं ब्रह्म” सब दानों में वेद के ज्ञान को विकास करना महान् दान है। ग्रन्थ के सम्पादन में प्रमादादि से यदि शुद्धियाँ रह गई हों तो कृपालु विद्वद्वरेण्य उन्दे उचार लें।

भवदीय—

राजगुरु हरिदत्त शास्त्री

देहरादून

निरुक्त (निघण्टु) का अभिनव संस्करण पाठकों के काकमलों में समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। निरुक्त का यह प्रथम भाग है इसमें केवल निघण्टु समाम्नाय और उसपर पदनिर्घटन एवं निगम प्रतिपादक सुप्रसिद्ध विद्वान् देवराज यज्वा की निघण्टु टीका है।

इस निरुक्त के कतां वेदमार्गप्रतिष्ठापक महर्षिप्रवर श्रीवाल्मीकीय हैं। निरुक्तकार यास्क ने प्रायः चौदह निरुक्तकार गिनाये हैं, जिससे निरुक्त की प्राचीन परम्परा का पता लगता है। जैसे—

औपमन्यव, औदुम्बरायण, वाप्यायणि, गार्ग्य, आप्रायण, शाकपूणि, भीष्मशर्भ, तैटिलि, गालव, स्थौलाण्डीयि, कौप्युकि, कात्थक्य एवं १३ वां स्वयं यास्क और १४ वां शाकपूणि का पुत्र या कौत्सव्य हो सकता है।

निरुक्त में नि० भा० १।१३ 'निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदं' नि० भा० १।२० में निरुक्तं चतुर्दशधा इत्येवमादि लिखकर चौदह निरुक्तों के होने का विवरण दिया है।

१ श्री भगवद्गीता के अनुसार ये चौदह निरुक्तकार हुये जिन्होंने अरुणा-अपना निघण्टु बनाया और उसी पर निरुक्तरूपी व्याख्या लिखी। पितृसु निघण्टुओं के प्रमाण यास्ककीय निरुक्त, महाभाष्य और अनेक वैदिक भाष्यों में मिलते हैं। महर्षि यास्क निरुक्तकारों में सबसे अन्तिम हैं, अतः उन्हें अपने पूर्वजों नेरुक्तों के निरुक्तों से बराबर सहायता मिली।

इसी प्रकार निघण्टु ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी उनकी विविधता के प्रमाण मिलते हैं,

“तान्यप्येके समाम्बन्ति” ७।१५ अमुक प्रकार के देवना पर भी कई आचार्य निघण्टु ग्रन्थों में एकत्र पढ़ते हैं ऐसा लिखा है।

इन्हों परबर्ती, भाषार्यों की अमूल्य सामग्री का संकलन ही यास्काचार्य कृत निरुक्त की लोकप्रियता वैज्ञानिक वस्तुओं है और इसी पर आनेवाले वैदिक विद्वानों ने विद्वत्पूर्ण भाष्यादि लिखे हैं।

फलतः यह असावधि पठन-पाठन के लिये सर्वत्र काम में लाया जाता रहा।

इस निघण्टु के यास्कप्रणीत होने में दो पक्ष प्रचलित हैं।

श्री दुर्गाचार्य, लक्ष्मण महेस्वर, जर्मन पण्डित रोय, प्रोफेसर कर्मकर आदि विद्वान् निघण्टु को यास्क कृत नहीं मानते उनका निष्कृत अभिप्राय यह है कि यह निघण्टु बहुत पहले की रचना है और अज्ञातनामा ऋषि इसके बनानेवाले हैं।

—प्रोफेसर सिद्धेश्वर वर्मा

दुर्गाचार्य-तस्यैषा.....साक्षुनरियं

त इमं ग्रन्थं गवाहि देव—पत्न्यन्तं समाम्नातयन्तः।

अर्थात् उसी निरुक्त का गौ से आरम्भ कर देवपत्नी के अन्त तक अध्यायों में सूत्र-संग्रह है उस पञ्चाध्यायी निघण्टु का संग्रह श्रुतिपियों ने किया।

वहीं नि० ४।१८ भाष्य में लिखा है, श्रु० ५।३।६।२ मन्त्र में “अष्ट-पारस्य दावने” ऐसा पदों का ग्रन्थ है निघण्टु में इसका भी यही मत है—

किं निघण्टु यास्क कृत नहीं है, प्रत्युत कस्यप प्रजापति कृत है। उन्होंने महाभारत के ये श्लोक इसकी पुष्टि में दिये हैं।—

“वृषो हि भगवान् धर्मः स्यातो लोकेषु भारत ।

निघण्टुक पदाख्याने विद्धिमां वृषमुत्तमम् ।

कविर्वाहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।

तस्माद्वृषाकपि प्राह कस्यपो मां प्रजापतिः ॥

अर्थात् कस्यप प्रजापति ने जो निघण्टु रचा है उसमें मुझे वृषाकपि रूपमें बताया है जिसका अर्थ है श्रेष्ठ धर्म ।

श्री पदकृष्ण बेल्लेक्कर ने लिखा है :—

The fourth Adhyaya of the lists of Vedic words called Nighantus, upon which yaska wrote his Commentary called the Nirukta, is styled the “Aikapadipa”, because in it are listed together 278 single words of unknown or doubtful origin.

विपरीत “दायने अद्वयारस्य” ऐसा अनुक्रम है जो स्पष्ट बतलाता है कि निघण्टु सामान्नाय पहले से बड़ी आती परम्परा प्राप्तकृति है ।

२ सामान्नाय शब्देनात्र शब्दादिदेवपत्न्यन्तः शब्दः समूह उच्यते न वेदः । सामान्नातः सम्भूयाभिमुख्येनाम्नातोऽन्यस्तः ग्रन्थीकृत्य पूर्वाचार्यैः पठित इत्यर्थः, अर्थात्—निघण्टु सामान्नाय प्राचीन आचार्यों ने एकत्र किया ।

3—Moreover, of the two remaining books which stand unquestioned in Indian literary history as evidences of yaskas learning, his authorship of one, Nighantu must be denied and the only wonder is

that this was not sooner recognised. अभिप्राय यह है कि भारतीय शास्त्र के इतिहास में यह निर्विवाद है कि निरुक्त एवं निघण्टु यास्क रचित है तथापि यास्क ने निघण्टु बनाया यह नहीं माना जा सकता ।

4—The Nighantu includes तलित् Under अन्तिक नामानि (निघ० २।१६॥) and also under येष कर्माणि (निघ० २।१६॥) following the Nighantu yaska remarks तलदि अर्थात् निघण्टु के चतुर्थ या ऐकपदिक अध्याय में २७८ पद हैं ये पद किसी अज्ञातनामा एक वा अनेक आचार्यों ने इन्हें सन्दिग्धार्थ समझ कर एकत्र किये हैं, अतः यह निघण्टु पूर्वाचार्य का है ।

अब आचार्य भगवद्भक्त प्रतिपादित उपरोक्त पक्ष के विरोध में युक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं जिससे वास्तविक तथ्य ज्ञात हो सके—

१—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निघण्टु की भूमिका में लिखा है—“यह ग्रंथ (निघण्टु) ऋग्वेदी छोगों के पञ्चिष्ठ्य १० ग्रन्थों में है । विशेष कर वेद और सामान्य लौकिक ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है । यह मूल और इसका माध्य निरुक्त यह दोनों ग्रन्थ यास्क मुनिने बनाये हैं ।

२—महिम्नस्तोत्र श्लोक सप्तम की व्याख्या में श्री मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं :—“यत्वं निघण्टुवादयोऽपि वैदिक द्रव्यदेवतात्मक पदार्थ पर्याय शब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव । तत्रापि निघण्टुसंज्ञकः पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः । अभिप्राय यह है कि निघण्टु आदि निरुक्तान्तर्गत ही है यह जो पञ्चाध्यायी निघण्टु है यह भगवान् यास्क रचित ही है ।

३—वेङ्कट माधव ने जो मधुसूदन के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं ऋ० ७।८४।४॥ की व्याख्या में लिखते हैं—

तत्रैक विंशतिर्नामानि काचिद् गो विभर्तीति पृथिवीमाह तस्या हि यास्क पठितान्येक विंशतिर्नामानि । -

अर्थात् पृथिवीवाची गो शब्द के यास्कपठित २१ नाम हैं दुर्गाचार्य ने जो यह आक्षेप किया है कि निघण्टु में दावने अक्षृणारस्य इस क्रम से दो पद पड़े गये हैं । इसके विपरीत निरुक्त में जो निगम हैं उसमें इनका क्रम “अक्षृणारस्य दावने” (ऋ० ५, ३६, २) है । एक ही ग्रन्थकार निगमान्तर्गत क्रम को नहीं तोड़ सकता अतः निघण्टु का कता कोई अन्य है, यह कोई ठीक नहीं । यास्क ने पद्यक्रम को देखकर “अक्षृणारस्य” का निर्वचन किया है न कि और कोई निगमान्तर्गत क्रम से विपरीत ।

“दावने” पद ऋग्वेद में २५ से अधिक-बार आया है यास्क उसका अर्थ मात्र देता है । किसी प्राचीन निघण्टु में ये दोनों पद निघण्टु में उपलब्ध क्रमानुसार ही पड़े गये हों परन्तु यास्क ने निघण्टु का क्रम पूर्वाचार्यों का अनुकरण करते हुए उनमें से ले लिया और व्याख्या में एक ही मन्त्र पर्याप्त समझा ।

आचार्य दुर्गा जिस पाठ से अपने पक्ष की पुष्टि करते हैं वह निम्न-लिखित है :—

“उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे विरमग्रहणायेमं ग्रन्थं समाप्नासिपुर्वेदश्च वेदाङ्गानि च”

“इमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं समाप्नातवन्तः”

इस ग्रन्थ का जिसमें गौ से लेकर देवपत्न्यः तक शब्द हैं समान्मान किया ।

इसके उत्तर में यह कहना है कि निरुक्त के घटनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिन ऋषियों ने निघण्टु बनाया उन्होंने ही निरुक्तादि वेदाङ्गों का भी समान्मान किया । अतः उस आदि निघण्टु पर निरुक्त भी बन चुका था फिर यास्क को उसका व्याख्यान करने से क्या प्रयोजन, अतः समान्मायः समान्मातः स व्याख्यातव्यः इस वचन का दुर्गोक्त अर्थ असङ्गत मालूम होता है वह समान्माय तो तत्तत् ऋषियों द्वारा व्याख्यात हो चुका । इस ग्रन्थ का अभिप्राय निघण्टु सामान्य है अर्थात् निघण्टु शब्द जातिवाची है । शाकपूणि आदि आचार्यों का निघण्टु गो शब्द से आरंभ होता है यह हो सकता है कि उसका भी देव पत्न्यः पद में अन्त हो ।

अतः प्राचीन आचार्यों के निघण्टु प्रचलित थे और उनकी व्याख्या स्वयं उन उन ऋषियों ने बनाई आगे आनेवाले विद्वानों ने भी अपने स्वतन्त्र निघण्टु और उनकी व्याख्या करने की परम्परा प्रचलित रखी ।

अतः यास्क वृत्त निघण्टु और उसका भाग्य का प्रकरण एक ही है । निघण्टु ३।११ में कुछ नाम और कुछ व्याख्या एकत्र पड़े गये हैं ऐसा कई निरुक्त व्याख्याकार मानते हैं ।

दुर्ग को इस पक्ष के मानने में कोई आपत्ति नहीं ।

उपर्युक्त प्रतिपादन से स्पष्ट है कि निरुक्त लोग अपना-अपना निघण्टु स्वयं बनाते थे फिर निरुक्तकार यास्क ने प्रस्तुत निघण्टु बनाकर अपना निरुक्त रचा ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं उठती ।

यूराकपि के उल्लेख से कथ्यप प्रजापति वृत्त निघण्टु की स्थिति है ऐसा सिद्ध हो सकता है परन्तु यह नहीं कि वर्तमान निघण्टु उनका रचा हुआ है।

प्रो० कर्मकर जो यह कहते हैं निघण्टु २१६ में तद्धित् के दो अर्थ दिये गये हैं यास्क उनमें से अन्तिक को ही उचित अर्थ मानता दीप्तता है।

यदि यह निघण्टु का भी बनाये वाला होता तो तद्धित् का यथार्थ न करता।

निघण्टु २१६ में ३३ पद्यकर्मा धातुओं में वियात्, आद्यगङ्गा, तद्धित् ये तीन नाम पड़े गये हैं। कौत्सव्य के निरुक्त निघण्टु में भी हितायायी ३२ पदों में आद्यगङ्गा और तद्धित् ये दो नाम पड़े गये हैं और यह तद्धित् को अन्तिक नामों में भी पड़ता है।

इनके यहाँ पढ़ने का अभिप्राय इनके धात्वर्थ की ओर निर्देश करने का है। यास्क निरुक्त ३१० में इस बात का विशेष ध्यान रखकर कहता है—

“ताल्यतीति सतः”

अर्थात् तादृश करने से ही तद्धित् नाम है। अतः तद्धित् का अन्तिक नाम गौण है। विद्युत् अर्थ में भी तादृश कर्म पाया जाता है। यास्क ने पद्यकर्मा धातुओं में तादृही आख्यान पढ़कर इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है कि जिस धातु से तद्धित् बनता है उसी से तादृही बनता है।

अतः धातुओं में नाम पढ़कर उसके यौगिक रूप को विशेष दिखाना ही प्रयोजन है।

अब जो यह कहा गया कि व्याप्तिकर्मा सात धातु पढ़े गये हैं उनमें दो नाम हैं। निघण्टुकार ने भूलसे इन्हें भी धातु ही समझा था और यास्कने उस भूल को दूर किया।

परन्तु यह भी ठीक नहीं इससे अभिप्राय यह है कि धातुओं में नाम पढ़ कर उनके बौद्धिक रूप को दिखाना ही सर्वथा श्रेय है।

इनके साथ साथ महर्षि यास्क ने प्रमाण से भी दुर्गा, रोध, सत्यव्रत, राजाराम और कर्मकर के उपरोक्त सिद्धान्तों क "अथो ता भिक्षामिः संयुष्य हविषोदपाते इन्द्राय वृत्रमे । इन्द्राय वृत्रपुरे । इन्द्रायो हो मुपे ।" इति । "तान्यप्येके समामनन्ति मूयांसि तु समाम्नानात् । यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत्समामने । अथोक्त कर्मभि ऋषिभिर्देवताःस्तौति वृत्रहा । पुरन्दरः । इति तान्यप्येके समाम्नन्ति मूयांसि तु समाम्नानात्" । ७।१२।

अर्थात् कई नैरुक्त विशेषणों सहित इन्द्रादि देवता पदों का समाञ्चन करते हैं किन्तु फिर भी उनका समाञ्चन करने से अनेक विशेषण बच जाते हैं।

परन्तु इनमें प्रधान स्तुतिवाले (अग्नि आदि) देवता नाम हैं उनका मैं समाञ्चन करता हूँ।

कई आचार्य कर्म से प्रसिद्ध देवता नाम निघण्टु में एकत्र पढ़ते हैं यथा :—वृत्रहा इत्यादि। परन्तु ये भी सबका समाञ्चन नहीं कर सके इसी बचन के व्याख्यात में दुर्ग लिखते हैं "अहं तु न समामने" मैं इन भाषायों जैसा समाञ्चन नहीं बनाता। यास्कने जैसा निरुक्त में लिखा है वस्तुतः ऐसा ही उसका यह निघण्टु है। यास्क के

इस लेख से बढ़ कर इस विषय में अन्य किसी का प्रमाण नहीं हो सकता उससे स्पष्ट है कि यह समाप्ताय, उन्हीं का बनाया हुआ है।

प्रोफेसर वेल्फेडर कहते हैं कि निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में जो पद पड़े गये हैं वे अज्ञात या सन्दिग्ध अर्थ और व्युत्पत्तिवाले हैं। सन्दिग्ध अर्थवाले मान कर ही किसी वा किन्हीं प्राचीन आचार्य या भाषाचार्यों ने ये पद एकत्रित किये थे।

“एतावतामर्थांशानिदमभिधानम्” चतुर्थ काण्ड में अनेकार्थ वाली एक एक पद पड़ा गया है उन्हीं पदों के भाष्य के आरम्भ में यात्काचार्य कहते हैं—“अथ धान्यनेत्रायांन्यनेत्र शब्दानि तान्यतोऽनुमितिध्यासोऽनवगतसंस्कारमेष निगमां स्वैकपदिकमित्याचक्षते” अर्थात् अथ जो अनेक अर्थवाले एक एक शब्द हैं उनका यथाक्रम व्याख्यान करेंगे और अनवगत संस्कारवाले निगम भी पढ़ेंगे। इसको ऐकपदिक कहते हैं। दुर्ग लिखते हैं—अनेक नाम्नाग्येष्व्याचार्या आचक्षते इस काण्ड में ऐकपदिक नाम पहले भाषाचार्यों को भी अभिमत था।

अतः यह स्पष्ट है कि पहले निघण्टुकार भी अपने अपने ग्रन्थों में यह ऐकपदिक काण्ड पढ़ते थे और अपने अपने निरुक्तों में उसका यही नाम रखते थे। अथ देखना यह है कि उन प्राचीन भाषाचार्यों के निघण्टु ग्रन्थों में भी इस ऐकपदिक काण्ड में यही पद पड़े जाने थे या भिन्न भिन्न पद होते थे।

श्री भगवान् दत्त के अनुसार प्रत्येक निरुक्तकार अनवगत संस्कारवाले निगमस्थ पदों को पढ़ता था इसका प्रमाण भी है।

यास्कने स्वात्रम् २।१० को अत्र नामो में पड़ा है फिर यह इसी शब्द को निघण्टु ४।२ में पड़ता है इसकी निरुक्त व्याख्या ५।६ में है यहां यास्क स्वात्रम् इति क्षिप्रनाम यह किसी प्राचीन निघण्टु का प्रमाण देता है इससे साह्य होता है कि स्वात्रम् का धननाम पठ कर भी यास्क के हृदय में यह बात अंकित थी कि इस पद का क्षिप्र नाम भी है।

अतः उसकी अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये यह पद चतुर्थाध्याय में दोबारा पड़ा गया।

यास्क पठित शब्द जो एक काण्ड में आगे हैं प्राचीन शैलियों ने इन्हें सन्निवृत्त समझा था यह कथन भी समीचीन नहीं जान पड़ता। देखिए इस निघण्टु में ४।२ में क्षिप्रिषिष्ट और विष्णु दो नाम पड़े गये हैं इनमें से विष्णु तो पहले भी निघण्टु ३।१७ में यज्ञ नामों में पड़ा गया है परन्तु अन्यत्र नहीं पड़ा गया। यास्क निरुक्त ५।७ में बताते हैं कि किसी प्राचीन आचार्य ने ये दोनों पद विष्णु के नामों में पड़े थे सम्भवतः वह आचार्य औपमन्यव था इससे स्पष्ट है कि क्षिप्रिषिष्ट का अर्थ यास्क से पहले भी ज्ञात था। परन्तु व्युत्पत्ति आदि दर्शाने के लिये यास्क ने ऐकपदिक में पाठ कर लिया। इस ऐकपदिक काण्ड में और भी ऐसे अनेक पद पड़े गये हैं जिनका अर्थ यास्क के पूर्ववर्ती शैलियों को था। अतः ऐकपदिक काण्ड में सब सन्निवृत्त पद केवल अनेकार्थ और निर्द्वन्द्व अपने मत में दिखाने के लिये दिये हैं, न कि और किसी अनिधाय से।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रगट है कि प्रस्तुत निघण्टु यास्क प्रणीत है।

इस विषय पर सम्मान्य विद्वद्गण और प्रकाश डालेंगे तो हमें अत्यधिक प्रसन्नता होगी ।

निरुक्त के इस निघण्टु भाग में ५ अध्याय और ३ कण्ड हैं । पहले तीन अध्याय नैघण्टुक चौथा नैगम और पाँचवां देवतकाण्ड कहलाते हैं । इस समय तक उपलब्ध निघण्टु के संस्करणों में स्वर्गीय डा० लक्ष्मण स्वरूप का सम्पादित संस्करण ही सर्वोत्तम है ।

यह निघण्टु निरुक्तान्तर्गत ही है । दुर्गा और स्कन्द आदि के भाष्यों में निरुक्त प्रथमाध्याय को पष्ठाध्याय कहा है । वे निघण्टु के प्रथम पाँच अध्यायों से आरम्भ कर आगे प्रति अध्याय की गणना करते हैं । सूत्रम दृष्टि से यही प्रतीत होता है कि निघण्टु भी निरुक्त कहलाता था और प्रत्येक निरुक्तकार इसे रचकर आगे व्याख्यान आरम्भ करता था ।

महर्षि यास्क इसके रचयिता हैं—जैसे सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य के उपोद्धान में लिखा है—

यथाध्यायरूप कामऽप्रवात्मकं पृथस्मिन्नाग्ये परनिरपेक्षतया पदार्थं स्थोकस्थान् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तवम् तद्व्याख्यानञ्च समाध्यायः समाध्यायः इत्यारभ्यतस्यान्त्या स्ताद्भाष्यमनुभवव्यनुभयप्रतीत्यन्तैर्द्वांदशानिरध्यायैर्याम्यको निर्ममे ।

महाभाष्य से पहले के बाह्यज्ञान के इतिहास का पता लगाने की अभी तक बहुत कम प्रयत्न हुआ है । डॉ० कुछ योरोपीय विद्वानों ने शोधना में अथर्व कुछ लिखा है जो प्रमाण कीटि में नहीं आता । महा भारत शान्ति पर्यं अध्याय ३५२ श्लोक ७२-७३ में यास्क का उल्लेख आया है—

याम्यको मामृषिरध्यायी नैक यत्नेषु गीतयान् ।

निषिषिष्ट इतिष्ठन्माद् गुह्यनाम धरोद्धम् ॥ ७२ ॥

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिद्वारपीः ।

मत्प्रसन्नादधो नष्टं निरुक्तं ममिजामिवान् ॥ ७२ ॥

इससे यह ज्ञात होता है कि यास्ककाल महाभारत के लगभग तीन शताब्दी के अन्दर रहा होगा । इस पर शंखेष्णा की आवश्यकता है ।

प्रस्तुत निघण्टु के प्रख्यात टीकाकार श्री देवराजयज्वा वैदिक निघण्टु का भाष्य रचनेवाले एक ही व्यक्ति हैं । इनके द्वारा निघण्टु टीका भूमिका में अपने पिता का नाम यज्ञेश्वर आर्य पितामह का नाम देवराज-यज्वा और अभिगोत्र संभव ऐसा लिखा गया है । यह रङ्गेशपुरी पर्यन्त प्राग के रहने वालों डा० च० कुप्यप्पन् राज का मत है कि देवराज सायण के परपत्नी हैं परन्तु देवराज के द्वारा कहीं भी सायण को उद्धृत नहीं किया गया है । डा० लक्ष्मण स्वरूप अपनी निरुक्त की भूमिका में देवराज को भोज, देव और भरत स्वामी को उद्धृत करते हुए लिखा है—भरत स्वामी का समय संवत् १३६० के आसपास है । देवराज को सायण उद्धृत करता है । सायण की धुङ्का का प्रधान अमात्य था जो संवत् १४०० के आसपास राज्य करता था इसलिये देवराज संवत् १३७० के समीप हुआ होगा ।

अन्त में इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन कार्य में हमारे अन्यतम सहयोगी श्री रामनाथ दापीचन्नास्त्री एवं श्री कन्नोकी लालजी मिश्र को हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिनके सतत परिश्रम से यह कार्य मण्डलता पूर्ण रूप से सम्पन्न हुआ ।

वैदिक साहित्य के अन्यतम धर्मात्मा संस्कृत भाषा के प्रचारार्थ निरन्तर प्रयत्नशील उदारमना सर्वगर्भभूत वर्दान्यप्रसू स्वनामधेय श्री मनमोहन राय मोर ने अपने शुभ संकल्प को प्रियात्मक रूप देकर संसार

में अभूतपूर्व आदर्श रक्खा है। शास्त्रमय जीवन द्वारा सम्पूर्ण प्राणीमात्र का विग्व में हित हो इसीलिये गुरु मण्डल के नवम पुण्य के रूप में स्मृति सन्दर्भ जैसे महान लोकोपकारी विद्यालयाय विग्व भर में उपलब्ध स्मृति संग्रह कर संस्मृत जगत् को अमर देन दी है।

आप ही का वैदिक भाषा की महान् ज्ञानराशि का प्रचार येनकेन प्रकारेण भूमण्डल पर हो जिससे सद्भावना, अहिंसा, प्रेम और सत्य की प्रतिष्ठा होकर विग्व में शान्ति की विजयपताका फहराई जाने का स्वप्न है। संक्षेप में अपने जीवन में अधिकाधिक समय को शास्त्र चिन्तन में लगाकर मानव प्राणीमात्र के हित में लग व्याप और पुण्याधों द्वारा सस्ता आराम दाम काम और न्यायसुलभ होकर कर्तव्यारुढ़ हो आपको इसकी बराबर चिन्ता लगी रहती है।

शास्त्रों में भोते लगाते लगाते श्री मोर ने अपने जीवन में निष्कर्ष निकाल लिया है कि इनका निःस्वार्थ प्राणी हित के लिये अधिकाधिक प्रचार हो उनकी दीर्घ काल की संकल्पित भावना ही आज पैदों के महान् ज्ञानराशि को स्फुट करने में खोपान स्वस्व निरक्त के निषण्ण भाग का प्रकाशन आप लोगों के हाथ में आ रहा है इसके बाद क्रमशः तीन त्रिस्तोत्रों में नैषण्ण नैगम और देवतकाण्ड यथा शीघ्र प्रकाशित कर प्रस्तुत किये जायेंगे।

आज्ञा है संस्मृतग्रन्थों उदार शास्त्र ध्यसनी विद्वद्गण एवं गृहस्थ गृन्ध, इस पुण्य कार्य के प्रचाराधों श्री मोरजी की तरह गुणदल से आगे आयेंगे।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में श्री परशुराम कृष्ण गोडे पृ० ५० भावहार-कर प्राच्य शोध संस्थान पूजा के अधीक्षक (क्यूरेटर) महोदय ने श्रुया

कर अंग्रेजी भूमिका लिखकर हमें उपकृत किया उन्हे किन शब्दों में आभार प्रदर्शित किया जाय ।

उन्हे आधुनिक प्रचार युग से दूर साहित्य सेवा की अद्भुत धुन सवार है इतने गुस्तर कार्यभार को संभालते हुए आपने संस्कृत साहित्य की विभिन्न श्रेणियोंवाली लेखों से जो देन दी है वह स्तुहनीय है । यह हमारे लिये कम गौरव का विषय नहीं है । परम गूढ्य धो है गुह्यार्थ पं० हरिदत्तजी शास्त्री विचाररत्न विचालकार धर्मधुरीण महोदय ने प्राक्कथन लिखकर हमें आशीर्वाद से अनुगृहीत किया है यह सर्वेभूतका निज का काम है । गुह्यमण्डल के संचालक के रूप में चिर काल तक पथप्रदर्शन कर आप हम लोगों का गौरववर्धन करते रहें यह परम पिता से प्रार्थना है ।

इस कार्य को शीघ्र सम्पादन करने में हम लोगों के अनवधान पूर्व 'भ्रम प्रमादादि दोषवृत्तान्' जो श्रुतियां रह गई हैं उन्हे कृपालु पाठक शुद्ध भन्ता में दिपे गये शुद्धिपत्र से संशोधन करने की उदारता दिखलायेंगे ।

बल्लदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य, एम० ए०

॥ श्री शिवः शरणम् ॥

निवेदनम्

ब्राह्मणेन निष्कारणं पठङ्गो वेदोऽध्येयोऽज्ञेयश्च ।

.. अत्र सांगयेदाध्ययनं ब्राह्मणस्याध्ययनविधिप्रदर्शनमात्रेणैव नालमपितु परमगम्भीरस्य वेदस्यार्थमवगन्तुं शिक्षादीनि पट्टनानि प्रवृत्तानि साग्यज्यवग्यमधीतव्यानीति ।

वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र विविच्य प्रतिपाद्यते सा शिक्षायधेनुरीये शिक्षाध्याये वर्णस्वरोच्चारणप्रक्रिया विजृम्भिता ।

कल्पस्त्याग्यलायनापस्तम्बचौधायनादिमूयंयज्ञसम्पादनादिकं यत्र विविच्य प्रतिपादितम् ।

ध्याकरणम् पाणिनीयशाकटायनादिप्रणीतम् यत्र प्रकृति प्रत्यय स्वर पद विभक्ति विज्ञान स्कन्दात्मकमुपलभ्यते ।

निरुक्तम् अर्थावयोषे निरपेक्षतया पदज्ञातं यथोक्तम् तन्निरुक्तम् ।

छन्दोपन्था यत्र छन्दानां व्याख्या छन्दरचनाप्रकारः छन्दजाति-विज्ञानम् ।

ज्योतिषम् पक्षकालार्थे सिद्धये कालज्ञानम् येन भवति तज्ज्योतिषम् ।

तानीमानि निर्दिष्टानि पट्टनानि येषामध्ययनं स्वयमेवं वेदविदि-निगदिनम् ।

तत्रेयं विचारणा स्वभावतः प्रसरति नेघण्डुक निरुक्तयोरन्यतरः
कोनामः षडंगत्वेन परिगणितः ।

यद्यपि नेघण्डुनिरुक्ते यास्कान्वार्यस्यैव कृतिः तथापि निघण्टोः
समाप्त्या निरुक्तद्वितीया पूर्वमासीदिति तद्वचनाया तत्तद् भागादि-
प्रवर्तन विशेष निर्धारणया ज्ञायते निघण्डुनाम विक्रीणानाम् पदानामे-
कीकरणम् यथा कृत धर्माणो ऋषयोऽमृषुः ।

पुराकाशमण्डले विक्रीणानां शब्दानामक्षरराशीनां स्वात्मबल-
विकाशेन प्रत्यभिज्ञया साक्षात्कृत्य एकत्र ग्रन्थनकरणेन निघण्डुकामिद्वानं
वर्ण शब्दराशीप्रथमं कृतवन्तः ।

पुराकाले विक्रीणां एव मन्त्रा ततो चन्धीभूतानामेव तेषामध्ययना-
ध्ययनतः शाखासमुद्भूता ततः सर्वशाखागतानिनेघण्डुकपदानां
सुसंविधानम् ।

निघण्डुनामको ग्रन्थो भगवता यास्केन समाप्तः ततश्चाग्रेणार्थ-
पन्थार्थस्योपनापरितमास्तैलक्षमन्त्रागतानां पदानाम् तात्पर्यपेक्षया
माह्वणग्रन्थसमाप्ताः । माह्वणग्रन्थेऽपि मन्त्रार्थपरिज्ञानं माह्वणमिति मत्वा
निरुक्तादीनि वेदाङ्गानि समाप्ताण्यनि तद्य निरुक्तम् धोत्रमुच्यते ।

निरुक्तादिते वेदज्ञानं श्रुतिप्रथमसमन्वयमानः

निरुक्तम् धोत्रत्वेन शब्दस्य दुष्टाहम् चकार ।

मन्त्रकाले कृतधर्माणो ऋषयोऽमृषुः ते अत्रेभ्यः भगवताऽज्ञान-
धर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । तत्राद्यं निरुक्तमन्यसूयम्
निघण्टुम् माह्वान् यास्कः प्रथमम् रचितवान् निघण्टोऽभाष्यसूयम्
समाप्तायः समाप्तायः गणादिदेव पत्यन्तम् निरुक्तमाचरितम् यास्केनेति ।

निरुक्तं नामैदमंगमारभ्यते प्रधानं चेदमितरेभ्यः निरुक्तस्य वेदाङ्गेषु
 प्रधान्यत्वं स्यादितम् । तत्र निघण्टुनिरुक्तयोः द्वयोः वेदाङ्गत्वं
 तस्यैषा गद्यादिदेवपत्न्यन्ता वज्राध्यायी—

सूयसंप्रहः सचपुनरिषं

छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः ।

नामानि यानि गुह्यानि निरुक्तानि च भारत ।

ऋषिभिः कथितानिह यानि सर्वाणि तानि च ।

(महा० भा० १-१-२२१)

इतीमानि नामाभ्यातोपसर्गनिपातानि तत्र नामाभ्याभ्यातजानीति
 शाकटायन गौरवः समयश्च, निरुक्तं लक्षणम् बहुत्वं दृश्यते—

वर्णांगमो वर्गविपर्ययश्च द्वौषापरौ वर्गविचारनाशौ । धानो-
 स्तदेषांतिशयेन योगमन्यदुच्यते पंधविधं निरुक्तम् ।

पदानां निर्वचनं निरुक्तम् । निर्वचनप्रकारश्च निरुक्तादेवावगम्यते । तत्राति
 परोक्षवृत्तिः, परोक्षवृत्तिप्रत्यक्षवृत्तिरूपानि विज्ञेयानि भवन्ति, तानि नामानि
 विचारणीयानि भवन्ति—यथा—परोक्षं प्रिया हि वै देवाः । तथापि
 नामाभ्याभ्यातजानि सर्वाणि इत्येके इत्यादीनि पृथक्पदानि निर्मुखात् ।
 विज्ञेयानि नामाभ्या-तोपसर्गं निपातं लक्षणोद्भूतयो निरुक्तज्ञास्य चिन्तनीय
 विषयाः । एषा गद्यादिदेवपत्न्यन्ताः । निघण्टुस्तु शब्दभ्रमाम्नाप-
 रिवयः शब्दबोधः तथाचोक्तं निगमा निघण्टवः निगमयितारः तथाहि
 पारिभाषिकं लक्षणं निघण्टोः एतावन्तः वामानकर्म्मजो धातवः एतावन्त्यस्य
 मन्त्रस्य नामानि एतावन्तापानामिदमभिधानं इदं देवनामभिधानं
 तदप्यत्र भग्यदेवेने मन्त्राः निरुक्तानि ।

तदिदं नैघादुक्तं कृतं धर्माणां महर्षिणां त्वे विकीरितानां अस्य महतो
निःश्वसितं अव्यक्तनादात्मकं व्यक्तं वर्णस्वररूपेण भाकाये तरङ्गितं
तदेव महर्षिणां समग्रनातं स्वरवर्णसमूहं निगमनान्नैघादुक्तपदवाच्यं
प्रागासीत् । तस्मिन्मतिगुह्यं कौत्स्यादिभिः निर्वचनप्रकारेण निहताम् ।

नामाख्यातोपसर्गं निपात लक्षणम्, भावविकार लक्षणम्, सर्वाण्या-
ख्यातज्ञानि भामानि तथा चानेकार्थानवगातसंस्काराणि परोक्षः
कृतातिपरोक्षकृताध्यात्मिकलक्षणादीनिशब्दमात्राणि अनेकार्थानवगातसंस्का-
रानुक्तमादि विचार देवतानामाकारचित्तनादि भक्ति साहचर्यं संस्तव
कर्मसूक्तर्माक् इविर्भाक् देवतानां निरूपणम् मंत्रार्थं निर्वचनेनदेवताभिधानं
निर्वचन मित्यादि विपद्याः निहतास्त्रेण निर्णेतव्या भवन्ति ।

सन्नं प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तुत्यायो न विद्यते ।

एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥

आत्मसाक्षात्कारः परमं पुरुषार्थं वेदेनैवलभ्यते ।

“वेदादमेतं पुरुषं महान्तं”

“ईशावास्यमिदं सर्वं”

इत्यादि प्रत्यगात्मसाक्षात्कारज्ञानम् वेदेनैवलभ्यम् दर्शनादयं
स्तदङ्गीभूता वेदेनैव प्रत्युद्धिताः सन्ति । परमं पुरुषार्थं यत् मनुष्य-
जन्मनः प्राधान्यम् ।

“इह चेद्वेदीदमसत्यमस्ति”

“बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते”

“सत्यं ज्ञानं मनन्तं ब्रह्म”

प्रत्यगातिरेव निःश्रेयसः साधनिका सा ■ वेदार्थज्ञानेनदनुष्ठानेन
चान्तःकरणशुद्धिद्वारा प्रकास्यते ।

“यज्ञैर्यज्ञै महायज्ञै ब्राह्मीयं कृषतेतनुः”

वेद बोधित नैष्कर्म्यार्थं नित्ययज्ञादिभिरन्तःकरणशुद्धिद्वारा निःश्रेयस
प्रसात्स्यैकता भवति ।

अतः गुरुमण्डल सत्त्वावधाने निरुद्धशास्त्रस्य परमोपयोगिता
भक्तिसमीक्ष्य तत्प्रकाशनम् कृतम् ।

कार्येऽस्मिन् बहुप्रत्ययाय सम्भावना कल्पितासीत् परं धीविज्ञ-
विनाशनकृत्या सर्वं सुस्थं संजातम् । पुनरपि सीतकाक्षरानुयोजक
प्रमादवशात् संशोधकानवधानाद्वा या अगुदयः भवेयुः दृष्टिपथि
आगच्छेयुश्च ता शोधनीयाः श्रीमद्भिः तत्रभवन्तिः दोषभारायज्ञाशीलैः
गुणलेशपद्मपक्षपातिभिः सुपीभिः करण्येति सयिनयं विनिवेदनम् ।

गुरु र्घ्णिमा वैष्णवः

२००६

}

विदुषाम्विषेयस्य

राजगुरु हरिदत्त शास्त्रिणः

देहरीमण्डला, वास्तव्यस्य

॥ श्री गणेशः प्रसीदताम् ॥

निरुक्ते (निघण्टु) भागास्थाध्यायानां खण्डानाञ्च सूची ।

—०७०—

विषय	पृष्ठाङ्क
१ टीका भूमिका	१
२ निघण्टु समाध्याय	५
३ अथ प्रथमाध्यायः (निघण्टुकं काण्डम्)	२७
१ एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि	२७
२ पञ्चदश हिरण्यनामानि	४३
३ षोडशान्तरिक्षनामानि	५०
४ पट् साधारणानि	५१
५ पञ्चदश रश्मिनामानि	५८
६ अष्टौ दिङ्नामानि	६१
७ त्रयोविंशती रात्रिनामानि	६७
८ षोडशोपोनामानि	७२
९ द्वादशाहर्नामानि	७६
१० त्रिंशन्मेघनामानि	८२
११ सप्तपञ्चाशद्व्याहनामानि	८६

विषय

पृष्ठाङ्क

१२ एकशतमुदकनामानि	...	११३
१३ सप्तत्रिंशन्नदीनामानि	...	१४७
१४ पञ्चविंशतिरश्वनामानि	...	१५६
१५ दशादिष्टोपयोजनानि	...	१६८
१६ एकादशज्वलतिकर्माणः	...	१७२
१७ एकादशज्वलतीनामधेयानि	...	१७४

४ अथ द्वितीयाध्यायः (नैघण्टुककाण्डम्)... १७६

१ पञ्चविंशतिः कर्मनामानि	...	१७६
२ पञ्चदशाप्रत्ययनामानि	...	१८७
३ पञ्चविंशतिर्भनुप्यनामानि	...	१६२
४ द्वादश बाहुनामानि	...	२०४
५ द्वाविंशति रङ्गुलिनामानि	...	२०७
६ अष्टादश कान्तिकर्माणः	...	२१५
७ अष्टाविंशतिरश्वनामानि	...	२१८
८ दशास्ति कर्माणः	...	२२८
९ अष्टाविंशतिर्वलनामानि	...	२३०
१० अष्टाविंशतिरेव घननामानि	...	२३६
११ नव गोनामानि	...	२४४
१२ दशक्रुध्यति कर्माणः	...	२४६
१३ एकादश क्रोधनामानि	...	२४८

विषय

पृष्ठाङ्क

२४ द्वाविंश शतं गतिकर्माणः	...	२५०
२५ पञ्चविंशतिः क्षिप्रनामानि	...	२६८
२६ एकादशान्तिकनामानि	...	२७४
२७ पञ्चत्वारिंशत् संग्रामनामानि	...	२७७
२८ दशव्याप्ति कर्माणः	...	२८७
२९ त्रयास्त्रिंशदध कर्माणः	...	२८९
३० अष्टादशयज्ञनामानि	...	२९५
३१ चत्वार पेश्वय्ये कर्माणः	...	२९६
३२ चत्वारिंश्वरनामानि	...	३००
५ अथ तृतीयाध्यायः (नैघण्टुककाण्डम्)	...	३०२
१ द्वादशयहुनामानि	...	३०२
२ एकादशहस्वनामानि	...	३०४
३ पञ्चविंशतिर्भह्मनामानि	...	३०६
४ द्वाविंशतिर्गृहनामानि	...	३१३
५ दशपटिवरफकर्माणः	...	३१८
६ विंशतिः सुखनामानि	...	३२०
७ षोडशरूप नामानि	...	३२४
८ दशप्रशस्यस्य	...	३२८
९ एकादश प्रज्ञानामानि	...	३३०
१० पद् सत्यनामानि	...	३३१

विषय

पृष्ठाङ्क

११ अष्टौ पश्यति कर्माणः	...	३३२
१२ नवसर्गपद समाम्नाय	...	३३३
१३ द्वादश उपमाः	...	३३४
१४ चतुर्विंशद्व्यतिकर्माणः	...	३३५
१५ चतुर्विंशतिर्मैधाविनामानि	...	३४१
१६ त्रयोदश स्तोत्रनामानि	...	३४७
१७ पञ्चदश यज्ञनामानि	...	३४६
१८ अष्टाष्टुत्विहनामानि	...	३५२
१९ सप्तदश याज्ञाकर्माणः	...	३५४
२० दशदान कर्मणः	...	३५०
२१ सन्धारोऽभ्येक्षणा कर्मणः	...	३५८
२२ छौ स्वपिति कर्मणः	...	३५६
२३ अतुर्दश कृपनामानि	...	३५६
२४ अतुर्दशैव स्मृतानामानि	...	३६२
२५ पद् निर्णोतान्तर्हित नामधेयानि	...	३६६
२६ पञ्चदशनामानि	...	३६८
२७ पद् पुराणनामानि	...	३६६
२८ पञ्च नवनामानि	...	३७०
२९ पद् विंशतिर्विंशनामानि	...	३७१
३० अतुर्विंशतिर्चाया वृत्तिर्विनामधेयानि	...	३७२
३१ नैषण्डुक टीका परिशिष्टम्	...	३७७

विषय

पृष्ठाङ्क

५ अथ चतुर्थाध्यायः (नैगमं काण्डम्)	...	३८८
१ द्विपष्टिः पदानि	...	३८८
२ चतुरशीतिः पदानि	...	४०२
३ द्वात्रिंशच्छतं पदानि	...	४२२
६ अथ पञ्चमाध्यायः (दैवतं काण्डम्)	...	४५३
१ त्रीणि पदानि	...	४५३
२ त्रयोदश पदानि	...	४५५
३ षट् त्रिंशत्पदानि	...	४५६
४ द्वा त्रिंशत्पदानि	...	४६७
५ षट् त्रिंशत्पदानि	...	४७४
६ एकं त्रिंशत्पदानि	...	४८१

॥ समाप्तेषां विषयसूची ॥

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

निरुक्तम्

(निघण्टुः)

टीकाभूमिका ।

मद्वज्रप्यन्तफान्ताग्सञ्जाग्निकग्निं मुने ।
मदाल्दैत्यमानङ्गमङ्गे केसगिणं भजे ॥ १ ॥
नमस्त्रिधाष्टे शिषिषिष्टनाष्टे
निरुक्तविद्यानिगमप्रतिष्ठाम् ।
अथाप याम्यो विविधेषु यागे-
ध्यनेन शास्त्रायमभिष्टुघानः ॥ २ ॥

प्रणमामि याम्यभाय्यं यं हस्तमसः प्रकाशितपदार्थः ।
यस्य भुवनत्रयीमिव गावः प्रकटीं त्रयीं चितन्वन्ति ॥ ३ ॥
पार्गीश्वरं यन्मोमिर्यमिष्टमुत्पान्मुनींस्तपोभिष्य ।
अनुरतयन्तं यदे पितामहं देवराजयजमानम् ॥ ४ ॥
आचार्यं शाण्डिकानामृचि यन्नुचि न यद्दृष्टुन्व्यप्रसायम् ।
यन्दे नैरुक्तानि वममुपनिषद्दर्शनामुपग्रमम् ।

आभक्तारं कृत्वा मय निमुखकरप्रक्रियानुक्रियायै,
तातं यज्ञेश्वराख्यं प्रतिहततमसं ज्ञानभास्वन्मयूखैः ॥ ५॥

यज्यारङ्गेशपुरी—पर्यन्तग्रामवास्तव्यः ।

चिरचयति देवराजो नैघण्टुककाण्डनिर्घचनम् ॥ ६ ॥

भगवता यास्केन समास्त्रायं नैघण्टुक-नैगम-देवताकाण्ड-
रूपेण त्रिचिधं गवादि-देवपत्न्यन्तं निघृचता नैगम-देवता-
काण्डपठितानि पदानि प्रत्येकमुपादाय निरुक्तानि दर्शितनिगमानि
च, नैघण्टुककाण्डपरिपठितानान्तु गवाद्यपर्यन्तातामेकवत्त्वा-
दिशच्छतत्रयाधिकसहस्रं सामान्येन 'एतावन्त्यस्य सत्यस्य ताम-
धेयानि'—इति व्याख्याय तत्र प्रदर्श्य कतिचिदेव निरुक्तानि, तथा
कानिचिदेव दर्शितनिगमानि, अन्यानि तु ग्रन्थवित्तरत्नीत्या
सामान्येन निर्घचनलक्षणस्योक्तत्वात् युद्धिमद्विनिर्बक्तं
सुशक्यानि इत्यभिप्रायेण च उपेक्षितानि । स्कन्दस्वामी च तत एव
निरुक्तमनुजगाम ।

तत्र तु 'दिवश्चादित्यस्य च साधारणनामानि स्वरादीनि ण्'—
'इदमादीनि, च उपमाभेदात् भेदनामानि द्वादश'- 'प्रपित्वे अभी-
के इत्यादीनि च षड्विंशतिश्च' भाष्यकारेण बहुवक्तव्यत्वात् प्रकर-
णश एव निरुक्तानि, स्कन्दस्वामिना च व्याख्यातानि । अतोऽन्येषां
यथाक्रमेणानिर्वृतेर्निगमाप्रदर्शनाच्च स्वरूपमात्रमपि अध्ययना-
देवाद्यगन्तव्यम् । तथाध्ययनं काल्युगे प्रायेण विच्छिन्नसम्प्रदाय-
मासीत् । ततश्च कौश एव शरणमासीत् । तेषु च केषुचिदर्थेषु-
लेखकप्रमादादिभिः कानिचित्पदान्यधिकानि आसन्, अन्येषु

च कानिचिन्मूलानि, अपरेषु च कानिचिदपहाय कानिचिन्
विभ्रस्तानि अक्षराणि च विपर्यस्तानि । एवं व्याकीर्णेषु
कोशेषु नियमैकभूतस्य प्रतिपदनिर्वचननिगमप्रदर्शनपरस्य
कस्यचिद् व्याख्यानस्य अभावान् नैघण्टुककाण्डमुत्सन्नप्राय-
मासीत् ।

ततश्च पाठसंशोधनार्थं वालाणां सुगमत्वाय च तद्गतानां
पदानां क्रमेण प्रतिपदनिर्वचननिगमो प्रदर्शयितुं,—स्वरादीनीति
पूर्वमुक्तस्य प्रकरणत्रयस्य, नैगम-देयताकाण्डगतानाञ्च पदानां
भाष्यकारेण निवृत्तानां स्कन्दस्यामिता च तदुच्यन्त्यातानां
प्रक्रिययोन्मीलयितव्यम्, यदुशस्तु नैघण्टुककाण्डनिर्वचनानन्तरं
तदुन्मीलयितुञ्चायमस्मत्परिधमः ।

इदञ्च स्वमर्ताधिक्या न क्रियते किन्तु नैघण्टुवागतेष्वेव पदे-
ष्वध्यर्क्षशतत्रयमात्राणि पदानि भाष्यकारेणैव तत्र तत्र निगमेषु
प्रसङ्गाभिरुक्तानि, स्कन्दस्यामिता च निगमव्याख्यानेषु अन्यानि
च पदानि शतद्वयमात्राण्युपात्तानि । तेन च समाज्ञापयितानां
पदानामन्येष्वो व्यावृत्त्यर्थं किञ्चिच्चिह्नं कृतम्, अतस्तेषां पाठ-
शुद्धिस्तत्रैव शुद्धा । अन्येषाञ्च पदानामस्मत्पुण्ड्रे समाज्ञाप्या-
ध्ययनस्याविच्छेदान्,—ध्रुविङ्कटाचार्यतनयस्य माधयन्य भाष्य-
वृत्तां नामानुक्रमण्याः आख्यानानुक्रमण्याः—स्वरानुक्रमण्याः—
निगमानुक्रमण्याः—निर्वचनानुक्रमण्याः—तदीयस्य भाष्यस्य च
यदुशः पर्यालोचनान्,—यदुदेशसमानानां यदुकोशनिर्गक्षणाद्य
पाठः संशोद्धितः । निर्वचनञ्च—निर्गतं, (१) स्कन्दव्यामिरुतां

निरुक्तटीकां, (२) स्कन्दस्वामि (क)-भयस्वामि (ख)-राहदेव (ग)-
श्रीनिवास (घ)-माधवदेव (ङ)-उवटभट्ट (च)-भास्करमिश्र (छ)-
भरतस्याम्यादि (७)—विरचितानि वेदभाष्याणि, (३) पाणिनीयं
व्याकरणं, (४) विशेषत उणादि (क) तद्वृत्ति, (ख) क्षीरस्वाम्य-
नन्ताचार्यादिभूतां निघण्टुव्याख्यां, (५) भोजराजीयं व्याकरणं,
(६) कमलनयनीय-निखिलपदसंस्कारांश्च (७) निरीक्ष्य क्रियते ।
तत्र च अस्मद्व्याख्येयानां तत्र दृष्टानां पदानां तत्तद्वृत्तञ्च
निर्वचनमुपादाय तदेवास्मत्प्रकरणानुरूपञ्चेदुद्दिश्यते, अतनु-
रूपन्तुकिञ्चिदु विपरिणमय्य, अन्येषाञ्च कतिपयानां निरुक्तकारो-
क्तनिर्वचनसामान्यलक्षणमनुसृत्य, निरुक्तिः क्रियते ।

निगमश्च दक्षिणापथनिघासिमिरर्धीतेषु वेदेषु परिदृश्यमान-
स्तत्तद्वृत्तभाष्याणि निरीक्ष्य तत्र तत्र प्रदर्श्यते, अदृष्टनिगमानाञ्च
पदानां निगमा अन्येषाः ।

अतोऽस्मान्निर्वचयामति प्रदर्शितौ प्रतिपदनिर्वचननिगमौ
विद्वांसो ध्रुवध्या निरूप्य शुकभाषितधन्मनसि कुर्वन्तु ॥

॥ अथ निघण्टुसमाम्नायः ॥



प्रथमोऽध्यायः ।

१ गौः २ ग्मा । ३ उमा । ४ क्षमा । ५ क्षा । ६ क्षमा । ७ क्षोणी ।
८ क्षितिः । ९ अवनिः १० उर्वी । ११ पृथ्वी । १२ मही । १३ रिपः ।
१४ अर्दितः । १५ इला । १६ निर्ऋतिः । १७ भूः । १८ भूमिः ।
१९ पूषा । २० गान्तुः । २१ गोत्रेत्येकविंशतिः पृथिवीनामधे-
यानि ॥ १ ॥

१ हेम । २ चन्द्रम् । ३ रथम् । ४ अयः ५ हिरण्यम् । ६ वेशः ।
७ ऋणम् । ८ लोहम् । ९ कनकम् । १० काञ्चनम् । ११ भर्म ।
१२ अमृतम् । १३ मग्न् । १४ दन्त्रम् । १५ जातरूपमिति पञ्चदश
हिरण्यनामानि ॥ २ ॥

१ अम्यरम् । २ वियत् । ३ व्योम । ४ बर्हिः । ५ धन्व ।
६ अन्तरिक्षम् । ७ आकाशम् । ८ आपः ९ पृथिवी । १० भूः ।
११ स्वयम्भूः । १२ अध्वा । १३ पुष्करम् । १४ सगरः । १५ समुद्रः ।
१६ अध्वरमिति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥ ३ ॥

१ स्वः । २ पृथिः । ३ नाकः । ४ गौः । ५ विष्ट् । ६ नमः
इति पद साधारणानि ॥ ४ ॥

१ खेदयः । २ किरणाः । ३ गावः । ४ रश्मयः । ५ अर्भीशवः ।
 ६ क्षीधितयः । ७ गमस्तयः । ८ धनम् । ९ उर्याः । १० वसवः
 ११ मरीचिपाः । १२ मयूखाः । १३ सप्तऋषयः । १४ साध्याः ।
 १५ सुपर्णा इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

१ आताः । २ आशाः । ३ उपराः । ४ आष्टाः । ५ काष्टाः ।
 ६ ध्योम । ७ ककुभः । ८ हरित इत्यष्टौ दिङ्नामानि ॥ ६ ॥

१ श्यावी । २ क्षपा । ३ शर्षरी । ४ अक्षुः । ५ ऊर्म्या ।
 ६ राम्या । ७ यम्या । ८ तम्या । ९ क्षोपा । १० नका । ११ तमः ।
 १२ रजः । १३ अस्तिग्री । १४ पयस्वती । १५ तमस्वती ।
 १६ घृताक्षी । १७ शिरिणा । १८ मोकी । १९ शोफी । २० ऊधः ।
 २१ पयः । २२ हिमा । २३ वस्यीति त्रयोविंशतीरात्रिनामानि ॥ ७ ॥

१ विभाघरी । २ सूनरी । ३ भास्वती । ४ ओवती । ५ चित्रा
 मघा । ६ अर्जुनी । ७ घाजिनी । ८ वाजिनीवती । ९ सुस्नाघरी ।
 १० अहना । ११ द्योतना । १२ श्वेत्पा । १३ अरुणी । १४ सूनृता
 १५ सुनृतावती । १६ सूनृतावरीति षोडशोपोनामानि ॥ ८ ॥

१ घस्तोः । २ घुः । ३ भानुः । ४ वासरम् । ५ खसराणि ।
 ६ घ्नंसः । ७ घर्मः । ८ घुणः । ९ दिनम् । १० दिवा । ११ द्विवेदिवे ।
 १२ द्यविद्यवीति द्वादशाहर्नामानि ॥ ९ ॥

१ अद्रिः । २ श्रावा । ३ गोत्रः । ४ बलः । ५ अश्वः । ६ पुरु-
 भोजाः । ७ वलिशानः । ८ अश्मा । ९ पर्वतः । १० गिरिः ।
 ११ व्रजः । १२ चरुः । १३ बराहः । १४ शम्बरः । १५ रौहिणः ।
 १६ रेषतः । १७ फलिगः । १८ उपरुः । १९ उपलः । २० चमसः ।

२१ अहिः । २२ अश्वम् । २३ कलाहकः । २४ मेघः । २५ वृत्तिः ।
२६ । ओदनः । २७ घृणन्धिः । २८ वृत्रः । २९ असुरः । ३० कोश-
इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥१०॥

१ श्लोकः । २ धारा । ३ इला । ४ गौः । ५ गौरी । ६ गान्धर्वी ।
७ गभीरा । ८ गम्भीरा । ९ मन्द्रा । १० मन्द्राजनी । ११ घाशी ।
१२ घाणी । १३ घाणीची । १४ घाणः । १५ पघिः । १६ भारती ।
१७ धमनिः । १८ नालीः । १९ मेलिः । २० मेता । २१ सूर्या ।
२२ सरस्वती । २३ निचिन् । २४ स्वाहा । २५ घानुः । २६ उपधिः ।
२७ मायुः । २८ फाकुत् । २९ जिह्वा । ३० घोषः । ३१ स्वरः ।
३२ शब्दः । ३३ स्वनः । ३४ ऋक् । ३५ होत्रा । ३६ गीः ।
३७ गाथा । ३८ गणः । ३९ घेना । ४० ग्राः । ४१ विपा । ४२ नना ।
४३ कशा । ४४ विपणा । ४५ नौः । ४६ अक्षरम् । ४७ मही ।
४८ अदितिः । ४९ शची । ५० वाक् । ५१ अनुष्टुप् । ५२ घेनुः ।
५३ घल्गुः । ५४ गल्दा । ५५ सरः । ५६ सुपर्णी । ५७ घेबुरेति
सप्तपञ्चाशडाङ्गनामानि ॥ ॥

१ अर्षाः । २ क्षौदः । ३ क्षुद्रुमः । ४ नभः । ५ अम्मः ।
६ कवन्धम् । ७ सलिलम् । ८ घाः । ९ वनम् । १० घृतम् । ११ मधु ।
१२ पुरीषम् । १३ पिप्पलम् । १४ क्षीरम् । १५ विषम् । १६ रेतः ।
१७ कशः । १८ जन्म । १९ वृवृकम् । २० वुसम् । २१ तुम्पा ।
२२ यर्वुरम् । २३ सुक्षेम । २४ घट्टणम् । २५ सिरा । २६ अरदि-
न्दानि । २७ ध्वस्मन्वत् । २८ जामि । २९ आयुधानि । ३० क्षपः ।
३१ अहिः । ३२ अक्षरम् । ३३ श्रोतः । ३४ वृत्तिः । ३५ रसः ।

३६ उदकम् । ३७ पयः । ३८ सरः । ३९ मेघजम् । ४० सहः ।
 ४१ शवः । ४२ यहः । ४३ ओजः । ४४ सुखम् । ४५ क्षत्रम् ।
 ४६ आवयाः । ४७ शुभम् । ४८ यादुः । ४९ भूतम् । ५० भुवनम् ।
 ५१ भविष्यत् । ५२ आपः । ५३ महत् । ५४ व्योम । ५५ यशः ।
 ५६ महः । ५७ सर्गोक्तम् । ५८ स्वृतीकम् । ५९ सतीनम् ।
 ६० गहनम् । ६१ गभीरम् । ६२ गम्भिरम् । ६३ ईम् । ६४ अन्नम् ।
 ६५ हविः । ६६ सद्रुम् । ६७ सदनम् । ६८ ऋतम् । ६९ योनिः ।
 ७० ऋतस्य योनिः । ७१ सत्यम् । ७२ नीरम् । ७३ रविः ।
 ७४ सत् । ७५ पूर्णम् । ७६ सर्वम् । ७७ अक्षितम् । ७८ बर्हिः ।
 ७९ नाम । ८० सर्पिः । ८१ अपः । ८२ पवित्रम् । ८३ अमृतम् ।
 ८४ इन्द्रुः । ८५ हेम । ८६ स्वः । ८७ सर्गाः । ८८ शम्बरम् ।
 ८९ अभ्यम् । ९० वपुः । ९१ अम्बु । ९२ तोयम् । ९३ तूयम् ।
 ९४ कृपीटम् । ९५ शुक्रम् । ९६ तेजः । ९७ स्वधा ।
 ९८ वारि । ९९ जलम् । १०० जलापम् । १०१ इवमित्ये-
 कशतमुदकनामानि ॥ १२ ॥

१ अचनयः । यव्याः । ३ खाः । ४ सीराः । ५ स्रोत्याः ।
 ६ पन्यः । ७ धुनयः । ८ रुजानाः । ९ घक्षणाः । १० खादो अर्णाः ।
 ११ रोधचक्राः । १२ हरितः । १३ सरितः । १४ अग्रुचः । १५ नभन्तः ।
 १६ बध्वः । १७ हिरण्यवर्णाः । १८ रोहितः । १९ सध्रुतः ।
 २० अर्णाः । २१ सिन्धवः । २२ कुल्याः । २३ चर्यः । २४ उर्व्यः ।
 २५ इरावत्यः । २६ पार्वत्यः । २७ खवन्त्यः । २८ ऊर्जखत्यः ।
 २९ पयस्यत्यः । ३० तरस्वत्यः । ३१ सरस्वत्यः । ३२ हरस्वत्यः ।

३३ रोधस्वत्यः । ३४ भास्वत्यः । ३५ अजिराः । ३६ मातरः ।
२७ नय इति सप्तत्रिंशत्तदीनामानि ॥ १३ ॥

१ अत्यः । २ हयः । ३ अर्चा । ४ घाजी । ५ सप्तिः ६ घट्टिः ।
७ दधिक्राः ८ दधिक्रावा । ९ पतग्वः । १० पतशः । ११ पैद्वः ।
१२ दौर्गहः । १३ औन्चैध्रघसः । १४ तादर्यः । १५ आशुः ।
१६ ग्रध्नः । १७ अरयः । १८ माध्वत्यः । १९ अय्यधयः ।
२० श्येनासः । २१ सुपर्णाः । २२ पतङ्गाः । २३ नरः । २४ ह्यार्याणाम् ।
२५ हंसासः २६ अथा इति षड्विंशतिरुभनामानि ॥ १४ ॥

१ हरी इन्द्रस्य । २ रोहितोम्रः । ३ हस्ति आदित्यस्य ।
४ रासभावश्विनोः । ५ अजाः पूष्णः । ६ पृषत्यो मरुताम् ।
७ अरुण्यो गाव उपसाम् । ८ श्यावाः सवितुः । ९ शिबुरुपा पृहस्पतेः ।
१० नियुतो घायोरिति दशादिष्टोपयोजनानि ॥ १५ ॥

१ भ्राजते । २ भ्राशते । ३ भ्राश्यति । ४ दीदयति । ५ शोचति ।
६ मन्दते । ७ भन्दते । ८ रोचते । ९ ज्योतते । १० द्योतते ।
११ धुमदित्येकादश ज्वलतिकर्माणः ॥ १६ ॥

१ जमन् । २ फल्मलीकिनम् । ३ जज्जणभयन् । ४ मात्मन्-
भयन् । ५ अर्चिः । ६ शोचिः । ७ तपः । ८ तेजः । ९ हरः । १०
हृणिः । ११ शृङ्गाणि शृङ्गाणीत्येकादश ज्वलतो नामधेयानि ॥ १७ ॥

गौर्दमाभ्यं स्वः रोधय आताः श्यावी विभावरी वास्तोरद्विः श्लोकोर्णोव-
नपोत्यो हरी इन्द्रस्य भ्राजते अमदिति सप्तदश ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

१ अपः । २ अग्रः । ३ दंसः । ४ वेपः । ५ वेपः । ६ विष्प्वी ।
 ७ व्रतम् । ८ कर्चरम् । ९ करुणम् । १० शक्म् । ११ ऋतुः ।
 १२ करणानि । १३ कौत्सि । १४ करिक्त । १५ करन्ती ।
 १६ चक्रत् । १७ कर्त्तव्यम् । १८ कर्तोः । १९ कर्तव्यै । २० कृत्वी ।
 २१ धीः । २२ शची । २३ शमी । २४ शिमी । २५ शक्तिः ।
 २६ शिल्पमिति पञ्चविंशतिः कर्मनामानि ॥३॥

१ तुक् । २ तोक् । ३ तनयः । ४ तोक्म । ५ तक्म । ६ शोपः ।
 ७ अग्रः । ८ गयः । ९ जाः । १० अपत्यम् । ११ यहुः । १२ सनुः ।
 नपात् । १४ प्रजा । १५ वीजमिति पञ्चदशापत्यनामानि ॥ २ ॥

१ मनुष्याः । २ नरः । ३ धयाः । ४ जन्तवः । ५ विशाः ।
 ६ क्षितयः । ७ कृष्टयः । ८ चर्षणयः । ९ नहुपः । १० हरयः ।
 ११ मर्याः । १२ मर्त्याः । १३ मर्ताः । १४ घ्राताः । १५ तुर्वशाः ।
 १६ द्रुह्यः । १७ आययः । १८ यदयः । १९ अनयः । २० पूरयः ।
 २१ जगतः । २२ तस्थुपः । २३ पञ्चजनाः । २४ चिचर्यस्तः ।
 २५ पृतना इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामानि ॥ ३ ॥

१ जायती । २ च्यवाना । ३ अभीशू । ४ अग्रवाना । ५ चिन-
 द्गृत्तौ । ६ गभस्ती । ७ करन्तौ । ८ वाहू । ९ भुरिजौ ।
 १० क्षिपस्ती । ११ शक्री । १२ भरिन्ने इति द्वादश वाहुनामानि ॥४॥

१ अग्रधः । २ अण्व्यः । ३ क्षिपः । ४ विशाः । ५ शर्याः ।
 ६ रथनाः । ७ घीतयः । ८ अथर्यः । ९ विषः । १० कक्ष्याः ॥

११ अचनयः । १२ हरितः । १३ स्वसारः । १४ जामयः । १५ सना-
भयः । १६ योक्त्राणि । १७ योजनानि । १८ धुरः । १९ शाखा ।
२० अमीशयः । २१ दीधितयः । २२ गमस्तय इति द्वाविंशतिरङ्गु-
लिनामानि ॥ ५ ॥

१ षश्मि । २ उश्मसि । ३ वेति । ४ वेनति । ५ वेसति ।
६ घाञ्छति । ७ चष्टि । ८ चनोति । ९ जुपते । १० हर्षति ।
११ आन्त्रके । १२ उशिक । १३ मन्यते । १४ छन्त्सत् । १५ चाफ-
नत् । १६ चक्रमानः । १७ कनति । १८ कानिप्रदित्यष्टादश
कान्तिकर्माणः ॥ ६ ॥

१ अन्धः । २ पाजः । ३ पयः । ४ श्रयः । ५ वृक्ष । ६ पितुः ।
७ सुतः । ८ सिनम् । ९ अयः । १० क्षु । ११ धासिः । १२ इरा ।
१३ इला । १४ इपम् । १५ ऊर्कः । १६ रसः । १७ स्वघा ।
१८ अर्कः । १९ क्षत्र । २० नेमः । २१ ससम् । २२ नमः । २३ आयुः ।
२४ सनुता । २५ ब्रह्म । २६ घर्षः । २७ कीलालम् । २८ यश
इत्यष्टाविंशतिर्गणनामानि ॥ ७ ॥

१ आ वयति । २ भवति । ३ वमस्ति । ४ वेति । ५ वेयेष्टि ।
६ अविध्यन् । ७ अप्सति । ८ असथः । ९ यध्याम् । १० हर्तीति
दशात्तिकर्माणः ॥ ८ ॥

१ भोजः । २ पाजः । ३ शयः । ४ तयः । ५ तरः । ६ त्यक्षः ।
७ शर्षः । ८ वाघः । ९ नृग्नम् । १० तविपी । ११ शुष्मम् ।
१२ शुष्णम् । १३ दक्षः । १४ वीलु । १५ ज्योत्स्नम् । १६ शूषम् ।
१७ सहः । १८ यहः । १९ चघः । २० धर्गः । २१ वृजनम् । २२ वृक् ।

२३ मज्जन्ता । २४ पीस्यानि । २५ घर्णासिः । २६ द्रविणम् ।
२७ स्यन्द्रासः । २८ शम्बरमित्यष्टाविंशतिर्यलनामानि ॥ ६ ॥

१ मघम् । २ रेवणः । ३ रिबथम् । ४ वेदः । ५ वरिवः ।
६ श्वाभ्रम् । ७ रत्नम् । ८ रयिः । ९ क्षत्रम् । १० भगः । ११ मीलहुम् ।
१२ गयः । १३ दस्रम् । १४ इन्द्रियम् । १५ वसु । १६ रायः ।
१७ राधः । १८ भोजनम् । १९ तना । २० नृग्नम् । २१ यन्धुः ।
२२ मेधा । २३ यशः । २४ ब्रह्म । २५ द्रविणम् । २६ भ्रयः ।
२७ घृत्रम् । २८ घृतमित्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥ १० ॥

१ अक्ष्या । २ उक्ता । ३ उम्निया । ४ अही । ५ मही । ६ अदितिः ।
७ हला । ८ जगती । ९ शकरीति नव गो (मातृ) नामानि ॥ ११ ॥
१ हलते । २ हलते । ३ भामते । ४ हृणीयते । ५ भ्रीणाति ।
६ भ्रेपति । ७ दोधति । ८ घनुष्यति । ९ कम्पते । १० भोजत इति
दश क्रुध्यतिफर्माणः ॥ १२ ॥

१ हेलः । २ हरः । ३ हणिः । ४ त्यजः । ५ भामः । ६ षहः ।
७ हटः । ८ तपुर्ग । ९ जूर्णिः । १० मन्युः । ११ व्यधिरित्येकादश
घोषनामानि ॥ १३ ॥

१ घर्तते । २ अयते । ३ गोटते । ४ लोटते । ५ स्यन्दते ।
६ फसति । ७ सपेति । ८ म्यमति । ९ ग्रवति । १० म्रंसते । ११ अयति ।
१२ श्योतति । १३ ध्यंसति । १४ येनति । १५ माष्टि । १६ भुरण्यति ।
१७ शवति । १८ फालयति । १९ पेलयति । २० कण्टति ।
२१ पिम्यति । २२ पिम्यति । २३ मिम्यति । २४ ग्रवते । २५ गृवते ।
२६ ञपते । २७ फपते । २८ गपते । २९ नयते । ३० शोदति ।

३१ नक्षति । ३२ सक्षति । ३३ म्यक्षति । ३४ सचति । ३५ ऋच्छति ।
 ३६ तुरीयति । ३७ चतति । ३८ अतति । ३९ गाति । ४० इयक्षति ।
 ४१ सञ्चति । ४२ त्सरति । ४३ रंहति । ४४ यतते । ४५ भ्रमति ।
 ४६ भ्रजति । ४७ रजति । ४८ लजति । ४९ क्षियति । ५० धमति ।
 ५१ मिनाति । ५२ ऋण्यति । ५३ ऋणोति । ५४ स्वरति ।
 ५५ सिस्सति । ५६ वेपिष्टि । ५७ योपिष्टि । ५८ रिणाति । ५९ रीयते ।
 ६० रैजति । ६१ दध्यति । ६२ दग्धोति । ६३ युध्यति ।
 ६४ धन्यति । ६५ अरुपति । ६६ आर्यति । ६७ डीयते । ६८ तफति ।
 ६९ वीयति । ७० ईपति । ७१ फणति । ७२ हनति । ७३ भर्दति ।
 ७४ मर्दति । ७५ ससृते । ७६ नसते । ७७ हर्यति । ७८ इयति ।
 ७९ ईते । ८० ईङ्गते । ८१ ज्रयति । ८२ श्वात्रति । ८३ गन्ति ।
 ८४ आ गनीगन्ति । ८५ जङ्गन्ति । ८६ जिन्वति । ८७ जलति ।
 ८८ गमति । ८९ ध्राति । ९० ध्राति । ९१ भ्रयति । ९२ चहते ।
 ९३ रथर्यति । ९४ जेहते । ९५ प्वःकति । ९६ क्षुम्पति ।
 ९७ प्साति । ९८ घाति । ९९ याति । १०० इपति ।
 १०१ द्राति । १०२ द्रलति । १०३ पजति । १०४ जमति ।
 १०५ जघति । १०६ घञ्चति । १०७ अनिति । १०८ पचते ।
 १०९ हन्ति । ११० सेघति । १११ अगन् । ११२ अजगन् ।
 ११३ जिगाति । ११४ पतति । ११५ इन्वति । ११६ द्रनति ।
 ११७ द्रवति । ११८ वेति । ११९ ह्यन्तात् । १२० एति ।
 १२१ जगायात् । १२२ अयथुरिति द्वारिश्चयतं गतिक-
 र्माणः ॥ १४ ॥

१ नु । २ मक्ष । ३ द्रवत् । ४ ओषम् । ५ जीराः । ६ जूर्णिः ।
 ७ शूर्ताः । ८ शूघनासः । ९ शीमम् । १० तृषु । ११ तूयम् ।
 १२ तूर्णिः । १३ अजिरम् । १४ भुरण्युः । १५ शु । १६ आशु ।
 १७ प्राशुः । १८ तृजिः । १९ तृजानः । २० तुज्यमानासः । २१ अन्नाः ।
 २२ साचीयित् । २३ द्युगत् । २४ ताजत् । २५ तरणिः ।
 २६ घातरंहा इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि ॥ १५ ॥

१ तलित् । २ आस्तात् । ३ अम्यरम् । ४ तुर्यशे । ५ अस्तमीके ।
 ६ आके । ७ उपाके । ८ अर्वाके । ९ अस्तमानाम् । १० अवमे ।
 ११ उपम इत्येकादशान्तिकनामानि ॥ १६ ॥

१ रणः । २ विद्याक् । ३ विखादः । ४ नदनुः । ५ भरे ।
 ६ आक्रन्दे । ७ आहवे । ८ आजौ । ९ पृतनाज्यम् । १० अर्मीके ।
 ११ समीके । १२ ममसत्यम् । १३ नेमधिता । १४ सङ्गाः ।
 १५ समितिः । १६ समनम् । १७ मीलहे । १८ पृतनाः । १९ सृधः ।
 २० सृधः । २१ पृतसु । २२ समत्सु । २३ समर्थे । २४ समरणे ।
 २५ समोहे । २६ समिथे । २७ संख्ये । २८ संगे । २९ संयुगे ।
 ३० सङ्गथे । ३१ सङ्गमे । ३२ वृत्रतूर्ये । ३३ पृक्षे । ३४ आपाणौ ।
 ३५ शूरसाती । ३६ वाजसाती । ३७ समनीके । ३८ खले । ३९ खजे ।
 ४० पौस्ये । ४१ महाघने । ४२ धाजे । ४३ अजम् । ४४ सदुम ।
 ४५ संयत् । ४६ संयत् इति षड्यत्वारिंशत्सङ्ग्रामनामानि ॥ १७ ॥

१ इत्यति । २ नक्षति । ३ आक्षाणः । ४ आतद् । ५ आष्ट ।
 ६ आपानः । ७ अशन् । ८ नशन् । ९ आनशे । १० अध्रुत
 इति दश व्याप्तिकर्माणः ॥ १८ ॥

१ दम्नोति । २ श्रथति । ३ ध्वरति । ४ धूर्वति । ५ घृणक्ति ।
 ६ वृश्चति । ७ रुण्वति । ८ वृन्तति । ९ भ्वसिति । १० नमते ।
 ११ अर्दयति । १२ स्तृणाति । १३ स्नेहयति । १४ यातयति ।
 १५ स्फुरति । १६ स्फुलति । १७ निचपन्तु । १८ अवतिरति ।
 १९ चियातः । २० आ तिरन् । २१ तलिन् । २२ आखण्डल ।
 २३ द्रूणाति । २४ खणाति । २५ शृणाति । २६ शान्नाति ।
 २७ तुणेलिह । २८ ताहि । २९ नितोशते । ३० निचर्हयति ।
 ३१ मिनाति । ३२ मिनोति । ३३ धमर्ताति त्रयस्त्रिंशद्वधक-
 र्माणः ॥ १६ ॥

१ विद्यत् । २ नेमिः । ३ हेतिः । ४ नमः । ५ पचिः । ६ सूकः ।
 ७ धूकः । ८ घधः । ९ घजः । १० अर्कः । ११ कुत्सः । १२ कुलिशः ।
 १३ तुजः । १४ तिग्मः । १५ मेनिः । १६ स्वधितिः । १७ सायकः ।
 १८ परशुरित्यष्टादश घजनामानि ॥ २० ॥

१ इरज्यति । २ पत्यते । ३ क्षयति । ४ राजतीति चत्वार
 येऽध्वर्यकर्माणः ॥ २१ ॥

१ राट्नी । २ अर्यः । ३ नियुत्वान् । ४ इन इन इति चत्वारिभ्य-
 रनामानि ॥ २२ ॥

अपस्तुङ्गनुप्या आयती अग्रुघो वश्यन्ध आचयत्योजो मद्यमधून्या
 रेल्लते हेलो घर्तते नु तलिद्रण इन्वति दम्नोति विदुयुदिरज्यति

राट्नीति द्वाविंशतिः ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

१ उरु । २ तुषि । ३ पुरु । ४ भूरि । ५ शश्वत् । ६ विश्वम् ।
७ परीणसा । ८ व्यानशिः । ९ शतम् । १० सहस्रम् ।
११ सलिलम् । १२ कुचिदिति द्वादश यदुनामानि ॥ १

१ अहन् । २ हसः । ३ निघृष्यः । ४ मायुकः । ५ प्रतिष्ठा ।
६ कृधु । ७ घघ्नकः । ८ वघ्नम् । ९ अर्भकः । १० क्षुद्रकः ।
११ अल्प इत्येकादश हस्यनामानि ॥ २ ॥

१ महत् । २ घघ्नः । ३ ऋष्यः । ४ बृहत् । ५ उक्षितः ।
६ तवसः । ७ तविपः । ८ महिपः । ९ अभ्वः । १० ऋमुक्षाः ।
११ उक्षा । १२ विहात्याः । १३ बहः । १४ यवक्षिथ । १५ विघक्षसे ।
१६ अमृण । १७ माहितः । १८ गमीरः । १९ ककुहः ।
२० रभसः । २१ घ्राघन् । २२ विरष्णी । २३ अद्भुतम् । २४ बंहिष्ठः ।
२५ बर्हिषदिति पञ्चविंशतिर्महानामानि ॥ ३ ॥

१ गयः । २ वृदट् । ३ गर्तः । ४ हर्म्यम् । ५ अस्तम् ।
६ पस्त्यम् । ७ दुरोणे । ८ नीलम् । ९ दुर्याः । १० स्वसराणि ।
अमा । १२ घमे । १३ कृत्तिः । १४ योनिः । १५ सदुम ।
१६ शरणम् । १७ घरुथम् । १८ छर्दिः । १९ छदिः । २० छाया ।
२१ शर्म । २२ अजमेति द्वाविंशतिर्गृहनामानि ॥ ४ ॥

१ हरज्यति । २ विधेम । ३ सपर्यति । ४ नमस्यति ।
५ दुयस्यति । ६ ऋध्नोति । ७ ऋणद्धि । ८ ऋच्छति । ९ सपतिः ।
१० विघासतीति दश परिचरणकर्माणः ॥ ५ ॥

१ शिम्बांता । २ शतरा । ३ शातपन्तो । ४ शिन्नुः ।
 ५ स्पूमकम् । ६ शेवृधम् । ७ मयः । ८ सुम्प्यम् । ९ सुदिनम् ।
 १० शूयम् । ११ शुनम् । १२ शग्मम् । १३ भेषजम् ।
 १४ जलायम् । १५ स्योनम् । १६ सुन्नम् । १७ शेवम् ।
 १८ शिवम् । १९ शम् । २० कमिति विंशतिः सुख-
 नामानि ॥ ६ ॥

१ निर्णिक् । २ चन्निः । ३ घर्षः । ४ चपुः । ५ अमतिः ।
 ६ अप्सः । ७ प्लुः । ८ अग्रः । ९ पिष्टम् । १० पेशः । ११ वृश्चानम् ।
 १२ मरुत् । १३ अर्जुनम् । १४ ताम्रम् । १५ अरुयम् । १६ शिल्प-
 मिति पौडश रूपनामानि ॥ ७ ॥

१ अन्नेमा । २ अनेमा । ३ अनेद्यः । ४ अन्नचयः । ५ अन्नमि-
 शस्त्यः । ६ उपध्यः । ७ सुनीथः । ८ पाकः । ९ घामः ।
 १० वयुनमिति दश प्रशस्यनामानि ॥ ८ ॥

१ केतुः । २ वेतः । ३ चेतः । ४ चित्तम् । ५ क्तुः । ६ असुः ।
 ७ धीः । ८ शर्ची । ९ माया । १० वयुनम् । ११ अमिच्छेत्ये-
 कादश प्रशानामानि ॥ ९ ॥

१ षट् । २ श्रत् । ३ सत्रा । ४ भद्रा । ५ इत्था । ६ मृतमिति
 षट् सत्यनामानि ॥ १० ॥

१ चिक्वत् । २ चाकनत् । ३ अचक्ष्म । ४ चप्ते । ५ विचप्ते ।
 ६ चिचर्षणिः । ७ विश्वचर्षणिः । ८ अब चाकशदित्यष्टौ पश्यति-
 कर्माणः ॥ ११ ॥

१ हिकम् । २ लुकम् । ३ सुफम् । ४ आहिकप् । ५ आर्काम् ।

६ नकिः । ७ माकिः । ८ नकीम् । ९ आकृतमिति नवोत्तराणि
पदानि सर्वपद समाधानाय ॥ १२ ॥

१ इदमिव । २ इदं यथा । ३ अस्मिर्न ये । ४ चतुरश्विददमानात् ।
५ ब्राह्मणा व्रतचारिणः । ६ वृक्षस्य तु ते पुरुहूत घयाः ।
७ जार आ भगम् । ८ मेवो भूतोऽमि यज्ञयः । ९ तद्रूपः ।
१० तद्वर्णः । ११ तद्वत् । १२ तयेत्युपमाः ॥ १३ ॥

१ अर्चति । २ गायति । ३ रैमति । ४ स्तोमति । ५ गूर्धयति ।
६ गृणाति । ७ जरते । ८ ह्रयते । ९ नदति । १० पृच्छति ।
११ रिहति । १२ धमति । १३ कृपायति । १४ कृपयति ।
१५ पनस्यति । १६ पनायते । १७ घल्गयति । १८ मन्दते ।
१९ भन्दते । २० छन्दति । २१ छन्दयते । २२ शशमानः । २३ रज्जयति ।
२४ रजयति । २५ शंसति । २६ स्तौति । २७ यीति । २८ रीति ।
२९ नीति । ३० भनति । ३१ पणायति । ३२ पणते । ३३ सपति ।
३४ पपृक्षाः । ३५ महयति । ३६ घाजयति । ३७ पूजयति ।
३८ मन्यते । ३९ मद्ति । ४० रसति । ४१ स्वरति । ४२ घेनति ।
४३ मन्द्रयते । ४४ जल्पतीति चतुश्चत्वारिंशदर्थकर्मणः ॥ १४ ॥

१ विप्रः । २ विप्रः । ३ गृत्सः । ४ धीरः । ५ घेनः । ६ घेधाः ।
७ कण्वः । ८ ऋभुः । ९ नवेदाः । १० फलिः । ११ मनीषी ।
१२ मन्धाता । १३ विधाता । १४ विपः । १५ मनश्चित् ।
१६ चिपश्चित् । १७ विपन्ययः । १८ आकेनिपः । १९ उशिजः ।
२० फीस्तासः । २१ अद्गातयः । २२ मतयः । २३ मतुथाः ।
२४ घायत इति चतुर्विंशतिर्मेधाधिनामानि ॥ १५ ॥

१ रैमः । २ जरिता । ३ कारुः । ४ नदः । ५ स्तामुः ।
६ कीरिः । ७ गौः । ८ सूरिः । ९ नादः । १० छन्दः । ११ स्तुप् ।
१२ रुद्रः । १३ कृष्ण्युरिति त्रयोदश स्तोतृनामानि ॥ १६ ॥

१ यज्ञः । २ वेनः । ३ अघ्वरः । ४ मेघः । ५ विदथः ।
६ नार्यः । ७ सधनम् । ८ होत्रा । ९ इष्टिः । १० देवताता ।
११ मखः । १२ विष्णुः । १३ इन्दुः । १४ प्रजापतिः । १५ धर्म इति
पञ्चदश यज्ञनामानि ॥ १७ ॥

१ भरताः । २ कुरवः । ३ घाघतः । ४ वृक्षवर्हिषः । ५ यतसुचः ।
६ मास्तः । ७ सधाधः । ८ देययव इत्यष्टावृत्तिघड्नामानि ॥ १८ ॥

१ ईमहे । २ यामि । ३ मन्महे । ४ इदि । ५ शग्धि ।
६ पूधि । ७ मिमिहि । ८ मिमीहि । ९ रिरिहि ।
१० रिरिहि । ११ पीपरत् । १२ यन्ताः । १३ यन्धि ।
१४ इपुध्यति । १५ मदेमहि । १६ मनामहे । १७ मायत
इति सप्तदश याज्याकर्माणः ॥ १९ ॥

१ दाति । २ दाशति । ३ दासति । ४ राति । ५ रासति ।
६ पृणक्षि । ७ पृणाति । ८ शिक्षति । ९ तुअति । १० मंहत इति
दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

१ परिस्रव । २ पवस्व । ३ अभ्यर्ष । ४ आशिष इति चत्वारो
रोध्येपणाकर्माणः ॥ २१ ॥

१ स्वपिति । २ सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

१ कृषः । २ कातुः । ३ कर्त । ४ चवः । ५ काटः । ६ खातः ।
७ अघतः । ८ क्रिविः । ९ सूदः । १० उत्सः । ११ श्रय्यदात् ।

१२ कारोतरात् । १३ कुशायः । १४ केवट इति चतुर्दश कृपना-
मानि ॥ २३ ॥

१ तूपुः । २ तकाः । ३ स्मिन्वा । ४ स्मिणुः । ५ स्मिन्वा । ६ स्मिन्वायाः ।
७ तायुः । ८ तस्करः । ९ वनर्गुः । १० हुरस्वित् । ११ मुपीवान् ।
१२ मलिम्लुचः । १३ अघशंसः । १४ वृक इति चतुर्दशीघ स्तेन-
नामानि ॥ २४ ॥

१ निष्यम् । २ सस्वः । ३ सनुतः । ४ हिरक् । ५ प्रतीच्यम् ।
६ अपीच्यमिति पणिर्णोतान्तर्हितनामधेयानि ॥ २५ ॥

१ आके । २ पराके । ३ पराचैः । ४ आरे । ५ पराचत इति
पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

१ प्रक्षम् । २ प्रदिघः । ३ प्रययाः । ४ सनेमि । ५ पूर्व्यम् ।
६ अक्षयेति षट् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

१ नयम् । २ नूतम् । ३ नूतनम् । ४ नय्यम् । ५ इदा । ६ इदा-
नीमिति षडेव नयनामानि ॥ २८ ॥

१ प्रपित्वे । २ अमीके । ३ वन्नम् । ४ अर्भकम् । ५ तिष्ठ ।
६ सतः । ७ त्वः । ८ नैमः । ९ ब्रह्मः । १० स्तुभिः । ११ चम्रीभिः ।
१२ उपजिहिका । १३ ऊर्दम् । १४ हृदम् । १५ रम्मः ।
१६ विनाकम् । १७ मेना । १८ ग्राः । १९ शेषः । २० वीतशः ।
२१ अया । २२ ष्णा । २३ सिपक् । २४ सचते । २५ भ्यसते ।
२६ रेजत इति षड्विंशतिर्द्विंश उत्तराणि नामानि ॥ २९ ॥

१ स्वधे । २ गुग्धी । ३ धियजे । ४ गेदसी । ५ क्षोणी ।
६ अम्मसी । ७ नभसी । ८ रजसी । ९ सदसी । १० सन्ननी ।

२१ घृतवती । २२ चटुले । २३ गर्मीरे । २४ गम्मीरे । २५ ओण्यो ।
 २६ चम्प्यो । २७ पाङ्ग्यो । २८ मही । २९ उर्वो । ३० पृथ्वी ।
 ३१ अदिती । ३२ अही । ३३ दुरेअन्ते । ३४ अपारे अपारे इति
 चतुर्विंशतिर्द्योवोपृथिवीनामधेयानि नामधेयानि ॥ ३० ॥

उर्ध्वहन्महद्वय हरज्यति शिखाता निर्णिगस्तेमा वेतुर्वट् चिक्यद्विकमिन्मि
 वार्वति विप्रो रेभो यज्ञो भरता ईमहे दाति परित्य स्वपिति कम्-
 स्तुर्धुर्नयमाके प्रत्नं नयं प्रपित्ये स्वये त्रिशां ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।



१ जहा । २ निधा । ३ शिताम । ४ मेहना । ५ वमूनाः । ६ मूपः ।
 ७ इपिरेण । ८ कुस्तन । ९ जटरे । १० तितड । ११ शिप्रे ।
 १२ मय्या । १३ मन्दू । १४ ईमान्तासः । १५ कायमानः ।
 १६ लोधम् । १७ शीरम् । १८ चिद्रधे । १९ दुषदे । २० तुग्यनि ।
 २१ नंसन्ते । २२ नसन्त । २३ आहनसः । २४ अद्यसन् ।
 २५ इग्मिणः । २६ घाहः । २७ पस्तिवम्या । २८ सुचिते । २९ दयते ।
 ३० नू चित् । ३१ नू च । ३२ दावने । ३३ भकृपाख्य । ३४ शिशीते ।
 ३५ मुतुकः । ३६ मुप्रायणाः । ३७ अप्रायुवः । ३८ च्यवनः ।

३६ रजः । ४० हरः । ४१ जुहुरे । ४२ व्यन्तः । ४३ काणाः ।
 ४४ घाशी । ४५ विपुणः । ४६ जामिः । ४७ पिता । ४८ शंयोः ।
 ४९ अदितिः । ५० एरिरे । ५१ जसुरिः । ५२ जरते । ५३ मन्दिने ।
 ५४ गौः । ५५ गातुः । ५६ दंसयः । ५७ तूताय । ५८ वयसे ।
 ५९ चियुते । ६० ऋधक् । ६१ अस्यः । ६२ अस्येति द्विपष्टिः
 पदानि ॥ १ ॥

१ सज्जिन् । २ घाहिष्ट । ३ दूतः । ४ वावशानः । ५ वार्यम् ।
 ६ अन्धः । ७ असध्वन्ती । ८ वनुष्यति । ९ तरुष्यति । १० भन्दनाः ।
 ११ आहनः । १२ नदः । १३ सोमो अक्षाः । १४ भ्वात्रम् । १५ ऊतिः ।
 १६ हासमाने । १७ पद्भिः । १८ ससम् । १९ द्विता । २० माः ।
 २१ घराहः । २२ स्वसराणि । २३ शर्याः । २४ अर्कः । २५ पचिः ।
 २६ वक्षः । २७ धन्य । २८ सिनम् । २९ इत्था । ३० सचा ।
 ३१ चित् । ३२ आ । ३३ चुल्लम् । ३४ पवित्रम् । ३५ तौदः ।
 ३६ स्वज्ञाः । ३७ शिपिघिष्टः । ३८ विष्णुः । ३९ आघृणिः ।
 ४० पृथुस्रयाः । ४१ अथर्वम् । ४२ काणुका । ४३ अध्रिगुः ।
 ४४ आङ्गूयः । ४५ आपान्तमन्युः । ४६ श्मशा । ४७ उर्वशी ।
 ४८ वयुनम् । ४९ घाजपस्त्यम् । ५० घाजगन्ध्यम् । ५१ गध्यम् ।
 ५२ गधिता । ५३ कौरयाणः । ५४ तौरयाणः । ५५ अहयाणः ।
 ५६ हरयाणः । ५७ आरितः । ५८ वन्दी । ५९ निण्यपी ।
 ६० तूर्णाशम् । ६१ क्षुम्पम् । ६२ निवृम्पुणः । ६३ पदिम् ।
 ६४ पादुः । ६५ वृकः । ६६ जोष्याकम् । ६७ रुत्तिः । ६८ भ्यात्री ।
 ६९ समस्य । ७० कुटस्य । ७१ चर्पणिः । ७२ शम्यः । ७३ केपयः ।

७४ तृणमाह्वये । ७५ अंसत्रम् । ७६ काकुदम् । ७७ वीरिते ।
७८ अच्छ । ७९ परि । ८० ईम् । ८१ सीम् । ८२ एनम् । ८३ एनाम् ।
८४ स्त्रिणिरिति चतुस्तत्पर्ययैः पदानि ॥ २ ॥

१ आशुशुश्रूणिः । २ आशाम्यः । ३ काशिः । ४ कुणारम् ।
५ अलातृणः । ६ सल्लूकम् । ७ कल्पयम् । ८ पिष्टुहः ।
९ वीरयः । १० नमदाश्रम् । ११ अस्तुघ्नोयुः । १२ निश्रुम्माः ।
१३ धृषदुक्थम् । १४ ऋदूदः । १५ ऋदूपे । १६ पुलुकामः ।
१७ असिन्यती । १८ कपना । १९ भाञ्जनीकः । २० रुजानाः ।
२१ जूर्णिः । २२ ओमना । २३ उपलप्रक्षिणी । २४ उपसि ।
२५ प्रकलपित् । २६ अम्यर्थयथा । २७ ईक्षे । २८ क्षोणस्य ।
२९ अस्मे । ३० पायः । ३१ सवीमनि । ३२ सप्रधाः । ३३ विद-
थानि । ३४ श्रायन्तः । ३५ आशीः । ३६ अजीगः । ३७ अमूरः ।
३८ शशमानः । ३९ दैवो दैवाच्या कृपा । ४० विजामातुः ।
४१ ओमासः । ४२ सोमानम् । ४३ अनवायम् । ४४ फिमीदिने ।
४५ अमवान् । ४६ अमीवा । ४७ दुरितम् । ४८ अप्या ।
४९ अमतिः । ५० श्रुष्टी । ५१ पुरन्धिः । ५२ रशत् । ५३ रिशा-
दसः । ५४ सुदत्रः । ५५ सुविदत्रः । ५६ आनुयक् । ५७ तुर्वणिः ।
५८ गर्वणसे । ५९ असूते सते । ६० अम्यक् । ६१ यादृशिमन् ।
६२ आर्यायि । ६३ अग्रिया । ६४ चनः । ६५ पचता ।
६६ शुरुधः । ६७ अमिनः । ६८ जज्मर्ताः । ६९ अप्रतिष्कृतः ।
७० शाश्वदानः । ७१ सुप्रः । ७२ सुशिप्रः । ७३ रंसु । ७४ द्विर्वाः ।
७५ अमः । ७६ उराणः । ७७ स्तिप्यानाम् । ७८ स्तिपाः ।

७६ जयाह । ८० जरुयम् । ८१ कुलिशः । ८२ तुञ्जः । ८३ वर्हणा ।
 ८४ ततनुष्टिम् । ८५ इलीविशः । ८६ कियेघाः । ८७ भूमिः ।
 ८८ विष्पितः । ८९ तुरीपम् । ९० रास्पिनः । ९१ ऋज्जतिः ।
 ९२ ऋज्जुनींती । ९३ प्रतद्वस् । ९४ हिनोत । ९५ चोष्क्यमाणः ।
 ९६ चोष्क्यते । ९७ सुमत् । ९८ दिविष्टिषु । ९९ दूतः ।
 १०० जिन्वति । १०१ अमन्नः । १०२ अरुचीपमः । १०३ अनर्शरातिम् ।
 १०४ अतर्षा । १०५ अस्तामि । १०६ गल्दया । १०७ जलह्वयः ।
 १०८ यकुरः । १०९ वेकनाटान् । ११० अमि धेतन । १११ अंगुरः ।
 ११२ यतः । ११३ घाताप्यम् । ११४ चाफन् । ११५ रथ्यति ।
 ११६ अस्तक्राम् । ११७ आधयः । ११८ अनवग्रवः । ११९ सदान्ये ।
 १२० शिरिम्बिडः । १२१ पराशयः । १२२ किचिर्वसी । १२३ फरु-
 लती । १२४ दनः । १२५ शराहः । १२६ इदंयुः । १२७ धीफटेपु ।
 १२८ पुन्दः । १२९ घृन्दम् । १३० फिः । १३१ उत्त्यम् ।
 १३२ मृषीसमृषीसमिति ऋग्निशञ्जतं पदानि ॥ ३ ॥

अहा सखिमाशुशुभनिखोनि ।

॥ इति ऋग्योऽध्यायः ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

१ अग्निः । २ जातवेदाः । ३ वैश्वानर इति त्रीणि पदानि ॥१॥

१ द्रधिणोदाः । २ इध्मः । ३ तनूनपात् । ४ नराशंसः ।
५ इलः । ६ षहिः । ७ डारः । ८ उपासानक्ता । ९ दैव्या होतारा ।
१० तिष्ठो देवीः । ११ त्वष्टा । १२ घनस्पतिः । १३ स्वाहाष्टय
इति अयोदश पदानि ॥ २ ॥

१ अश्वः । २ शकुनिः । ३ मण्डूकाः । ४ अक्षाः ।
५ प्रावाणः । ६ नाराशंसः । ७ रथः । ८ दुन्दुभिः । ९ इधुधिः
१० हस्तप्रः । ११ अमीशयः । १२ चतुः । १३ ज्या । १४ इषुः ।
१५ अग्रधाजनी । १६ उद्गवल्गम् । १७ वृषभः । १८ वृषणः ।
१९ पितुः । २० नयः । २१ आपः । २२ औषधयः । २३ राशिः ।
२४ अरण्यानी । २५ अक्षा । २६ पृथिवी । २७ अप्या ।
२८ अग्रायी । २९ उद्गवल्गुसले । ३० इविधनि । ३१ दाया-
पृथिवी । ३२ विपाद्द्युतुद्री । ३३ आद्यौ । ३४ शुनासीरौ ।
३५ देवी जोष्री । ३६ देवी ऊर्जाहुती इति पद्भिश्चात्पदानि ॥ ३ ॥

१ घायुः । २ वरुणः । ३ रुद्रः । ४ इन्द्रः । ५ पर्जन्यः ।
६ बृहस्पतिः । ७ ब्रह्मणस्पतिः । ८ क्षेम्य पतिः । ९ धाम्स्तो-
स्पतिः । १० धात्रस्पतिः । ११ अपां नपान् । १२ यमः ।
१३ मित्रः । १४ वः । १५ सरस्वात् । १६ विद्मकर्मा ।
१७ तार्क्ष्यः । १८ मन्युः । १९ इधिकाः । २० सचिता ।
२१ त्वष्टा । २२ पातः । २३ अग्निः । २४ वेनः । २५ असुर्जातिः ।

२६ ऋतः । २७ इन्द्रुः । २८ प्रजापतिः । २९ अहिः । ३० अहि-
र्युध्न्यः । ३१ सुपर्णः । ३२ पुरुरवा इति द्वात्रिंशत्पदानि ॥ ४ ॥

१ श्येनः । २ सोमः । ३ चन्द्रमाः । ४ मृत्युः । ५ विश्वानरः ।
६ धाता । ७ धियाता । ८ मरुतः । ९ रुद्राः । १० ऋभयः ।
११ अङ्गिरसः । १२ पितरः । १३ अथर्वाणः । १४ भृगवः ।
१५ आप्त्याः । १६ अदितिः । १७ सरमा । १८ सरस्वती ।
१९ घाक् । २० अनुमतिः । २१ राका । २२ सिनीवाली ।
२३ कुहूः । २४ यमी । २५ उर्वशी । २६ पृथिवी । २७ इन्द्राणी ।
२८ गौरी । २९ गौः । ३० घेनुः । ३१ अग्न्या । ३२ पथ्या ।
३३ स्वस्तिः । ३४ उपाः । ३५ इला । ३६ रोदसी इति पद्मत्रिंश-
त्पदानि ॥ ५ ॥

१ अश्विनी । २ उपाः । ३ सूर्या । ४ वृषाकपायी । ५ सरण्यूः ।
६ त्वष्टा । ७ सविता । ८ भगः । ९ सूर्यः । १० पूषा ।
११ विष्णुः । १२ विश्वानरः । १३ वरुणः । १४ केशी । १५ केशिनः ।
१६ वृषाकपिः । १७ यमः । १८ अज एकपात् । १९ पृथिवी ।
२० समुद्रः । २१ अथर्वा । २२ मनुः । २३ दध्यङ् । २४ आदि-
त्याः । २५ सप्त प्रहस्पयः । २६ देवाः । २७ विश्वे देवाः ।
२८ साध्याः । २९ वसवः । ३० धाजिनः । ३१ देवपत्न्यो देव-
पत्न्य इत्येकत्रिंशत्पदानि ॥ ६ ॥

अग्निर्द्रविणोदा अश्वो घायुः श्येनोऽश्विनी पद् ।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तम् ॥

अथ प्रथमाध्यायः ।

—:४४:—

"अथातोऽनुक्रमिष्यामः"—इत्यादि (२, ५) निरुक्ते तस्य टीकायाश्च यन्नेघण्टुककाण्डविषयमुक्तं तत् सर्वं तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥

आदित एकविंशतिः पृथ्वीनामधेयानि—

ॐ गौः (१) । म्मा (२) । उमा (३) । क्ष्मा (४) । क्षा (५) । क्षमा (६) । क्षोणिः (७) । क्षितिः (८) । अग्निः (९) । उर्वी (१०) । पृथ्वी (११) । मही (१२) । रिपः (१३) । अदितिः (१४) । इला (१५) । निर्वृतिः (१६) । भूः (१७) । भूमिः (१८) । पूषा (१९) । गान्धर्व (२०) । गोत्रा (२१) इत्येकविंशतिः पृथ्वीनामधेयानि ॥१॥

(१) गौः । 'गम्लगतां (भू० प०)' अस्माद् 'गमेडोस्' (उ० २, ६३)—इति कर्त्तरि कारके अधिकरणे घा डोः प्रत्ययः ।

गातेर्वा स्तुत्यर्थात् (अदा० प०) बाहुलकोक्तेः (३, ३, ११३) कर्मण्यधिकरणे वा । 'गोतोणित् (७, १, ६०)'—इति च णिङ्द्वाद्याद् वृद्धिः । अत्र माप्यम्—'गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद्दूरं गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति गातेर्घोकारो नामकरणः (निह० २, ५),—इति । अस्य स्कन्दस्वामी—'दूरं गता भवति नैरन्तर्येणात्माकाशाद्विचत् दूरेऽप्युपलब्धेर्गतिक्रियाव्यवहारः' । अन्यत्रान्यत्र चोपलब्धेर्दूरोपदेशः । प्रत्ययोपात्तरुढ्यर्थसम्बन्धाच्च गमिरत्र नैरन्तर्योपलब्धिदूरविशिष्टं गमनमुपादत्ते, 'तक्षा' 'पट्टिाजकः' इति यथा । यच्चास्यां भूतानि प्राणिनो गच्छन्ति । चो घाथे । गातेर्वा स्तुत्यर्थस्य । (अदा० प०) गीयते स्तुयतेऽसाविति, गायन्ति घाम्यां स्थिता इति गौः । उदाहरणम् 'गोपदसि' इति । गार्हपत्योपस्थाने विनियोगात्, गार्हपत्यस्य च गवि पृथिव्यां सद्मात् गोशब्दस्य पृथिव्यभिधानत्यभिधितमिति । एवमन्येष्वप्युदाहरणेषु तत्र तत्र मन्त्रवानपार्थसमावायेन अभिधेयं प्रदर्शनीयं निश्चित्य तत्तदर्थभिधायित्वम् । "ब्रजं गच्छ गोष्ठानम् (य० घा० सं० १, २५-२६)"—"गौर्जगार यद्गृच्छान् (ऋ० सं० १०, ३१, १०)"—"अभवत् पूर्या मृमना गौः (ऋ० सं० १०, ३१, ६)" इति निगमाः ॥

(२) गमा । गमेः पूर्वस्मिन्नेव कारकद्वये 'कनिन्युवृष्टिश्चि (उ० १, १५४)'—इत्यादिना विहितः कनिनप्रत्ययो बाहुल्यफान् भवति । 'गम-हन-जन-खन-घसा लोपः किङ्कत्यनङिः (६, ४, ६८)'—इत्युपधालोपः, औणादिकेन 'मानन् (उ० ४, १४०)'—इति सूत्रेण

या मनिति बाहुल्यकान् (३, ३, १) टिलोपः, 'डाबुभाभ्यामन्यतर-
स्याम् (४, १, १३) । अर्थः पूर्ववदेव । 'ग्मागच्छते; गच्छन्तीर्ही-
यम्'—इति-माधवः । "दिवश्च गमश्चापाञ्च जन्तवः (ऋ० सं० १०,
४६, २)" —"दिवश्च गमश्च मर्त्यम् (ऋ० सं० १०; १२, ६)" —इति
च निगमौ । गम इत्यत्र छान्दसत्वाद्गुपसिद्धिः ॥

(३) उमा । जमतिर्गनिकमां (निघ० २, १०) 'जमु अदनें
(भू० प०)'—जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०),—'अञ्जू व्यक्ति प्रक्षण-
कान्ति-गतिषु (ऋ० प०)' प्रक्षणं सेचनमिति तद्वृत्तिः । पनेभ्यः
'भ्यन्नुक्षन् पूषन् ह्रीहन् (उ० १, १५५)'—इत्यादिना परिज्मश्रिति
कनिगन्तं सोपसर्गं निपानितम्, बाहुल्यकात् (३, ३, १) निरुपसर्ग-
मपि भवति । निपातनादेश कारकविशेषसिद्धिः । 'डाबुभाभ्याम-
न्यतरस्याम् (४, १, १३)' । गती पूर्ववदर्थः । अदन्ति वास्यां
भूतानि, जातानि वा स्वकारणान्, जायन्तेवास्या ओपधयः । तथा-
चोपनिषत्,—'अदृम्यः पृथिवी, पृथिव्या ओपधयः (तै० उ० २, १)'
—इति । अथवा व्यक्ता सर्वेषां प्रत्यक्षा न ह्याकाशादिवद्व्यक्ता
पृथिव्या, 'तिम्बो महीरुपरास्तम्धुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्शयंका
(ऋ० सं० ३, ५६, २)'—इति च श्रुतिः । अक्ता सिक्ता भवति
वृषेण; 'तस्मादसाविमां वृष्ट्याभ्युनन्दयमिजिघ्रति (ऐ० घ्रा० १,
२, १)'—इति ब्राह्मणम् । "ये के च उमा महिनो अहिमायाः (ऋ० सं०
६, ५२, १५)" —"असिक्त्वेन्द्रभूरधज्मन् (ऋ० सं० ७, २१, ६)," —
"उमया अत्र चसवोरन्त देवाः (ऋ० सं० ७, ३६, ३)" —"अधर्म्मोः
अधचा दिवः (ऋ० सं० ८, १, १८)" —इति च निगमाः ॥

(४) क्षमा । 'क्षि क्षये' मूवादिः (प०), 'क्षि निवासगत्योः' तुवादिः (प०), 'क्षि हिंसायाम्' कयादिः (प०), क्षै, जै, सै, क्षये (भू०प०), 'क्षमूप् सहने (दि० प०)', 'क्षमायी विधूनने (भू० आ०)'—एतेभ्यः औणादिके मनिनि (उ० ४, १४०) बाहुलकादूपसिद्धिः । अपि गताचर्य उक्तः । क्षिप्रन्ति निघसन्त्यस्यां प्राणिनः, क्षायन्ति अघययं गच्छन्त्यस्यां पदार्था इति वा, हिंस्यन्तेऽस्यां पापहत इति वा, क्षमते वा प्राणिजातरूपं, भारं विधनयति वा प्राणिनः स्वकीयफले । "पिता यत्त्वां दुहितरमधिष्कन् क्षमया रेतः (ऋ० सं० १०, ६१, ७)"—"क्षमया चरति परि सा धृणक्तु नः (ऋ० सं० ७, ४६, ३)"—इति च निगमौ ॥

(५) क्षा । निरूपिता एव धातवः । 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति सोपपदात् जनेर्विधीयमानो ङः प्रत्ययः, 'अपिशब्दः सर्वेषां धि-अभिचारार्थः'—इत्युबतेर्निरूपपदेभ्योऽपि भवति । क्षमायस्तु छान्दसत्त्वान्मकारलोपः । अर्थः पूर्वोक्त एव । "जातस्य च जायमानस्य च क्षाम् (ऋ० मं० १, ६६, ७)"—इति निगमः ॥

(६) क्षमा । निरूपिता एव धातुभावाः । औणादिके मनिनि (उ० ४, १४०) बाहुलकादूपसिद्धिः । अर्थः पूर्वोक्त एव । 'क्षमूप् सहने (दि० प०)'—इत्यस्माद् वा पूर्ववन् टाप्प्रत्ययः । "यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा (ऋ० सं० २, १४, ११)"—इति निगमः ॥

(७) क्षोणिः । 'दुक्षु रुक्ष शब्दे' अदादिः (प०) 'धीन्याज्य-रिभ्यो निः (उ० ४, ४८)'—इति विहितो निप्रत्ययो बाहुलकाद्

भवति, गुणः णत्वम् । क्षूयते शब्दयुते स्तूयते स्तोतृभिः, क्षवन्त्य-
स्यां भूतानीति घा । क्षोणीति ईकारान्तं केचित् पठन्ति । तदा
'ह्रदिकारपदक्तिनो घा ङीप् चकत्वः (४, १, ४५ वा०)'—इति
ङीप् । "नयन्त क्षोणयो यथा (ऋ० सं० १०, २२, ६)" — "यं
क्षोणीरनुचक्रदे (ऋ० सं० ८, ३, १०)" —इति निगमौ ॥

(८) क्षितिः । 'क्षि निघासगत्योः (तु० प०),' 'क्षि क्षये
(भू० प०)' 'क्षि हिंसायां (स्वा० प्रया० प०)' —एतेभ्यो-
ऽपि 'घसेस्तिः (उ० ४, १७५)'—इति विहितस्ति-प्रत्ययो बाहुल्य-
काद् (३, ३, १) भवति, गुणामाद्यश्च । अथवा सिन्ध्यां
क्तिन् (३, ३, ६४) कर्मण्यधिकरणे (३, ३, ६३) चा भवति ।
अर्थस्तु ह्मेत्यत्रोक्तः "क्षेति क्षितीः सुभगो नाम पुष्यन् (ऋ०
सं० ५, ३७, ४)" — "वीहि खस्ति सुक्षितिं दिधः (ऋ० सं० ६,
२, ११)" —इति निगमौ ॥

(९) अचनिः । "अघ रक्षण-गार्त-तृप्ति-भीत्य-ऽघगम-प्रवेश-
अवण-सामर्थ्य-याचन-क्रिये-च्छा-दीप्त्य-ऽवाप्त्रया-ऽऽलिङ्गन-हिंसा-
दान-भाग-वृद्धिषु (भू० प०)" —अस्मात् "अर्त्तिसृष्टधम्यम्यश्यधि-
तृभ्योऽनिः (उ० २, ६५)" —इत्यनि-प्रत्ययः । अचति प्रजाः अध्यन्ते
घा भूपैः । एतावत्स्वर्गेषु यो योग्यः स वोद्धव्यः । "आ घां
रक्षोऽचनिर्न प्रवत्वान् (ऋ० सं० १, १८१, ३)" — "यत्सी महीम-
चनिं प्राप्ति ममृशत् (ऋ० सं० १, १४०, ५)" —इति च निगमौ ॥

(१०) उर्वी । "ऊर्णुञ्—आञ्जादने (अदा० उ०)" —अस्मात्
"महति ह्रस्वश्च (उ० १, ३०)" —इति उप्रत्ययो णलोपो ह्रस्वश्च,

उक्तः । “घोतोगुणवचनात् (४, १, ४४)”—इति ङीप् । ऊर्णोति ।
आच्छादयति उर्वो । महर्वादाच्छादयित्री भूमिः सस्मिन्
हितानां वा पदार्थानाम् । वृणोतेर्वा (स्वा०प०) पृषोदरादित्वात् (६,
३, १०६) रूपसिद्धिः । ‘छादनार्थं विशिष्टम्’—इति स्कन्दस्यासी ।
वृणोतेराच्छादनार्थत्वेऽनुवादश्च । “मा सीमयद्य आ भागुर्यो
काष्टा (ऋ०सं० ८, ८०, ८)” —इति निगमः ॥

(११) पृथ्वी । ‘प्रथ प्रत्ययाने (भू० आ०)’—प्रथि-प्रविशसृजां
सम्प्रसारणं सलोपश्च (३०१, २७) —, तिङु-प्रत्ययः सम्प्रसारणश्च ।
प्रथतेऽलाघिले पृथुः । पूर्वयत् (४, १, ४४) ङीप् । पृथ्वी विस्तीर्णो-
त्यर्थः । पञ्चाशत्पोट्टियोजनविस्तीर्णोति पृथिवी । यद्वा अन्तर्भा-
वितप्यर्थात् प्रथतेः ‘उणादयो घटुलम् (३, ३, १)’, ‘भूतेऽपि दृश्यन्ते’
(३, ३, २)—इति घञनात् भूते कु-प्रत्ययः । ब्रह्मणा पूर्वमेव
विस्तारित्वेत्यर्थः । ‘तत्पुष्करपर्णेऽग्रथयत् यदग्रथयन् पृथिवीं पृथिवी-
त्यम् (य० श० ११, १६, १३, २)’—इति हि ब्राह्मणम् । ‘पृथुता राजा
अघतारिता पृथ्वी’—इति क्षीरस्वामी । स्तेगो न क्षामत्येति पृथ्वीम्
(ऋ० सं० १०, ३१, ६)—इति निगमः । “यत्रैकार्थानां पदानां
सन्निपातः सत्रैकं तस्य वाचकं भवति, अन्येषां निष्कृत्या योजनं
कर्तव्यम्”—इति मर्यादा, अनोऽत्र क्षामेत्यस्य निष्कृत्या
योजनम् ।

(१२) मर्षा । “मह पूजायाम्” भूवादः (प०) । “इन् सयं-
धातुभ्यः (३० ४, ११४)”—इति न्प्रत्ययः । “शुद्धिकारात् (४,
१, ४१ पा०)”—इति ङीप् । महते प्रजानिः, महति वा देवताः

स्वभाराचतरणाय । अथवा मानेन स्वगुणेन परिमाणेन स्वस्मादूनं
परिमाणं पातालं जहाति अतिक्रामति, मानशब्दाज्जहातेश्च महो ।
पृथोदरादित्यात् (६, ३, १०६) निर्वाहः । “आ नो महीमरमर्ति
सजोषा (ऋ० सं० ५, ४३, ६)”—इति निगमः ॥

(१३) रिपः । ‘रिपृ गनी (भू० आ०)’, ‘कियच्चिप्रच्छयायत-
स्तुकटप्रूज्जथीणाम् (३, ३, १७८ चा०),—इत्यत्र ‘प्राक्प्रत्ययनिर्दे-
शात् इष्टासद्धिः’—इति चचनाद् हस्ये रिपः । गौरित्यनेन
समानार्थः । यद्वा, ‘रिफ कत्थन-युद्ध-निन्दा-हिंसा-दानेषु’ तुदादिः
परस्मैपदा । क्विपि; फकारस्य फकारो व्यत्ययेन (३, १, ८५)
कत्थन-युद्धादीनस्यां कुर्यन्ति तत्कारिणः । यद्वा ‘लिप उपदेहे
(तु० उ०),’ लिप् । गोमयादिना आलिप्यते इति लिप् ।
रलयोरभेदः । तथाच माध्वीयनिर्वचनानुक्रमण्यां ‘लेपनाद्रे-
पणादपि’—इति । यद्वा : ‘रपलप व्यक्तायां घञि (भू० पू०)’
‘रपेनिञोपधायाः (उ० १, २५)’—इत्युत्पत्ये विधीयमानमित्थं
बाहुलकादन्यत्रापि भवति । आलपन्त्यस्यां प्राणिनः इति रिप्,
जसि रिपः ; एघंरुपस्य वेदेभूयोदर्शनात् यथादृष्टं पाठः । “रिहिहांस
रिप उपस्थे अन्तः (ऋ० सं० १०, ७६, ३)”—“पाति प्रियं रिपो
अग्रं पेदं वेः (ऋ० सं० ३, ५)”—इति च निगमौ ॥

(१४) अदितिः । ‘दीङ् क्षये (दि० आ०)’ । ‘इत्यल्युटो बहुलम्, (३, ३,
११३)’—इति कर्त्तरिक्तिनि छान्दसं ह्रस्वत्वम् नञ्समासः । अंदि-
तिः संकल प्रपञ्चधारणेप्यदीना न रिययते इत्यर्थः । ‘अदितिरदीना
(निग० ४, २२)’—इत्यत्र भाष्ये स्कन्दस्वामी यद्यपि नञपूर्वात् द्यतेः

याहुल्याच्च ऋग्वेद-दृष्ट-पाठ इति । “इलायांस्त्वा पदे घयं (ऋ० सं० ३, २६, ४)” “अथा होता न्यसीदो - यजीयानिलस्पद० (ऋ० सं० ६, १, २)” [‘इलश्लान्दसत्त्वादाकारलोपः’—इति स्कन्दस्वामी] “इलस्पदे समिध्यमे (ऋ० सं० १०, १६१, १)”—इति निगमाः ।

(१६) निऋतिः । ‘निऋतिर्निरमणात्’ (२, ७) निरुक्तम् । अस्य स्कन्दस्वामी=‘निरमणात्-निश्चलत्वेनावस्थानात्-इत्यर्थः, रमन्ते घास्यां भूतानि’—इति । तत्र निरपूर्वाद्भवेः (भू० आ०) ‘कृत्यल्युटो यहुलम् (३, ३, ६१३)’—इति कर्त्तर्यधिकरणे च क्तिनि (३, ३, ६४) अनुनासिकलोपः, ‘रमेर्मर्तो यहुलम् (६, १, ३४ घा०)’—इत्यत्र यहुलघञनान् सम्प्रसारणम् । आद्येऽर्थे निर्निश्चलत्वेमाह नानवस्थानम् उत्तरत्र घात्वर्थमनुषर्त्तते निः । घैयाकरण-पक्षेण तु निरुपमृष्टादत्तैः क्तिनि निऋतिः निःक्रान्तावृत्तेर्गमनान् निश्चलघट्टतिष्ठते इत्यर्थः । “यहुप्रजा निऋतिमाचियेश (ऋ० सं० १, १६४, ३२)” —“अथा शयीत निऋतेरुपग्ये (ऋ० सं० १०, ६०, १४)” —इति च निगमौ ॥

(१७) भूः । भू-सत्तायां (भू० प०) सम्पदादित्यान् भाषे णिप् (३, ३, ६४ घा०) । भवत्यस्यां सर्वमिति भूः । “मूर्द्धा मुचो भवति नत्तमग्निः (ऋ० सं० १०, ८८, ६)” —इति निगमः । रेफान्तं घ्यत्ययम्, यथा—“भूर्भुवः स्वः (य० घा० सं० ३६, ३)”—इति ॥

(१८) भूमिः । भुवः किल् (उ० ४, ४५)—इति भवनेः मिप्रत्ययः । अर्गः पूर्वघञ् । अथवा ‘भूतेऽपि दृश्यन्ते (३, ३, २)’

—इति, वचनात् भूते मिप्रत्ययः । ‘अभूतभूमिस्तथा अभूद्वा-
इदमिति तत्र भूम्यै भूमित्वम्’—इति श्रुतिः । “न्यङ्ङुत्तातामन्वेति
भूमिम् (ऋ० सं० १०, २७, १३)”—“भूमिर्भूमिप्रगात्”—इति
च निगमौ ॥

(१६) पूषा । ‘पुष पुष्टौ (भू० दि० त्रया० प०) । ‘श्वन्तु-
क्षन्पूषन् (उ० १, १५५)’—इत्यादिना कनिन्-प्रत्ययान्तो
निपात्यते, निपातनादुपधाया दीर्घः । ‘पुष्यति धान्यादिभिः समृद्धा
भयति पोषयति दान्नैः प्रजाः । ‘सर्वार्थपोषणात् पूषा’ इति
भट्टभास्करमिश्रः । तथा ‘पृथिवी न्यवर्त्तयत् सोपर्थाभिर्वनस्पति-
भिरपुष्यत्’ इति श्रुतिः । यद्वा : ‘पुष धारणे (चु० प०)’—इति
धातुः । धारयति सर्वाणि भूतानि पोषयत्याभरणानीति यथा ।
“आ पूषञ्चित्रार्हपम् (ऋ० सं० १, २३, १३)”—इत्यत्र माधवः
—‘पूषा पोषयतीति तस्य प्रत्यक्षं रूपम्’ । “पूषा त्वेतो तयतु
हस्तगृदा (ऋ० सं० १०, ८५, २६)”—इति, “सम्बन्धे गृण्णेऽन्त्ये
स्याद्वा (य० घा० सं० ४, ७)”—इति निगमः ॥

(२०) गातुः । ‘गाइ स्तुतौ’ छन्दसि जुहोत्यादिः (भू० प०),
‘गाइ गती (भू० आ०), ‘कै गै शब्दे’ भूयादिः (त्र०) । ‘कमि-मनि-
जनि-गा-भा-या-हिम्यश्च (उ० १, ७०)’—इति तु-प्रत्ययः । गायते
स्तुपतेऽर्त्ता. स्तुयन्ति वास्यं स्थिता इन्द्रादीन्, गच्छन्त्यस्यां
भूतानीति वा, गायन्ति वास्यं स्थिता गायना इति । यद्वा, गम्य-
तेऽन्तेनेति गातुर्मांसं, ‘लुगकारेकाररेफाश्चेति वक्तव्यम् (४, ४, १२८
घा० २)’—इति मन्वर्थायम्य लुक् । गातुः मार्गवती हि भूमिः ।

“इन्द्राय गातुस्तृतीये मे (ऋ० सं० ५, ३३, १०)”-“अदशिं गातु
रुरवे चरीयसी (ऋ० सं० १, १३६, २)”-इति निगमौ ॥

(२१) गोघ्रा । ‘गुङ् अव्ययते शब्दे (भू० आ०)’ । ‘गु-घृ-ची-
पचि-यचि-यमि- [मनि-तनि] सदि-क्षदिभ्यस्त्रः (उ० ४, १६२)’
—इति प्रत्ययः । गुणः । मृगपश्यादयोऽस्यामव्यक्तशब्दं
कुर्वन्तीति गोघ्रा । यडा ; गोघ्राः शैत्याः सन्त्यस्याम् अर्शभ्रादित्यात्
(५, २, १०७) अच् । यडा ; गोशब्दे कर्मण्युपपदे ‘वैष्पालने
(भू० आ०)’—इत्यस्मान् ‘आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)’ । टाप्
(४, १, ४) । गात्रायने ग्भति यवसोदकयत्तया । यडा, गोभिरा-
दित्यकिरणैर्घृष्टिप्रदानेन प्रायते ग्भने इति, ‘इत्यन्युटो बहुलम्
(३, ३, ११३)’—इति कर्मणि ‘आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)’ ।
यडा, गोशब्दान् ‘तस्य समूहः (४, २, ३७)’—इत्यस्मिन्नधिकारे
‘गल्-गो-ग्भान् (४, २, ५०)’—इत्यनुवृत्तिं ‘इति-प्र-कट्यचश्च
(४, २, ५१)’—इति प्र-प्रत्ययः । गोघ्रा, गवां समूहो मन्वर्थो-
योऽकारः । गोसमूहोऽस्यामस्तीति गोघ्रा । निगमोऽन्वयर्णायः ॥

इत्येकविंशतिः पृथिवी-नामधेयानि ॥ “उपान्व मे घृणो
मेधिगाय (ऋ० सं० ७, ८७, ४)” इत्यत्र माध्वयः “उपान्व
मां घृणो मेधाघिने” इति स तत्रैकविंशतिनामानि फानिदु
गोर्धिभर्तीति पृथिवीमाह तस्या हि याम्पयटिनानि एकविंशतिर्ना-
मानीति ॥ १ ॥

हेम (१) । चन्द्रम् (२) । म्वमम् (३) ।

अयः (४) । हिरण्यम् (५) । पेशः (६) । कृश-

नम् (७) । लोहम् (८) । कनकम् (९) । काञ्च-
नम् (१०) । भर्म (११) । अमृतम् (१२) ।
मरुत् (१३) । दत्रम् (१४) । जातरूपम् (१५) ।
इति पञ्चदश हिरण्यनामानि ॥ २ ॥

(१) हेम । 'हि गतौ घृद्वधौ च (स्वा० प०)' अस्मादुधत्तौः
'नामन्-सोमन्-व्योमन्-हेमन्-रोमन्-लोमन्-व्योमन्-धिधर्मन् पाप्मन्
(उ० ४, १५०)'—इति मनिघन्तं निपात्यते । दिनोति गच्छति
अनेन सुखं पुरुषः, गम्यते वा तदर्थिभिः, गच्छति वा स्वयं
कटकादिरूपां विकृतिम्, दिनोति याणिज्यादिना प्रतिदिनं
घर्द्धते । 'ताव्रासुपरि लेपनाद् घर्द्धते'—इति सुयोधिनी । अथवा
हितमापदि निहितं वा भूम्याद्दी दधातेहिरादेशो निपातनात् । हेम ।
“अस्य प्रेगा हेमना पूयमानः (ऋ० सं० ६, ६७, १)” —“अधो न
स्वे दम आ हेम्यावान् (ऋ० सं० ४, २, ८)” —इति च निगमौ ।
हेम्यावान्—हिरण्यगकक्ष्यया युक्तः ॥

(२) चन्द्रम् । 'चदि आहादने दीप्तौ च (भू० प०)' अस्मात्
'स्फायि-तश्चि-चश्चि-शक्-क्षिपि-श्रुदि (उ० २, १२)'—इत्या-
दिना रक् । चन्दयति, आहादयति तद्वत् दीप्यते वा स्वयं
तैजसत्वात् । यद्वा, णिजन्ताद्यदेर्बहुलकात् णिलोपः, दीपयति
धारयितृन्—दीप्यतेऽनेन धारयितेति वा । कान्त्थर्थो वा चदिः,
'चन्द्रः चन्दतेः कान्तिकर्मणः (निरु० ११, ५)'—इत्युक्तेः । काम्यते

सर्वः इति चन्द्रम् । “ये चध्वश्चन्द्रं घहन्तु (ऋ० सं० १०, ८५, ३१)”
—“दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम् (ऋ० सं० १०, १०७, ७)”
—इति च निगमौ ॥

(३) रथम् । ‘रथ दीर्घा (भू० आ०)’ ‘युजि-रुचि-तिजां
कुञ्च (उ० १, १४३)’—इति मक्प्रत्ययः कुट्त्वं च । गीयते तद्-
तिशयेन दीप्यते तेन तदिति च रथम् । “आ रथमैरायुधा नरः
(ऋ० सं० ५, ५२, ६)” —“एष रुचिममिरीयते (ऋ० सं० ६,
१५, ५)” —इति च निगमौ ॥

(४) अयः । ‘इण् गतो (अदा० प०)’ । अमुन् (उ० ४, १८४) । एति
गच्छति अंगुलीयकारूपेण शरीरम्, सूक्ष्मप्रत्य-संधिभागा-दिना
या । पुण्यात्पुण्यान्तरं गच्छत्यनेन धर्मदानादिनेति या ।
“अयः शीर्षा मदे रघुः (ऋ० सं० ८, १०१, ३)” —इति निगमः ॥

(५) हिरण्यम् । ‘ह्रस्व हरणे (भू० उ०)’ अस्मान् ‘हर्यतेः कन्यन्
हिरु ऋ (उ० ५, ४५)’ —इति विधीयमानः कन्यन्-प्रत्ययो
हिरादेश्च यादुल्काद् भवतः । तथाच अन्यधित्यधिरुत्व ‘ह्रस्व
इय’-इति भोजसूत्रम् । द्वियते जनाञ्जनमिति या संध्यवहागर्थम्,
द्रव्यस्यमायित्यात् नैकत्रायस्थायित्वं तस्य । अथवा द्विधातुर्गं
रूपम्,—दिनोतेः रमतेश्च घातुद्वयात् समुदितात् कन्यनप्रत्ययो
यादुल्कादृपसिद्धिश्च, हिनश्च तन् आपदि दुर्मिथार्दा, रमयति
च सयंदा सयमिति । अथवा हर्यतेः प्रेप्ताकर्मणः (निर० २, १०) —
हर्यतेः कन्यन् हिरश्च द्वियनेयंयाप्राप्तं रूपम् । सर्वेदि तन् सयंया
प्राप्तुमिष्यते । ‘हर्यति न्यग्रमया दीप्यते’ —इति गुणोधिर्नकारः ।

“हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृग् (ऋ० सं० २, ३५, १०)”—इति निगमः ॥

(६) पेशः । ‘पिश गतौ (चु० प०)’ । असुन् । अथ इत्यनेन समानार्थम् । “त्रिवन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा (ऋ० सं० १, ४७, २)”—इति निगमः । “हिरण्ययेन रथेन (ऋ० सं० ८, ५, ३५)”—हिरण्ययी वा रभिः (ऋ० सं० ८, ५, २६)”—इत्यादौ अश्विनोरथस्य हिरण्यकेश्युषसेः पेशोऽत्र हिरण्यम् । चूडवारण्यके—‘तद्यथा पेशस्कारी पेशसोमात्रा मपादायान्यं नवतरं कल्याणतरं’^१ रूपं तनुते (४ ४, ४)—इति । यथा । चाजसनेयके “सरस्वती मनसा पेशलम् (१६, ८३)”—इत्यत्र पेश इति हिरण्यनाम रूपताम वा, इत्युच्यते व्याख्यातम् ॥

(७) दृशानम् । ‘दृश तनूकरणे (दि० प०)’ । ‘कृ-पृ-वृजि-मन्दि-नि-धाञ्म्यः वयुः (उ० २, ७६)’—इति विधीयमानः पयुर्याहुलकाद् भवति । दृश्यति तनूकरोति यम् । अत्र माधवस्तु-‘दृशिर्दीप्त्यर्थः । दृश्यति स्वप्नभया क्षीयते, अपि वा कर्णयति संसृष्टं, दृशमेव वा भवति संस्थानतो रजतान्’—इति । “स्मदिष्टयः दृशनिनो निरेके (ऋ० सं० ७, १८, २३)”—“अभि द्यावं न दृशनेभिर्द्वयम् (ऋ० सं० १०, ६८, ६१)”—“अभिवृत्तं दृशनैर्द्वय-रूपम् (ऋ० सं० १, ३५, ४)”—इति निगमाः ॥

(८) लोहम् । ‘लुह कथनादौ (भू० प०)’ । घम् (३, ३, २१) । कथ्यते श्लाघतेऽनेनात्मा,—शिवर्गमाधनत्वात् पुनः सम्प्राप्यते

या । 'तृजो हः'—इति तु श्रीभोजदेवः । 'तुनातिं' छिनत्ति
पापसम्बन्धं पात्रे दीप्यमानम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) यनकम् । 'कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (भू० प०)' ।
'वृज्रादिभ्यः संज्ञायाम् (उ० ५, ३६)'—इति 'वुन्-प्रत्ययो
धात्वर्थेऽप्यपि । स्वमादिवदर्थोऽनुसन्धेयः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१०) फाञ्जनम् । अत्र सुयोधिनी—'कचि दीप्तिबन्धनयोः
(भू० आ०)' । कञ्जते यणेन दीप्यते यध्यते कुण्डलादिरूपेणेति ।
'युच् बहुलम् (३, ३, १३०)'—इति युच्-प्रत्ययः । दीर्घोऽत्र
यामुलकात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(११) भर्म । 'डु भृम् धारणपोषणयोः (जु० उ०)' । 'मनिन्
(३, २, ७५)' । प्रियते धार्यते, भृङ्गुत्यादिभिर्भाष्यते आपदर्थमिति
या, पोषयत्यनेन कुटुम्बमिति या । हर्मेर्वा (भू० उ०) मनिति 'ह्रस्व-
होर्मश्छन्दसि (सि० की० घे० ३ अ०)'—इति भक्ताः । हिरण्येन
हरति - धानुजेन समानार्थम् । 'सुधीराभिस्तिरानेयाजभर्मभिः (अ०
मं० ८, १६, ३०)'—'अग्निभर्मप्रागटि (अ० मं० ८, १८,
४)'—इति च निगमौ । 'याजभर्मभिः', 'अग्निभर्मन्'—इत्यत्र
माधयन्तु 'भर्त्तव्यं भर्म' इति ध्यायन्, नदा निगमोऽन्वेष-
णीयः ॥

(१२) अमृतम् । नम्रपूर्वान् प्रियतेः (तु० आ०) 'तन्निमृङ्ग्यां
किञ्च (उ० ३, ८५)'—तत्रप्रत्यये कप् । न प्रियतेऽनेन दुर्मि-
शादौ, नास्ति मृतं मरणमस्येति या, - न हि हिरण्यस्य यस्यां
कल्पाश्चिद्व्यभायामात्मनाशो विपत्तेः । 'मर्मेः'—प्रज्ञानं परि

यद्विरण्यममृतं दधे अधि मर्त्येषु (अथ० सं० १६, २६, १)—
इति खैलिको मन्त्रः । न ध्रियते पात्रे प्रतिपादितेन ध्रियमाणेन वा
आयुष्करत्वात् । 'आयुर्वै हिरण्यम्'—इति श्रुतिः । तथाच
खैलिको मन्त्रः—'यो विभर्त्ति दाक्षायणं^{१७} हिरण्यं^{१८} स देवेषु
कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः (य० वा० सं० ३४
५१)—इति । "मन्वा चक्राणो अमृतानि विद्या (ऋ० सं० १,
७२, १)"—"शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन
(य० वा० सं० ४, २६)"—इति निगमौ ।

(१३) मरुत् । मितममितं वा रोचते, मितममितं वा रोचयति,
मातैः पूर्याहं, रौतेर्योत्तराहंम्, पृषोदरावित्यात् (६, ३, १०६)
साधुः । हिरण्यं हि अग्न्यादि-तेजसि-पदार्थेभ्यो मितं भोगादि-
भ्योऽमिनं रोचते, अर्थिभ्यो दीयमानं लोकद्वयेऽपि कीर्त्तिं
कारयति । तथाच सुभाषितश्लोकः—'शृणु पाणो ! त्वयि न्यस्तं
कियत्क्राणादि कङ्कणम् । इदमेवार्थिहस्तस्थं राधयति च रोचते' ।
यद्वा, मृडौ रुतिः,—ध्रियतेधातोः (तु० आ०) रुतिप्रत्यये रूपम् ।
ध्रियन्तेऽनेन पुरया इति मरुत्,—एतदर्थं हि चौरादिभिः पुरया
हन्यन्ते । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१४) दधम् । 'हु दाञ् दाने (जु० उ०)' । 'अमिचिमि-
मिदि-शंसिभ्यः क्तः (उ० ४, १५६)—इति विधीयमानः क्तो
यादुल्लङ्घात् (३, ३, १) भवति । 'दो दधुघोः (७, ४, ४६)—
इति दद्-माघः । दीयतेपाद्येदधम् । "इन्द्र ! यत्ते माहिनं दधमस्त्य०
(ऋ० सं० ३, ३६, ६)"—इति निगमः ॥

(१५) जातरूपम् । 'जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)' । निष्ठा-
तकारः । "जनसनखनाम् (६, ४, ४२)" — इत्यात्वम् । जातः ।
"रुच दीप्तौ (भू० आ०) । 'स्वप्न-शिल्प-शण्य-चाप्प-रूप-पर्य-
तल्पाः (उ० ३, २६)' — इति षप्रत्ययान्तो निपातितः, निपातना-
बुकारस्य दीर्घश्चकारलोपश्च । रोचते रूपम् । अनाहार्यतया जातं
रूपमस्य जातरूपम् । तथाच रामायणे स्कन्दोत्पत्तौ — 'इह हिम-
घने भागे गर्भेऽयं सन्निवेश्यताम्' — इत्यतः 'परिनिक्षिप्तमाने गर्भे
तु नेजोभिरभिरञ्जितम् । सर्वं पर्वतसम्रङ्गं सौघर्णमभयद्धनम् ।
जातरूपमिति ख्यातं तदा प्रभृति राघव ! सुघर्णं पुरुषध्याग्र !
हुताशनसमप्रभम्' — इति (उ० का०) । जातं रूपं सौन्दर्यमनेन
धारयितृणामिति वा जातरूपम् । "जातरूपमयेन च पवित्रेणा-
न्तर्धायाम्यपिञ्चति (पे० ब्रा० ८, १८)" — इति निगमः ॥

इति पञ्चदश विरण्यनामानि ।

अम्बरम् (१) । वियत् (२) । व्योम (३) ।
वर्हिः (४) । धन्व (५) । अन्तरिक्षम् (६) ।
आकाशम् (७) । आपः (८) । पृथिवी (९) ।
भूः (१०) । स्वयम्भूः (११) । अध्वा (१२) ।
पुष्करम् (१३) । सगरः (१४) । समुद्रः (१५) ।
अध्वरम् (१६) । इति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥३॥

(१) अम्वरम् । 'अविड् शब्दे (भू० आ०)' । 'हृदरादयश्च
 (उ० ५, ४२)'—इति अरच्प्रत्ययान्तो निपात्यते । अम्वन्ते
 शब्दायन्तेऽस्मिन् मेघाः, अम्वन्ते शब्दायन्ते वा म्वयं वायु-
 मेघादिसंस्पर्शात्,—आकाशगुणो हि शब्दः । अथवा अर्त्तार्थातोः
 'अर्जिदृशिकम्यमिपस्तिवाधामृजिपशितुक्धुक्दीर्घहकाराश्च (उ० १,
 २६)'—इति अमतेर्विधीयमान उप्रत्ययो युगागमश्च बाहुल्येणात्
 (३, ३, १) भवति, तस्मिन्, गुणे, र-परत्वे च रेफम्य सकारश्च,
 अम्वु । अमतेरेय चा तेनैव सूत्रेण उप्रत्ययो युगागमश्च । उभयत्रापि
 गच्छति देशाद्वेशान्तरं गम्यते वा प्राणिभिरित्यम्वु जलम् । तद्वाति
 ददातीत्यम्वरो मेघः । 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)', वृषोदरादि-
 त्वात् (६, ३, १०६) उकारस्याकारः । तद्वदाकाशमप्यम्वरम् ।
 'लुगकारेकाररेफाश्च घक्तव्याः (४, ४, १२८ वा० २)'—इति
 मत्वर्थीयस्य लुक् । तदेव वा घर्षात् प्राणिभ्य उदकं ददातीति
 अम्वरम् । अथवा अम्वुशब्दे उपपदे गजतेर्धातोः 'आयेष्वपि
 दृश्यते' (३, २, १०६)—इति दृशिग्रहणान् डः, अपिशब्दस्य
 सर्वापाधिष्यभिचारार्थत्वादर्थसिद्धिः । अथवा अम्वुचद्राजने
 म्यस्थस्तिमितसाराम्बुवदवभासने । कल्पितोपमानञ्चैतन्, तद्यथा
 'पुर्जितमिव ध्वान्तं मेघो भाति मतङ्गजः । सर्गः शरत्प्रसन्नाम्भो
 नभः खण्डमिवोज्ज्वलम् ॥' परमार्थतः स्वरूपमवकाशः । अथवा
 अम्वुमत् भवति गो मन्वर्थीयः, पूर्ववदुकागम्याकारः, अन्नमिदं हि
 घर्षोदयेन तटन् । 'यथासत्या परावति यद्वाम्यो अध्यम्वरे (स०
 सं० ८, ८, १४)'—इति निगमः ॥

(२), वियत् । 'यमु उपरमे (भू० प०)'—इत्यस्मात् औणादिके
 क्विप् 'गमः कौ (६, ४, ४०)'—'गमादीनामिति वक्तव्यम्
 (६, ४, ४० वा०)'—इत्युक्तेरनुनासिकलोपः । 'ह्रस्वस्यपिति
 कृति तुक् (६, १, ७१)' । विगतं यमनमुपरमणमम्मादिति वियत्,
 —अन्नगिहं हि सर्वत्र व्याप्तत्वात् न कुत्रचित् उपरतम् । 'विय-
 च्छति न विरमति'—इति क्षीरस्थार्मी । 'यद्वा, विपूर्वात् 'यती
 प्रयत्ने (भू० आ०)'—इत्यस्मात् क्विप् । विविधं यतन्तेऽस्मिन्
 प्राणिनः,—आकाशे हि सर्वे व्याप्रियन्ते । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) व्योम । विपूर्वाद्दधतेर्याज्यर्थत्वात् (भू० प०)
 औणादिके 'सर्वधानुभ्यो मनिन् (उ० ४, १४४)'—इति सूत्रेण
 मनिनप्रत्यये 'उवर्त्यगन्निव्यचिमवामुपधायाश्च (६, ४, २०)'—
 इत्युटि गुणः । व्ययति व्याप्नोति सर्वं जगत् । यद्वा, अयनिर्गत्यर्थः
 (भू० प०) भावे मनिन् (उ० १, १३६),—ओम्, अयनं गमनं
 विविधमस्मिन् विद्यते । 'यद्वा, गृहणार्थः (भू० आ०),—विशेषे-
 णावति प्राणिनांऽयकाशप्रदानेन । उणादी तु 'नामन्-सीमन् व्यो-
 मन् (उ० ४, १५०)'—इत्यादिना 'व्येप्तसंघरणे (भू० उ०)'—
 इत्यस्मान्मनिनि उत्पन्नं निपात्यते । श्रूयते तद्वायुना व्योम । तथान्य
 निगन्तम्—'योनिगन्तगिहं महानवयवः परिवीतो वायुना (११,
 ४०)'—इति । इदं निर्वचनमेतन्पदकारयोः शाकल्याश्रयेयोर-
 नभिमतं धीन्यस्मिन्नवगृह्यतत्त्वान् । "सहस्राक्षरा पामे व्योमन्
 (ऋ० सू० ६, १६४, ४१)"—'मत्तयामाशिरं पूर्व्यं व्योमनि (ऋ०
 सू० ६, ३०, १)"—इति च निगमौ ॥

(४) 'वृहिः । वृहि वृद्धौ (भू० प०)' 'वृहेर्नलोपश्च (उ० २, १०२)'—इति इसि प्रत्ययः । "वृंहति वर्द्धतेऽनेन प्राणिजातम्,—सर्घे हि प्राणिन आकाशे वर्द्धन्ते," परिवृद्धं वा रघवं विभ्रुत्वात् । "यस्य त्रिधात्ववृत्तं बर्हिः (ऋ० सं० ८, १०२, १४)"—इति निगमः ॥

(५) घन्य । 'इचि रिचि घधि गत्यर्थाः (भू० प०)' । इदि-त्थान्नुम् (७, १, ५८) । "कनिन्धुवृषितक्षिराजिघन्विद्य प्रतिदिवः (उ० १, १५४),"—इति कनिन् । 'घन्वन्ति गच्छन्ति अस्मादापः । यद्वा, 'घनघान्ये (दि० आ०)', अनेकार्थत्वादर्थनार्थः । कनिप् । घन्वते अर्धरेतेऽवकाशप्रदानाय, देवतात्वात् स्वयं स्वमभीष्टं या । "यः परस्पाः परायतस्तिरोधन्यातिरोचते (ऋ० सं० १०, १८७, २)"—इति निगमः ॥

(६) अन्तरिक्षम् । 'अन्तरिक्षं कस्मात् ? (निरु० २, १०)'—इत्यादि भाष्यस्य स्कन्दस्याभिग्रन्थो यथादृष्टं लिख्यते—'अन्तरा मध्ये सूर्यभूतानां क्षान्तं शान्तं निःक्रियं वा शान्तमभ्यूहं विष्कम्भस्यानात्मकत्वात् । अन्तरा इमे रोदस्यौ क्षियतीति वा । अन्तरेमे क्षोण्याविति वा । एयमनेकचिकल्पमुत्तरपरम् । पूर्वशरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा, अन्तः-शब्दात् पूर्वपदमक्षय-शब्दादुत्तरपदं विनाशिष्वपि अविनाशीत्यर्थाः"—इति । सर्वत्र पृषोदरादित्वात् - (६, ३, १०६) साधु । "न यस्य चात्मापृथिवी न घन्य नान्तरिक्षम् (ऋ० सं० १०, ८६, ६)" —इति निगमः ॥

(७) आकाशम् । आङ्पूर्वात् 'काण्दीप्तौ (दि० आ०)'—इत्यस्मात् 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'—इति घप्रत्ययः । आ समन्तात् काशन्ते दीप्यन्ते सूर्यादयोऽत्र । यद्वा नभःपूर्वात् काशोः पचायच् (३, १, १३४), नञाच्छान्दसः (६, ३, १३६) दीर्घः । न काशते, पृथिव्यादिवत् अप्रत्यक्षत्वात् । तथा च श्रुतिः—“तिस्रो महीरुपरास्तस्युरत्या गुहा द्वे निहिते दर्शयन्का (ऋ० सं० ३, ५६, २)”—इति । 'तस्मान्नान्तरिक्षं पश्यति'—इति च “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः (तै० उ० २, १)”—इति निगमः ॥

(८) आपः । 'आङ्, घ्याप्तौ (भू० प०)' । 'आप्नोतेर्हस्यश्च (उ० २, ५५)'—इति क्तिप्प्रत्ययः उपधाहस्यञ्च । जसि 'अप्नून्तृच-स्यत् (६, ४, ११)'—इत्यादिना दीर्घः । आप्नोति हान्तरिक्षं सर्वं जगत्, आप्यतेषां प्राणिभिः । अपराब्दस्य निरयं बहुवचनान्तत्वात् बहुवचनान्तस्य पाठः । * * * “तृतीयमप्नु नृमणा भजन्म् (ऋ० सं० १०, ४५)”—इति निगमः ॥

(९) पृथिवी । 'प्रथ प्रस्थाने (भू० आ०)' । 'प्रथेः विपन सम्प्रसारणं च (उ० १, पा०)' । 'विदुर्गौरादिभ्यश्च (४, १, ४१)'—इति ङीप् । प्रथने पृथिवी । “यः पार्थिवस्य शम्यम्य राजा (ऋ० सं० २, १४, १६)”—“स दाधार पृथिवीं दामुनेमाम् (ऋ० सं० १०, १२१, १)”—इति च निगमो ॥

(१०) भूः । भवनेः (भू० प०) क्तिप् । भवत्यस्मात्पृथ्व्यादिः । निगमोऽन्येष्वर्णयः ॥

(११) स्वयम्भूः । स्वयं भवति न केनचित् सृज्यते, केनाश्चिद् वादिनां पक्षे . नित्यं ह्याकाशम् । स्वयम्भित्युकारान्तं केपुचित् । तदा 'मृगयादिरचात् (उ० १, ३६)' कुः । निगमस्यादर्शनात् उभयमपि लिखितम्, निगमदर्शनाभिर्णयः कार्यः ॥

(१२) अध्वा । 'अद् भक्षणे (अदा० प०)' । 'अदेर्धं च (उ० ४, ११२)'—इति घनिप् धकारध्वान्तादेशः । अदनं स्वस्ति-गच्छतां, पक्ष्यादीनां विषमस्थानाभावात् । यद्वा, अधिर्गत्यर्थः कश्चिद् धातुः, बाहुलकात् पूर्वैण घनिप्, गच्छन्त्यस्मिन् देवादय इत्यध्वा । 'अधेर्गतिरक्रियात्'—इति माधयः । यद्वा, अध्वा मार्गोऽस्मिन् विद्यते 'मत्वर्योयस्य लुक्,—सन्ति ह्याकाशे मेघपथादयः । 'अतेर्धश्च'—इति भोजसूत्रम् । 'अत सातरयगमने (भू० प०)' । सततं गच्छन्त्यत्र सूर्यादय इत्यध्वा । "भूमा रेजन्ते अध्वनि प्रविके (ऋ० सं० ६, ५०, ५)"—"अममने अध्वनि वृजिने पथि (ऋ० सं० ६, ४७, १३)"—इति तिगमी ॥

(१३) पुष्करम् । 'पुष पुष्टी (स्वा० प०)' । 'पुषः कित् (उ० ४, ४)'—इति करनप्रत्ययः । पुषिरत्रान्तर्णीतण्यर्थाः, पोषयति भूतानि अवकाशप्रदानेन उदकदानाद्युपकारेण च । 'पुष्कं घाति राति पुष्करम्'—इति क्षीरस्वामी । पुषेरन्तर्णीतण्यर्थात् 'स्मृभृ' शुपियुधिभ्यः कित्—इति विहितः करनप्रत्ययो बाहुलकाद्भवति । 'हृद्वत्सृष्वीचीपुषिमुषिमुद्गूभ्यः किन्'—इति करुः श्रीभोजदेवः । 'पोषयति भूतानाति ।' पुष्कोपयदाद्रातेः 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' । यद्वा, घपुर्नित्युदकनाम (निघ०-१, ११),

तत्कर्तुं शीलमस्येति 'कृजो हेतुताच्छीलानुलोम्येषु (३, २, २०)'—इति टः, षपुष्करं सङ्घ चकारलोपेन पुष्करम्, पृषीदरादिः ।
“विश्ये देवाः पुष्करे त्वाददन्त (ऋ० सं० ७, ३३, ११)”—इति निगमः ॥

(१४) सगरः । सहशब्दपूर्वात् 'गृ निगरणे (तु० प०)'—इत्यस्मात् 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)', सहस्य सभाचः (६, ३, ७८) । सह गिरन्त्यस्मिन् स्थिता आदित्यरश्मयो भीमरसमिति सगरः । सह उद्गिरन्त्यस्मिन् स्थिता मेघा वर्षादकमिति घा । यद्वा, गीर्यन्ते अभ्यवहियते विद्यन्ते इति गरः उदकम्, तेन सह घर्षन्ते इति सगरः । तथाच—'रश्मयश्च देवा गरगिरः'—इत्यत्र गृ (रा)-इदेवः 'गरमुदकं गिरन्ति गरगिरः'—इति भाष्यं कृतवान् । यद्वा, 'गृ शब्दे (क्र्या० घा० प०)'—इत्यादि । गीर्यन्ते इति गरः शब्दः पूर्ववत्, गरेण शब्देन सह घर्षन्ते इति सगरः,—आकाशो हि स्वगुणेन शब्देन सहैव सर्वदा घर्षन्ते । “अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात् (ऋ० सं० १०, ८६, ४)”—इति निगमः ॥

(१५) समुद्रः । समुद्रद्रवन्ति सङ्गता उद्बुध्यं द्रवन्ति गच्छन्त्य-स्मादापो रश्मिमिराकृष्यमाणा आदित्यमण्डलम् । समुत्पूर्वात् द्रवतेर्गत्यर्थात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति अपादाने डप्रत्यये टिलोपे च रूपम् । यद्वा, संहता अभिद्रवन्त्येनमापो भीमरसलक्षणा वायुना प्रेर्यमाणाः आदित्यमण्डलाद्वा वर्षाकाले रश्मिभिः प्रवर्तमानाः । अत्र उदित्येष उपसर्गोऽभीत्यर्थं घर्षन्ते, कर्मणि डप्रत्यय इति विशेषः । सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि

अन्तरिक्षचारीणीति धा । सम्पूर्वात् 'मुद हर्षे (भू० आ०)'—इत्यस्मात् 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १२)'—इत्यादिना अधिकरणे रक्प्रत्यये, समो मलोपे च रूपम् । यद्वा, 'सम्'—इत्येकीभावे, उदकात् उच्छब्दः, रो मत्वर्थीयः । एकीभूतमुदकमस्मिन् विद्यते घर्षासिति उदकशब्दस्योदुमावस्थान्दसः । यद्वा, सम्पूर्वात् 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)'—इत्यस्मात् 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १२)'—इत्यादिना कर्तरि रक्प्रत्यये किरघात्प्रलोपे च समुदः । समुत्ति घर्षेण भुवनं समुदः । 'एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश (ऋ० सं० ८, ६, १६, ४)'—इति निगमः ॥

(१६) अध्वरम् । अध्वा व्याख्यातः (४८ पृ०) । अध्वानं मार्गं राति वृदाति (अदा० प०) स्वस्मिन् गच्छतां पदयादीनाम् । यद्वा, अध्वा मार्गो विद्यतेऽस्मिन् मेघादीनाम् । रो मत्वर्थीयः । यद्वा ध्वरतिर्हिंसाकर्मा (निघ० २, १६), तत्प्रतिषेधः । अध्वस्तव्यं न हिंस्यमित्यर्थः । नञ्पूर्वात् ध्वरतेः 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (२, ३, ११८)'—इति धः । "शिशू क्लीलन्तौ परि यातो अध्वरम् (ऋ० सं० ८, ३, २३, ३)"—इति निगमः । 'अध्वरं पशुम्'—इति स्थान्दस्यामी व्याख्याति, तदा निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥ ३ ॥

स्वः (१) । पृथिविः (२) । नाकः (३) ।
गौः (४) । विष्टप् (५) । नमः (६) । इति
पट् साधारणानि ॥ ४ ॥

स्वरादीनि पदं तु भाष्यकारेण स्कन्दस्वामिना च वृत्तव्याख्यानानीति नास्माभिरुच्यन्ते ॥ ४ ॥

खेदयः (१) । किरणाः (२) । गावः (३) ।
रश्मयः (४) । अभीशवः (५) । दीधितयः (६) ।
गभस्तयः (७) । वनम् (८) । उस्त्राः (९) ।
वसवः (१०) । मरीचिपाः (११) । मयूखा (१२) ।
सप्तऋषयः (१३) । सांख्याः (१४) । सुपर्णाः (१५) ।
इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

खेदयः । “तेषामादितः साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिभिः (नि २, १५)’—इत्युक्तेः पूर्वमादित्यरश्मिनामानन्तरमश्वरश्मीनाञ्च निर्वचनं प्रदर्श्यते । ‘खिद दैन्ये’ दिवादिः रुधादिश्च आत्मनेपदी, “खिद परिघाते तुदादिर्मुचादिः परस्मैपदी । ‘अकर्त्तरि च कारके सम्प्रदायाम् (३, ३, १६)’—इति घञ् । छिद्यते पित्ते वाऽनया, लोको, धर्मकाले, अश्वो वन्धनकाले । यद्वा परिह्न्यन्ते सर्वतो हिंस्यन्ते अनया लोक आदित्येन, अश्वो वन्धनकाले । यद्वा, धनेकार्यत्वात् धातूनां खिदिः खेदने घर्त्तते । तथाच ‘खेदनं खेदनम्’—इति माघयः । अस्मात् पचाद्यच्चि (३, १, १३, ४) खेदति छिनत्ति नाशयति तमः । तथाहि ‘दोषश्छिन्नः’—इत्यादौ छिदिर्नाशने दृष्टः, घञि छिद्यतेऽश्वोऽनयेति खेदा अश्वरश्मिः ।

तृतीयैकवचनान्तस्य षाडो यथादृष्टः । 'खेदया त्रिवृता दिवः
(ऋ० सं० ६, ५, १५, ३)'—इत्यश्वरश्मेर्निगमः, आदित्यरश्मेर-
न्वेपणीयः ॥

(२) किरणाः । 'कृ विश्लेषे' तुदादिः (प०), 'कृञ् हिंसायाम्'
प्रयादिः (प०) । 'कृष्णवृजिमन्दिनिघाञ्भ्यः षयुः (उ० २, ७६)'—
इति षयु-प्रत्ययः । किरन्ति तापम्, एकत्रोष्ण्येन, इतरथ
बन्धनेन । कीर्ष्यन्ते वा, आदित्येन दिङ्मुखेषु, अश्वयालेना-
श्वग्रीवादिषु । यद्वा, कृण्वन्ति हिंसन्ति तमः, हिंस्यन्त एभिरश्व-
किरणाः । "भिया दृल्हासः किरणा नैजन् (ऋ० सं० १, ५, ४, १)"
—इति निगमः आदित्यरश्मेः । "रेणुं रेरिहत् किरणं ददध्वान्
(ऋ० सं० ३, ७, १२, १)" —इत्यश्वरश्मेः ॥

(३) गायः । ध्याख्यातः पृथिवीनामसु (१, १) । गच्छन्ति
सर्वतस्तमो विहन्तुं, भौमं रसं वा हर्तुं, गीयन्ते स्तूयन्ते
स्वाभिमतसाध्नाद् यजमानैरव्यपालैश्च । "यत्र गावो भूरिष्टृङ्गा
अपासः (ऋ० सं० २, २, २४, ६)" —"को अद्य युद्धे धुरिगा
ऋतस्य (१, ६, ८, १)" —आदित्यरश्मेर्निगमो । अश्वरश्मेरन्वे-
पणीयः ॥

(४) रश्मयः । 'रशिर्धमनार्थे' धातुः (सौ०) । 'नियोमिः (उ०
४, ४३)'—इति विधीयमानो मिप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति ।
रशना रश्मिरिति कतिपयप्रयोगविषय एवायं रशिः, भरत्या-
दियत्, ॥ सर्वत्र, बन्धनप्रतीतिः । बध्नन्त्युदकमथवा दध्यते
तैरुदकमथवा । यद्वा, 'अशू व्यासौ (स्वा० आ०)' । 'अशेरश

च (उ० ४, ४६)—इति मि-प्रत्ययो रशादेशश्च । अश्रुपते सर्वं जगत् अवग्रीवादि चा रश्मयः । “सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्तवो (ऋ० सं० ७, २, २२, १)”—“चिरश्मयोजना” अनु (ऋ० सं० १, ४, ७, ३)—इति आदित्यरश्मेर्निगमो । “मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः (ब्रह्म० सं० ५, १, २०, १)”—“तै रश्मिभिस्तत्कृत्वाभिः सुत्वादयः (ऋ० सं० १, ६, १३, ६)”—इति चाध्वरश्मेः ॥

(५) अभीशयः । अभिपूर्वात् ‘अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)’—इत्यस्मात् ‘भृमृशानृचरित्सरितनिधनिमिमस्त्रिभ्य उः (उ० १, ७)’—इति उपत्ययो बाहुलकाद् भवति धात्ववयवस्याकारस्येकारश्च । जम् । अभि व्याप्नुयन्ति जगद्वग्रीवां चा । यदुवा, अभिपूर्वात् ‘ईश पेध्वर्ये (अदा० आ०)’—इत्यस्मात् पूर्वघट्ट-प्रत्ययः । ईष्टे सूर्यस्तमोऽपहन्तुमेभिः, अध्वपालोऽष्टं घट्टम् । “अभीशूनां महिमानं पनायत (ऋ० सं० ५, १, २०, १)”—इत्यध्वरश्मेर्निगमः । आदित्यरश्मेरन्तेपणीयः ॥

(६) दीधितयः । एतदादीन्यादित्यरश्मिनामान्वेष । ‘दीधिङ् दीप्तिदैवतयोः (अदा० आ०)’ ‘तिवृक्ती च संज्ञायाम् (३, ३, १७३)’—इति क्तिचि पृषोदरादित्यादेव (६, ३, १०६) यथाकथञ्चिदूपसिद्धिरुच्येया । धीयन्ते विधीयन्ते प्रेष्यन्ते रसाहरणादिकर्मस्वादित्येन, धार्यन्ते चा वर्पार्थमुदकमेभिरादित्येन तथा । ‘अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणम् (५, १०)’—इति निरुक्तम् । ‘न चा स धृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः । पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसापनम्’—

इति श्रीरामायणम् । “शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः (ऋ० सं० ३, ४, १६, १)”—इति निगमः । ‘दीधितिं रश्मिमित्यर्थः’—इति (१६, ६६) वाजसनेयभाष्यकृदुच्यतेऽभाष्यत् ॥

(७) गभस्तयः । गो-शब्दपूर्वादन्तर्णीतण्यर्थात् ‘भस भक्षणवीप्सयोः (चु० प०)’—इत्यस्यात् पूर्ववत् क्विचीङ्भावे च पृषोदरादिस्थात् गो-शब्दस्याकारान्तादेशः । गां भूमिञ्च भासयन्ति दीपयन्ति । यद्वा, गवि संसर्गे दीप्यते । यद्वा, यमस्तिरक्तिकर्मा (निघ० २, ८०) । गामुदकं भीमरसलक्षणं यमसति भदन्ति । यद्वा, ‘भसेर्गद् च’—इति भोज-सूत्रेण तिप्रत्ययः धातोर्गङागमश्च, यमसति दीप्यन्ते इति गभस्तयः । ‘गृह्णंभस्तिः’—इति माधयः, तद्वा पूर्वसूत्रेण तिप्रत्यये धातोर्गु-गागमः, ‘हृप्रहोर्मृच्छन्दसि (सि० की० यै० ३ आ०)’—इति निर्वाहः, गृह्णन्ति भीमं रसम् । “गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतो (ऋ० सं० ७, ३, १८, ४)”—“घृष्णो अ॒११ शुभ्यां गभस्तिपूतः (य० घा० स० ७। १)”—इति च निगमौ ॥

(८) यनम् । “यन पण समभर्ता” भूयादिः परस्मैपदा । ‘पुंसि संज्ञायां घः (३, ३, ११८)’ । यन्यते सेव्यते शस्तादिनिवारणाय । अथवा यनतिर्हिंसार्थः (भू० प०) । यन्यते हिग्न्यतेऽनेन तमः । यद्वा, “यनु याननं” तनादिगत्यनेभाषा । यन्यते याच्यते वृष्टि-प्रशान्त्यै । यद्वा, ‘यन शब्दे’ भूयादिः परस्मैपदा । यन्यते शश्रुयते म्न्यते स्तोतृभिः । “अयुध्ने राजा घरुणो यनस्य (ऋ० मं० १, २, १४, २)”—इति निगमः । ‘यननीयस्य तैजसः’—इति माधयः ॥

(६) उक्ताः । 'वस निवासे (भू० प०)' । "स्फायितश्चिवञ्चि (उ० २, १२)"—इत्यादिना रक्, अदादित्वात् सगप्रसारणं बाहुल-
कात्, 'शासिचसिघसीनाश्च (८, ३, ६०)'—इति पत्वाभावः ।
वसत्येषु परतेजः वसन्त्येषु रसाः इति वा । यद्वा, उत्पूर्वात्
'सुगर्तो (भू० प०)'—इत्यस्मात् 'उपसर्गे च सग्नज्ञायाम् (३, २,
६६)'—इति जनेर्विधीयमानो डप्रत्यो बाहुलकाद् भवति, उदोऽन्त-
लोपश्च । उत्स्रवन्ति एभ्यो रसाः । "उक्ता इव स्वसराणि
(ऋ० सं० १, १, ६, २)"—इति निगमः ॥

(१०) वसधः । 'वस निवासे (भू० प०)', 'वस आच्छादने
(अदा० आ०)' । 'ऋत्स्वृक्निहित्रप्यसिचसिहनिह्रिदिवन्त्रिमन्त्रिभ्यश्च
(उ० १, १०)'—इति उ-प्रत्ययः । वसन्ति लोकेषु, वसन्त्यत्र
रसाः, वसत्यत्र परं तेजः, आच्छादयति वा लोकान् वृष्ट्या,
विचासयति वा तमः । "बहुलमन्यत्रापि सग्नज्ञाच्छन्दसोः
(६, ४, ५१ वा०)"—इति णिलुक् । वासयितारो वा लोकानां
वृष्ट्यादिप्रदानेन । "उमया अत्र वसधो रन्त देवाः (ऋ० सं०
५, ४, ६, ३)"—"सुगायो देवाः सद्ना अकर्म य आजामुः, सयन-
मिदं जुषाणाः । जक्षिवांसः पपिवांसश्च विवस्मै धत्त वसधो
वसन्ति (य० वा० सं० ८, १८)"—"दिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनाम्
(ऋ० सं० २, ३, १६, २)"—इति च निगमाः ॥

(११) मरीचिपाः । 'मृङ्ग्राणत्यागे (तु० आ०)' । मृकणिभ्या-
मीचिः (उ० ४, ७०)'—इति ईचिः प्रत्ययः । प्रियते तमोऽसिन्निति
मरीचिः रश्मिः । अत्र मरीचिशब्देन मरीचिमान् सूर्य उच्यते,

मत्वर्योयस्य लुक् साहचर्याद् भाव्यते, मरीचिमत्सूर्यामंडलं
पान्ति मरीचिपाः, 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' । "देवेभ्यस्त्वा
मरीचिपेभ्यः (य० वा० सं० ७, ३)" —इति निगमः ॥

(१२) मयूखाः । 'डु मिञ् प्रक्षेपणे (स्वा० उ०)' । अस्मात्
'मुहेः षो ड्यूद् च (उ० ४, २२)' —इति विधीयमानः खप्रत्ययो
वाहुलकाद् भवति, ड्यूडागमश्च प्रत्ययस्य वाहुलकादेव । 'मिन्व-
न्ति तमः मयूखाः । खप्रत्ययाधिकारे 'मयेरूद् च' —इति
श्रीभोजवेधः । मयतिर्गत्यर्थः (भू० आ०) । गच्छन्ति सर्वलोकेषु
मयूखाः । "दाधर्षं पृथिवी मभितो मयूखैः (ऋ० सं० ५, ६, २४, ३)"
—इमे मयूरवा उपसेदुरु सदः (ऋ० सं० ८, ७, १८, २)" —इति
च निगमौ ॥

(१३) सप्तऋषयः । 'सप्त सूता संख्या (निरु० ४, २६)' —
इत्युक्तेः सप्तैर्गत्यर्थात् 'सप्तशूभ्यां तुद् च (उ० १, १५५)' —
इति सप्तैर्विधीयमानः कनिन् प्रत्ययस्तुडागमश्च वाहुलकाद्
भवति ऋकारस्याकारश्च । षड्भ्यः सकाशात् सूता संख्या सप्त ।
'ऋप गतो (तु० प०), अनेकार्थत्वाद्वातूनां दर्शनार्थः । 'इगुपधात्
(उ० ४, ११६)' —इति इन् प्रत्ययः । ऋषयः द्रष्टारः । सप्त-
संख्याकाश्च ते ऋषयो द्रष्टारश्च त्रैलोक्यस्येति सप्तऋषयः ।
'ऋत्यकः (६, १, १२८)' —इति ष्रुतिभावः । "सप्त युञ्जन्ति
रथमेकचक्रम् (ऋ० सं० २, ३, १४, २)" —इत्यत्र 'सप्त आदित्य-
रथमयः (४, २६)' —इति चदन्ति नैरुक्ताः । यद्वा, 'पप समवाये
(भू० प०), 'सप्तशूभ्यां तुद् च (उ० १, १५५), —इति कनिन्

प्रत्ययस्तुङागमश्च । समवेताः सप्त, ऋपिरपि गत्यर्थ एव प्रत्ययः । समवेता गच्छन्ति दिङ्मुखानि सप्तर्षयः । “यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः (ऋ० सं० ८, ३, १७, २)”—“सप्त ऋषयः प्रनिहिताः शरीरे (य० चा० सं० ३४, ५५)”—अत्रासत् ऋषयः सप्त साकम् (अथ० सं० १०, २६, ६)”—इति निगमाः ॥

(१४) साध्याः । ‘राध साध संसिद्धौ (खा० दि० प०)’ । ‘अरहलोर्ष्यन् (३, १, १२४)’—इति ण्यत् प्रत्ययः, ‘हृत्पत्युदो यहुलम् (३, ४, ११३)’—इति कर्त्तरि भयति । ‘रसाहरणादिकं स्वव्यापारं साध्नुवन्ति संसिद्धं कुर्वन्ति—इति स्कन्दस्वामी । साध्यन्ते आराध्यन्ते साध्याः—इति क्षीरस्वामी, अत्र यथाप्रामो ण्यन् । “यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (ऋ० सं० २, ३, २३, ४)”—इति निगमः ॥

(१५) सुपर्णाः । सुपस्पृष्टान् ‘पृ पालनपूषणयोः (जु० क्यू० प्या० प०)’—इत्यस्मान् ‘धापृवस्यस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)’—इति नप्रत्ययः । ‘पर्णं पतनेः पूणातेः प्रीणातेः या,—इत्यष्टादशाध्यायदृष्टत्वात् पन्-धातोः चाहुल्यकान् नप्रत्ययः तकारस्य रेकादेशश्च । प्रीणातेरीकास्य अकारादेशः स ॥ पकारान् परः । शोभनं पूणन्ति पालयन्ति जगन् शीतादिनिवारणान्, अथवा पूरयन्ति वा वृष्ट्वा, शोभनं पतनं गमनमेवामिति धा, सुष्टु प्रीणन्ति तर्पयन्ति जगन् वर्षप्रदानेनेति वा सुपर्णाः । यद्वा, सुर्मत्वर्थाः, भावे च न प्रत्ययः । पतनादिमन्तः सुपर्णाः ।

तथाच—‘बृहद्वचदेम विदधो सुवीराः (ऋ० सं० २, ६, ६, ६)’—
 इत्यत्र ‘वीर्यन्तः कल्याणवीरा वा (निरु० १, ७)’ । अष्टादशाध्याये
 च ‘सुपर्णं विप्रोः (ऋ० सं० ८, ६, १६, ५)’—इत्यत्र ‘पर्णवन्तं
 कल्याणपर्णं वा,—इति चेति सुर्मन्त्र्ये बहुशो दृष्टः । “यत्रा
 सुपर्णा अमृतस्य भागम् (ऋ० सं० २, ३, १८, १)” —“ययः सुपर्णा
 उप सेदुरिन्द्रम् (ऋ० सं० ८, ३, ४, ६)” —इति च निगमौ ॥
 रश्मिनां प्रायो बहुवचनान्तत्वेन दृष्टत्वात् रश्मिनामाभि-
 प्रायेण बहुवचनान्तानि पठितानि । एषां दिङ्नामस्वपि द्रष्टव्यम् ॥
 इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

आताः (१) । आशाः (२) । उपराः (३) ।
 आष्टाः (४) । काष्टाः (५) । व्योम (६) ।
 ककुभः (७) । हरितः (८) । इत्यष्टौ दिङ्ना-
 मानि ॥ ६ ॥

(१) आताः । आङ्पूर्वादततेर्गतिकर्मणः (भू० प०) ‘अकर्त्तरि
 च धाट्ठे (३, ३, १६)’—इति घञ् आभिमुद्घेन गम्यन्ते
 प्राणिभिस्तं तं कार्यं घति । यदुवा, आङ्पूर्वात् तनोते ‘उपसर्गो
 च सञ्ज्ञायाम् (३, २, ६६)’—इति जनेर्विधीयमानो उपसर्गो
 बहुवचनान्तो भवति । आताः आताः । “ऋदञ्जन्त्याताः सुस-
 म्पृष्टास्तः (ऋ० सं० ३, ३, ७, ६)” —“उदातैर्जिहते बृहद्वारो
 (ऋ० सं० ६, ७, २४, ५)” —इति निगमौ ॥

(२) आशाः । आङ्पूर्वात् 'शङ्लृ शातने (भू० प०)—
इत्ययमत्र गत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्भातूनाम् । पूर्वघट्टः । तं
तमर्थं प्रत्यागमनात् । यदुवा, आ इत्येवोऽर्थात्पस्यार्थं वर्तते ।
'अशू ध्यातो (स्वा० आ०)'—इत्यस्मात् घञि रूपम् । आशा
उपदिशा भवत्यभ्यशनान् परम्परादिभिः संव्याप्तेः । 'आ
अनुवृत्ते आशाः'—इति क्षीरस्वामी । अत्र पञ्चाद्यच् (३, १,
१३४) । "इन्द्र आशाम्यस्परि (ऋ० सं० २, ८, २, २)"—
इति निगमः ॥

(३) उपराः । उपगमन्ते आसन्नाणि प्राणिनो वा स्यस्व-
ध्यापारेभ्यः । पूर्वघट्टः ङः । "उपहरे यदुपरा अपिन्यन्
(ऋ० सं० १, ५, २, १)"—इति निगमः । "तमस्य पृष्ठमुपरातु
धीमहि (ऋ० सं० २, १, १२, ५)"—इत्यत्र दिग्वार्त्ता न
येति चिन्त्यम् ॥

(४) आष्टाः । आङ्पूर्वात् निष्ठनेः (भू० प०) धातौर्धप्रशे
कविधानम् । 'स्वास्त्रागापाग्रधिहनिषुध्वर्थम् (३, ३, १६ म०
भा०)'—इति कप्रत्ययः । सुषामादित्वात् (८, ३, ६८) पठ्यम् ।
आ समात्तान् स्मृत्यते आभिः । निगमोऽन्वेदणार्थः ॥

(५) काष्टाः । काष्टा दिशो भवन्ति (निक० २, १५)'—
इत्यत्र स्कन्दस्वामी—'क्रान्त्या सर्वमतीत्य स्थिताः आकाशबहु
व्यतिरेकपक्षे । अव्यतिरेकेऽपि त एव शब्दादयः सर्वत्र सन्ति
संस्थिताश्चेति । उपदिशोऽप्येवमेव । व्यतिरेकेऽपि इतरेतरापे-
क्षया परत्वापरत्वचन् सर्वत्र व्यचहारोऽस्तित्वमिति । क्रान्त्या-

शब्दात्पूर्वार्द्धं स्थिताशब्दादुत्तरार्द्धमित्यर्थः । पृषोदरादिः ।
 चैयाकरणपक्षे तु 'काश दीप्तौ (भू० आ०)' । 'हनिकुपिर्ना-
 मिकाशिभ्यः क्यन् (उ० २, २)'—इति क्यन् प्रत्ययः । 'तितु-
 ब्रतथसितुस्तरकसेषु च (७, २, ६)'—इति इङ्भावः । काशन्ते
 दीप्यन्ते काष्ठाः "नरस्त्वां काष्ठास्वर्धतः (ऋ० सं० ४, ७, २७,
 १)"—इति निगमः ॥

(६) व्योम । व्याख्यातमन्तरिक्षनामसु (३) । स एवार्थो-
 ऽत्रापि । परिधीता घासुना । 'पवमानो हरित आ दिवेश
 (ऋ० सं० ६, ७, ८, ४)'—इति ध्रुतिः । यवुवा, विविधमोम-
 मक्षमस्मिन् विद्यत इति व्योम । 'ओमानमापोमानुर्वाग्मृतम्
 (ऋ० सं० ४, ८, ६, २)'—इत्यत्र 'अञ्जोर्वा ओमन्'—इति
 माध्वयः । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(७) ककुभः । 'ककुम्नाति विस्तारयतीति ककुप्'—इति
 क्षीरस्वामी । 'ककुप् कुम्भेरुच्छ्रयार्थात् उच्छ्रिता इय हि
 दिशो वृक्षाग्रैर्पूष्यमानाः'—इति माध्वयः । वेन प्रजापतिना
 विस्तारिता इति वा । सर्वत्र 'कियच्चिप्रच्छ्रयापतस्तु
 (३, २, १७८ वा०)'—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिप्रसिद्धिः
 (म० भा०)' इत्युक्तेः किपिपृषोदरादित्वाच्च रूपसिद्धिः ।
 "यः ककुमो निधारयः (ऋ० सं० ६, ३, २६, ४)"—इति
 निगमः ॥

(८) हरितः । 'हृन् हरणे' भूवादिः (उ०), 'हृ प्रसह्य करणे'
 जुहोत्यादिः (प०) । 'हृस्वरुहिषुभिभ्यः (हृष्याभ्यामितन् । उ०

३, ६०)—इति इतिः । हरन्ति जहति चा आसु स्थिताश्चौरादयो धनादिकम् । 'हरन्त्यामिः'—इति क्षीरस्वामी । "पवमानो हरित आ विवेश (ऋ० सं० ६, ७, ८, ३)"—इति निगमः ॥ 'वायुरेव दिशो हरित आविष्टे'—इत्युपनिषत् (ऐ० आ० २, १) ॥

इत्यष्टौ दिङ्नामानि ॥ ६ ॥

श्यावी (१) । क्षपा (२) । शर्वरी (३) ।
अक्तुः (४) । ऊर्म्या (५) । रान्या (६) । यम्या (७) ।
नम्या (८) । दोषा (९) । नक्ता (१०) ।
तमः (११) । रजः (१२) । असिक्तो (१३) ।
पयस्वती (१४) । तमस्वती (१५) । घृताची (१६) ।
शिरिणा (१७) । मोकी (१८) । शोकी (१९) ।
ऊधः (२०) । पयः (२१) । हिमा (२२) ।
वस्री (२३) । इति त्रयोविंशतीरात्रिनामानि
॥ ७ ॥

(१) श्यावी । 'श्र्यङ् गतो (भू० आ०)' । इण्शीभ्यां घन् (उ० १, ६५०)—इति विधीयमानो घनप्रत्ययो चाहुलकान् भवति । श्यायने गच्छति स्वाश्रयमिति । श्यावी धूसररणो घर्णः, तमः सन्ध्यादिवन्धान् श्यावघर्णा रात्रिः श्यावी, 'अन्यतो

ङीप् (४, १, ४०) । “श्याची च यदरूपी च स्वसारौ (ऋ० सं० ३, ३, ३०, १)”—इति निगमः ॥

(२) क्षपा । ‘क्षप्यते सूर्यचारेण क्षपा’—इति क्षीरस्वामी । ‘क्षप् प्रेरणे,’ ‘क्षपि क्षान्त्याम्’—इति कथादिषु पठितोऽपि यदुल्लमेतन्निदर्शनमित्यस्योदाहरणत्वेन धातुघृत्तो पठ्यते । ‘क्षपेः क्षपयन्ति क्षान्त्यां प्रेरणे क्षपयेत्’—इति वैचम् । ‘क्षपः क्षपयतेर्निशा’—इति च माधवः । क्षपा-शब्दोऽन्तोदात्तो रात्रिनाम, आद्युदात्तस्तु क्षपणवचनः । “नृणां नर्यो नृतमः क्षपायान् (ऋ० सं० ७, ७, २२, १)”—इति निगमः । “त्वमिदं क्षपायान् (ऋ० सं० ६, ५, ११, २)”—इति क्षपणवचनः ॥

(३) शर्गरी । ‘शृ हिसाप्याम् (ऋ० प०)’ । ‘कृगृशृघृञ्-
चतिभ्यः प्यरच् (उ० २, ११४)’ । टिघात् (४, १, ६५)
ङीप् । शृणाति चेषाम्, रात्रौ हि स्वस्वव्यापारेभ्यः उपर-
मस्ते प्राणिनः, शीर्ष्यन्ते यास्यां प्राणिनो नक्तश्चरैः । “अति
प्लवदन्ति शर्गरीः (ऋ० सं० ४, ३, ८, ३)”—इति निगमः ॥

(४) अन्तुः । ‘अञ्जू व्यक्तिप्रक्षणकान्तिगतिषु (ऋ० प०)’ ।
‘तुः क्तिष (उ० १, ६८)’—इति विधायमानः तुप्रत्ययः क्तिषञ्च
यादुल्लकाद् भवति । ‘पाञ्जनृभ्यः क्तुः’—इति क्तुत्ति श्रीभो-
जदेवः । ‘अनिदिताम् (६, ४, २४)’—इति नलोपः । अञ्ज्यते
सिञ्च्यतेऽभ्यामवश्यायेन जगत्, गच्छति वा प्रतिदिनम् अन्तुः ।
“विशामक्तोरुपसः पूर्वाह्नौ (ऋ० सं० ५, ४, ६, २)”—इति
निगमः ॥

(५) ऊर्मा । 'ऊर्णञ् आच्छादने (अ० उ०)' । 'ऊर्णोतेर्णलो-
पश्च (उ० १, २६)'—इति मिप्रत्ययः—इति केचित् । 'अर्त्तेरुच
(उ० ४, ४४)'—इति मि-प्रत्ययः—इतिकमलनयनः । ऊर्मिः तमः-
सङ्घातः, आच्छादकत्वात् लोकस्य । 'तमर्हति (५, १, ६३)'
'छन्दसि च (५, १, ६७)'—इति यत् प्रत्ययः । "इन्द्राय नक्त-
मूर्म्याः सुवाचः (ऋ० सं० ६, ६, ३२, १)"—इति निगमः ॥

(६) राम्या । 'रमु क्रीडायाम् (भू० आ०)' । अन्तर्णीतण्यर्थात्
प्रोपार्थविशिष्टादस्मात् 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति
बहुल्यचनात् 'पोरदुपधात् (३, १, ६८)'—इति यत् दाधित्या
'ऋदलोर्ण्यत् (३, १, १२४)' भवति, 'अचोञ्णिति (७, २, ११५)'
—इति वृद्धिः । प्ररमयतिभूतानि नक्तञ्चराणि, उपरमयति
दिवाचराणि स्वयापारिन्त्यः । माधयस्तु सर्वभूतानि रमयति ।
तथाच कौपीतकिः—'ये वै के चानन्दा भर्त्ता पाने मिथुने राश्या
एव ते सन्तता अवच्छिन्नाः क्रियन्ते, तेषां राशिः पारोतरः'
—इति । 'अधोरामः सावित्रः (य० वा० सं० २६, ५८)'—इत्यत्र
भ्येतः कृष्णोदरः—इति भाष्यम् । 'रामश्चारी सितेऽसिते'—इति
चैजयन्ती । तस्माद्रामशब्दः कृष्णपर्यायः । स्वाश्रये रमते रामः
'उचलिति कसन्तेभ्यो णः (३, १, १४०)' । 'तदर्हति (५, १, ६३)',
'छन्दसि च (५, १, ६७)'—इति यत् । 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च
(ऋ० सं० ४, ५, ११, १)'—इति ध्रुतिः । यद्वा, रमणं रामः ।
भावे घञ् (३, ३, १८) । स्त्रीभिः सह क्रीडा रामः । 'तत्र साधुः
(४, ४, ६८)'—इति यत् । "सइधान उप्सो राम्या अनु (ऋ० सं०

२, ५, २१, ३)”—इति “आविधेना अकृणोद्राम्याणाम् (ऋ० सं० ३, २, १५, ३)”—इति च निगमौ ॥ ।

(७) यम्या । ‘यम उपरमे (भू० प०)’ । अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८),—इति यक्प्रत्ययान्तो निपात्यते । उपरमयति प्राणिनां चेष्टाः । अथवा गदमदचरयमध्वानुपसर्गं (३, १, १००)’—इति यत् कर्त्तरि धातुलक्षणे । यद्वचा, यमनीया उपरमयितव्या आदित्य-चारेणेति यथाप्राप्तो यस् निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(८) नम्या । (९) दोषा । (१०) नक्का । (११) तमः । (१२) रजः । (१३) अस्त्रिणी ॥

(१४) पयस्वती । पयोऽस्या अस्तीति । ‘अस्मायामेधाकजो विनिः (५, २, १२१)’ । ‘चहुलं छन्दसि (५, २, १२२)’—इत्युक्ते-र्मनुषि घस्वे च ‘उगितश्च (४, १, ६)’—इति ङीप् । ‘तसीं मत्वर्थं (१, ४, १६)’—इति भसप्रज्ञाविधानात् स्त्वं न भवति । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१५) तमस्वती । ताम्यन्त्यनेनेति (दि० प०) तमोऽन्धकारं तेन तद्व्यती । पूर्वाद्यत् प्ररुत्या । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) घृताची । ‘घृ क्षरणदीप्त्योः (चू० प०)’ ‘घृ घृ सेचनं (भू० प०)’ । ‘अज्जिगृप्पिभ्यः कः (उ० ३, ८६)’—सेचयत्यनेन भूमिं पर्जन्यः, क्षरति मेघान् दीप्तं वा स्वेन तेजसा देवतात्वादिति घृतमग्रायस्यापलक्षणं जलम्, तदञ्जति । ऋत्विग्भूधृक्स्त्रग्दिगु-प्पिगश्च गुजिक्कुञ्जाञ्च (३, २, ५६)’— इति अञ्जनेर्गत्यर्थात् (भू० प०) किंनि ‘अनिदिताम् (६, ४, २४)’—इति नञोपे, ‘अच-

(६, ४, १३८) — इत्यकारलोपे, चो (६, ३, १३८) — इति दीर्घं, 'अश्चतेश्चोपसङ्ख्यानम् (४, १, ६ वा०)' — इति ङीप्, घृताचीति । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१७) शिरिणा । शीङः (अद्वा० आ०) अन्तर्णीतण्यर्थात् 'घट्टुलमन्यत्रापि (उ० २, ४६)' — इति इन्च्प्रत्यये रुडागमोधातो-
र्ह्रस्वश्च । शाययति प्राणिनः शिरिणा । शाययेन्निशेति माधवः ।
“शिरिणायां चिदक्तुनामहोमिः (ऋ० सं० २, ६, २, ३)” — इति
निगमः ॥

(१८) मौकी । 'मुच्लृ मोक्षणे (तु० उ०)' । 'इन् सर्ग-
धातुभ्यः (उ० ४, ११४), — इति इनि धातुलकात्, कुत्वम् ।
'रुदिफाराद्विनः (४, १, ४५ वा०)' इति ङीप् । मुञ्चत्यस्याम-
धश्चायं मध्यमः, मुञ्चन्ति प्राणिनः स्वस्वध्यापारान् मौक् ।
तदस्यामस्तीति 'छन्दसीवनिर्णो च (५, २, १२२ वा०), — इति
मत्वर्थीय ईकारप्रत्ययः, व्यत्ययेन (३, १, ८५) हल्ङ्यादिलोपः
(६, १, ६८) । “अनुव्रतं सवितुर्मोषयागात् (ऋ० सं० २, ८, २, ३)”
— इति निगमः ॥

(१९) शोकी । 'शुच् शोके (भू० प०)', उचलतिकर्मा
(निय० १, १७) वा । पूर्वचत् प्रक्रिया । शोचन्त्यस्यां चिरहिणः,
शोकस्तेजोऽस्या अस्तीति वा, 'अग्निना वे तेजसा रात्रिस्तेज-
स्यती' — इति ब्राह्मणम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२०) ऊयः । रात्रिनाम-निर्ज्वलनार्थप्रसिद्धं तायदुच्यते ।
गौरुध उद्धततरं भवति प्रसवकाले अङ्गान्तरैर्म्य उच्छिद्धततरं

भवति । यद्वा, उपोन्नद्धमुपरि सृष्टमूर्ध्वमिव केनचित् । तत् स्नेहं रसानुप्रदानसामान्याद्वा रात्रिरप्यूध उच्यते । यद्वा, 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)' । असुनि (उ० ४, १८४), बाहुलकात्रलोपे दकारस्य धस्वे दीर्घे च रूपम् । उनत्थवश्यायेन भूतानि । उनत्थूधः—इति क्षीरस्वामी । “यो अस्मै व्रंस उत वा य ऊधनि (ऋ० सं० ४, २, ३, ३)”—“ऊधर्न नाना जरन्ते (ऋ० सं० ५, ७, १६, १२)”—इति च निगमौ । ऊधनीत्यत्र छान्द-सत्वादिनङ् (५, ४, १३१,—१४२) ॥

(२१) पयः । ध्याख्यातं पयस्वतीत्यत्र, मत्पथीयस्य लुक् । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(२२) हिमा । 'हन्तेर्हि च (उ० १, १४४)'—इति मक्प्रत्ययो हिरादेशश्च । हन्ति (अदा० प०) पयानीति हिमम्, अर्शभादित्वा-दच् (५, २, १२७) । “शं भानुना शं हिमा शं घुणेन (ऋ० सं० ७, ८, १३, ४)”—इति निगमः ।

(२३) वसू । 'वस आच्छादने (अदा० आ०)' । 'वृहस्पृ-क्षिहिन्नप्यसिचसि (उ० १, १०)'—इति उ-प्रत्ययः । वस्ते आच्छा-दयते लोकमिति अथश्यायस्तमो वा, तदुपती वसुः । 'छन्दसी-धनिर्पो च (५, २, १२२ चा०)'—इति ईकारः 'घृपादीनाञ्च (६, १, १०२)'—इत्याद्युदात्तत्वम् । यद्वा, प्रशस्यवचनाद् वसु-शब्दान् 'घोतोगुणवचनात् (४, १, ४४)'—इति लोङ्, सर्वभूतगमन-त्वाद्वात्र्याः प्राशस्त्यम् । निगमोऽन्येषणीयः ॥

इति त्रयोविंशतीरात्रिनामानि ॥ ७ ॥

विभावरी (१) । सूनरी (२) । भास्वती (३) ।
ओदन्ती (४) । चित्रामघा (५) । अर्जुनी (६) ।
वाजिनी (७) । वाजिनीवती (८) । सुम्रावरी (९) ।
अहना (१०) । द्योतना (११) । श्वेत्या (१२) ।
अरुपी (१३) । सूनृता (१४) । सूनृतावती । (१५) ।
सूनृतावरी (१६) । इति षोडशोपोनामानि ॥ ८ ॥

(१) विभावरी । ‘भा दीप्ती (अदा० प०)’ विपूर्णः । ‘भातो
मनिन्कनिय्यनिपध (३, २, ७४)’—इति यनिप् । ‘यनो र, च
(४, १, ७)’—इति ङीवरेफो । विशेषेण भाति दीप्यते आदित्य-
किरणसम्बन्धात् । “आपप्रुपी विभावरी (अ० सं० ३, ८, ३, ६)”
—इति निगमः ॥

(२) सूनरी । शोभना नरा अस्यां सन्ति, मत्वर्योय ईकारः,
व्यत्ययेन हल्ङ्यादिलोपः । अथवा बहुव्रीहिः, पिप्पल्यादेरा
एतिगणत्वादीकारः । नराणां प्रसन्नचित्तत्वेन धर्मादिविशिष्ट-
तया तदानीं शोभनत्वम् । तथाच महाकविः—‘पश्चिमाद्
यामिनीयामान् प्रसादमिव चेतना’—इति । यदुवा, सूनरी
शोभनं नयति कालम् । ‘नृ नये (क्या० प०)’ सुपूर्वात् ‘अच
३ः (उ० ४, १३४),’ ‘हृदिकारादत्तिनः (४, १, ४१, वा०)’—इति
ङीप् । सूनरी सुधना । यदुवा, ‘नृमिर्देवैः समन्विता’—इति

माश्रयः । 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः ।
व्यत्ययेनावधारणाभावाद्गृह्यते । "ज्योतिष्कृणोति सूतरी (अ० सं०
५, ६, १, १)"—इति निगमः ॥

(३) भास्वती । 'भास्व दीर्घो (भू० आ०)' कृष् । भासत
इति भासः प्रकाशः । भासा, तद्धृती भास्वति 'तसौ मत्वर्थे
(१, ४, १६)'—इति भ-सञ्ज्ञया पदकार्यं स्वरं न भवति
भास्वती । "भास्वती नेत्री सूनुतानाम् (अ० सं० १, ८, १, ४)"
—इति निगमः ॥

(४) ओदती । 'उन्दी कृदने (६० पं०)' । उन्देलंटाः
शतरि 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इति शतुरार्द्धधातुक-
त्वेन विकरणाभावः, सार्वाधातुकत्वात् 'सार्वाधातुकमपित्
(१, २, ४)'—इति छिद्ब्रह्मभावात् 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—
इति न-लोपः, व्यत्ययेन गुणः 'उगितश्च (४, १, ६)'—इति
ङीप् । उन्त्यवश्यायेन ओदती । "पदं न येत्योदती (१, ४,
४, १)"—इति निगमः ॥

(५) चित्रामघा । 'चित्र् चयने (स्वा० उ०)' । 'अमिचिमिमि-
दिशंसिभ्यः कृः (उ० ४, १५६)'—इति कृ-प्रत्ययः चित्रम् । मं-
तिर्दानकर्मा (निघ० ३, २०), घञर्थे कविधानमित्यत्र परिणत-
स्योपलक्षणार्थत्वात् कप्रत्यये 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति
न-लोपः, पृथेदरादिन्वान् (६, ३, १०६) घत्यम् । मयते दीयतेऽ-
र्थिभ्यः इति मघं धनम् चित्रमाधर्यंभूतं धनं यस्या इति चित्रा-
मघा, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः । "चाजिनी

यती सूर्यस्य योषा चित्रामघा (ऋ० सं० ५, ५, २२, ५)"—इति निगमः ॥

(६) अर्जुनी । 'अर्ज सर्ज अर्जने (चु० प०)' । अर्जेर्णिलुकि उन-
नप्रत्ययः (उ० ३, ५, ५), अर्जति । यद्वा, 'अर्ज गतिस्थानार्जनेषु (भू०
प०)' । यादुलकादुनन् । गम्यते तदर्थिभिः तिष्ठति स्वाश्रये । अर्जु-
नमिनि रूपनाम ('निघ० ३, ७') तच्चात्रादित्यरश्मिसम्बन्धात् श्वे-
तम्, अर्जुनी श्वेता, 'अन्यतो ङीप् (४, १, ४०)' यद्वा, अर्जुनयो
गायः ता अस्याः सन्ति चाहनत्येन मत्वर्थोय ईकारः, व्यत्ययेन
ह्यङ् इत्यादिलोपः । "या गोमतीरूपसः सर्वं घीग (ऋ० सं० १,
८, ४, ३)"—इति श्रुतिः । "द्विचपच्चतुष्पदार्जुनि (श्रु० मं० १, ४,
६, ३)"—इति निगमः ॥

(७) घाजिनी । घाज इत्यञ्जनाम ('निघ० २, ७') याजो
हविलक्षणमश्रमस्या अस्ति, 'अत इनिट्ठर्त्ता (५, २, ११५)'—
'अन्तेभ्यो ङीप् (४, १, ५)' । यजमानेभ्यो यानि देयान्यन्नानि
तैस्तदुपती घा । "घाग्रघिन्द्रश्च चेतथः मुत्तानां घाजिनीयम्
(ऋ० सं० १, १, ३, ५)"—इति निगमः ॥

(८) घाजिनीयती । घाजो यत्नं वेगो घा तेन तद्वती घाजिनी,
कासी उपसः स्वभूता तेन तद्वती घाजिनीयती । यद्वा, घाजो
हविलक्षणम् अघ्राद्यस्या अस्तीति घाजिनी यागसन्नतिः, तद्वती
घाजिनीयती । यद्वा, घाजमन्नं तद्वती घा घाजिनी, कासी
अघ्राद्यभूतेनान्नेन तद्वती अघ्र मंहतिः, तथा अघ्रमंहत्या तद्वती
घाजिनीयती । यद्वा, द्रावेत्ता मत्वर्थोयी तयोरेकार्येणातिनरोम-

त्वर्थीयः अतिशयेनान्नवतीत्यर्थः 'घाजिनीवतीतिचपा हि सर्वेऽन्नं लभन्ते'—इति माधवः । 'सञ्ज्ञायाम् (८, २, ११)'—इति घा 'छन्दसीरः (८, २, १५)'—इति घा मनुषो वत्वम् । "व्यश्वेभ्यः सुभगे घाजिनीवति (ऋ० सं० ६, २, २२, ३)"—"अस्मभ्यं घाजिनीवति (ऋ० सं० ३, ८, ७, ४)"—इति निगमौ ॥

(६) सुन्नावरी । सुपूर्वात् 'स्ना माने (अ० ५०)'—इत्यस्मात् 'उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम् (३, २, ६६)'—इति जनेर्विधीयमानो डप्रत्ययो बाहुलफाद्भवति । सुष्टु आस्नायते अंभ्यस्यते इति सुन्नं सुखं, तद्वि सर्वः सर्वदा ममेदं भूयादित्यभ्यासेन प्रार्थ्यते । तथान्न—'सुन्नं सुस्नाते, प्रजा वै पशवः सुन्नम्,—इति माधवः । तदस्या अस्ति । 'छन्दसीवनिषी च (५, २, १२२ पा०)'—'वनो र च (४, १, ७)'—इति ङीप्रौ, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः । 'सुन्नावतीत्यर्थः । "सुन्नावरी सङ्गता ईरयन्ती (ऋ० सं० १, ८, ३, २)"—इति निगमः ।

(१०) अहना । 'अहि गती,' भुचादिरात्मनेपदी, 'अह व्याती,' स्यादिः परस्मैपदी । 'युच् बाहुलम् (उ० २, ७४)'—इति युच्प्रत्ययः बाहुल्यवचनान् पूर्वत्र नकारलोपः । अहन्तेगच्छत्याकाशे प्रतिदिनं क्षयं गच्छतीति च । व्याप्नोति समासा लोकं व्याप्यते वादित्यरश्मिभिः । गृहं गृहमदना यात्यच्छा (ऋ० सं० २, १, ४, ४)"—इति निगमः ॥

(११) पोतना । ण्यन्तान् 'पुत दीप्तौ (भू० आ०)'—इत्यस्मान् 'प्यासधन्धो युच् (३, ३, १०७)'—इति बाहुलकान् कर्त्तरि युच्

‘धेरनिटि (६, ४, ५१)’—इति णिलोपः । द्योतयति सर्वान्
पदार्थान् प्रकाशकत्वात् । यद्वा, केचलात् ‘अनुदात्तेतश्च हलादेः
(३, ३, १४६)’—इति युच् । द्योतते स्वयं द्योतना । “सिगासन्ती
द्योतना शब्ददागात् (ऋ० सं० २, १, ४, ४)”—इति निगमः ।

(१२) श्वेत्या । ‘श्विता वर्णे (भू० आ०)’ । अस्मादित्वात्
(उ० ४, १०८) यक् द्रष्टव्यः । श्वेतते श्वेत्या । ‘श्विता वर्णे’
इति वर्णसामान्यं सामर्थ्यात् शुक्लवर्णेऽपि श्वेते पर्यवसितं
द्रष्टव्यम् उपसि तथा दर्शनात् । “र्याहत्सा र्याती श्वेत्यागात्
(ऋ० सं० १, ८, १, २)”—इति निगमः ॥

(१३) अरुणी । ‘अरु स्र गती’ जुहोत्यादिः (प०), ‘अरु
गतिप्रापणयो,’ भूयादिः (प०) । ‘अनहिभ्यामुपन् (उ० ४, ७४),
पिप्पल्यादेराकृतिगणत्यादीकारः । इयत्ति गच्छति यादित्योदये-
नान्तं प्रतिदिनम् प्रापयति या स्तोतृन् पेशव्यादि । यदुवा,
आहूर्वात् ‘रुव वीती (भू० आ०)’—इत्यस्मात् बाहुलकात् दुपच्,
टिलोपः, आहो हस्यश्च, आरोचते अरुणी । यदुवा, अरुणमिति
रूपनाम (निघ० ३, ७), सामर्थ्यादत्र शुक्लविषयम्, शुक्लवर्णा
अरुणी । ‘अन्यतो ङीप् (४, १, ४०)’ । “अश्वेष चित्रारुणी
(अ० सं० ३, ८, ३, २)”—इति च निगमः ॥

(१४) सूनृता । (१५) सूनृतावती । (१६) सूनृतावरी । सुन्दु
ऋण्यते अप्रियैरिति सूनृ । सुपूर्वात् ‘ऊन परिहाणे (चु० उम०)’
—इत्यस्मात् क्तिप् । ऋतमिति सत्यनाम (निघ० ४, १६) ।
सूँश्च तद्वत्ञ सूनृतम्, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) न-लोपा-

भावः । प्रियञ्च सत्यञ्च । पूर्वं मत्वर्थोऽप्योऽकारः, उत्तरत्र मतुप्
 अन्यत्र छन्दसीवनिर्णयौ च (५, २, १२२ वा०)—इति घनिप्,
 मतौ घत्वरत्त्वौ, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः ।
 यदुवा, प्रियसत्यरूपा वाचः सूनुता उच्यन्ते । "सुभ्रावरी सूनुता
 ईत्यस्ती (ऋ० सं० १, ८, ३ २)"—"उदीर्य प्रति मा सूनुता
 उपः (ऋ० सं० १, ४, ३, २)"—इत्यादिदर्शनात् तदुपत्यः सूनुता-
 द्यः दीर्घो नापेक्षणीयः । यदुवा सूनुतेत्यग्ननामसु (निघ० २, ७)
 पाठादक्षम् । सूनुता घननाम माधवपक्षेण अन्नवत्यो घनघत्यो
 वा सूनुतादयः । "रेवत्स्तोत्रे सूनुते जानरयन्ती (ऋ० सं० २, १,
 ८, ५)"—"रेवदस्मै द्युच्छ सूनुतायति (ऋ० सं० १, ६, २६, ४)"
 —"चिकित्वित् सूनुतायति (ऋ० सं० ३, ८, ३, ४)"—इति च
 निगमाः क्रमेण ॥

इति षोडशोपोनामानि ॥ ८ ॥

वस्तोः (१) । द्यौः (२) । भानुः (३) ।
 वासरम् (४) । स्वसराणि (५) । घंसः (६) ।
 घर्मः (७) । घृणः (८) दिनम् (९) । दिवा (१०) ।
 दिवेदिवे (११) । श्विच्यत्रि (१२) इति द्वादशा-
 हर्नामानि ॥ ९ ॥

(१) वस्तोः । अत्र स्कन्दम्यामी—'वस्तोर्गितिदशमेनेदं
 नाम, न विभज्यन्तम्, "दोषावस्तोर्द्विष्मती घृणात्री (ऋ०

सं० ५, १, २५, १)”—दोषावस्तोर्वहीयसः प्रपित्ते (अ० सं० १, ७, १८, १)”—इति समस्तस्यापि दर्शनान् । चस्ति ज्योतिरिति चस्तोः, द्योतत इति द्यौः । एवं सर्वत्र—इति । वस्ते (अदा० आ०) आच्छादयतीति ज्योतिः । व्यत्ययेन कर्त्तरि तोस्तु (३, ४, १३) । “कुह स्विदोषा कुह वस्तोरधिना (अ० सं० ७, ८, १८, २)”—इति निगमः । कुह क्योति सप्तमीसामानाधिकरण्यात् दोषावस्तोरित्यपि सप्तम्या एवाव्यय-लुगध्ययसितः ॥

(२) द्यौः । ‘द्युत दीप्तौ (भू० आ०)’, बाहुलकात् डौप्रत्ययः (उ० २, ६५) । द्योतते किरणसम्यन्धात् । यद्वा, ‘द्यु अभिगमने (अदा० प०)’, ‘द्युगमिभ्यां डौः’—इति धीभौ-जद्वेषः । अभिगच्छन्त्यस्मिन् त्वं स्वमभिमतप्रदेशं प्राणिनः । ‘गोतोणित् (७, १, ६०)’—इति वृद्धिः । “मध्य आरोधने दिघः (१, ७, २२, १)”—इति निगमः ॥ केचिन् द्युरिति पठन्ति । तदा ‘दिघ’—इत्यधिकारे ‘द्युद्रभ्यां च’—इति भोजसूत्रेण उप्रत्ययः । ‘द्यु अभिगमने (अदा० प०)’, ‘द्युतेरेच घा’ अश्वा-दयश्च (उ० ५, ३०)—इति डुन्-प्रत्ययान्तौ निपातितौ द्रष्टव्यः । उभयत्र पूर्वोक्त एवार्थः । “द्युमिरक्तुभिः परिपातमस्मान् (अ० सं० १, ७, ३७, ५)”—“त्यमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणि (अ० सं० २, ५, १७, १)”—इति निगमौ ॥

(३) मानुः । ‘मा दीप्तौ (अदा० प०)’, ‘मादाभ्यां नुः (उ० ३, ३१) । मात्यादित्याधिकरणसम्यन्धादेव । “उद्देव्या उपसो

भानुरर्त्त (ऋ० सं० ३, ४, १५, २)—इति निगमः । रश्मि-
भानुरिति माध्योकमहर्भचितुर्महति ॥

(४) वासरम् । 'वस निवासे (भू० प०)', णिजन्तः शुद्धो-
ऽपि विपूर्वस्यार्थे वर्तते । 'वर्त्तिकमिभ्रमिदिविचमिवासिभ्य-
श्चित् (उ० ३, १२८)'—इत्यरच् प्रत्ययः । विवासयति अप-
नयति शीतादिकम् । यद्वा, वसेः स्वार्थे णिचि अधिकरणेऽरच् ।
वसत्यस्मिन् मुखेनेति वासरम् । यद्वा, 'वास् दीप्ती (दि० आ०)'
पूर्वस्मादेव सूत्रादरच् दीप्यते वासरम् । यद्वा, विपूर्वात्
सर्त्तर्गन्त्यर्थात् पचायचि धीत्यस्येकारस्याकारः पृषोदरादित्वात्,
विविधं सराणि सृतानि विस्तीर्णानीत्यर्थः । 'वासरणि वेसरणि
(निघ० ४, ७)'—इति भाष्ये स्कन्दिस्वामी—'वेसरश्चाद्रस्यायमेकार-
स्याकारः । सादृश्येन चात्र वर्तते । यथा वेसरो निष्पादकगताभ्यां
विरुद्धाभ्यां जातिभ्यामश्चत्वजात्या गर्दभरचजात्या सम्पन्नः ।
एवं यावत् द्वौ निष्पादकौ पूर्वभागपरभागे तदुगताभ्यां
विरुद्धाभ्यां शीतोष्णाभ्यां पूर्वभागगतेन शीतेनापरभागगतेन
घोष्णेन सम्यन्धाद् वेसरसदृशत्वाद् वासरम्—इति । "अहानीय
सूर्यो वासराणि (ऋ० सं० ६, ४, १२, २)" । अहानीत्यनेन
पौनरुक्त्यादन्योऽपि निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५) स्वसराणि । स्वशब्दे उपपदे सर्त्तर्गन्त्यर्थात् (भू० प०)
पचायच् (३, १, १३४) । स्वेन आत्मनैव गच्छन्ति । अपि
च, स्वरित्यादित्यनाम (निघ० २, १४) । सर्त्तः 'पुंसि सन्नमायां
घः प्रायेण (३, ३, ११८)' । अन्तर्णोतप्यर्थेऽत्र सर्त्तिः ।

सरित्येतस्य रेफलोपः पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) । आदि-
त्येन सार्यते । स हि स्वोदयास्तमयाम्यां तानि गमयति ।
यथा, सुपूर्वात् 'असु क्षेपणे (दि० प०)'—इत्यस्मात् कृदरादि-
त्वादरच् (उ० ५, ४२) द्रष्टव्यः । सुष्टु अस्यन्ते क्षिप्यन्ते सूर्येण
स्वोदयास्तमयाम्याम्, तथाच 'स्वसराणि (ऋ० सं० १, १, ६, २)'—इति निगमः ॥

(६) घञः । 'ग्रह उपादाने (यथा० उ०)' अस्मात् घञि
पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) गकारस्य घकारो जुगागमः
हकारस्य सकारः । गृह्यन्तेऽस्मिन् रसा अवश्याया आदित्येन ।
"यो अस्मै घञ उ त वा य ऊघनि (ऋ० सं० ४, २, ३, ३)"—
इति निगमः ॥

(७) घर्मः । 'घृ क्षरणदीप्त्योः (जु० प०),' 'घर्मः (उ० १,
१४६)'—इति मप्रत्ययान्तो निपातः । जिघर्त्ति दीप्यते
रश्मिसम्यन्धात् । निगमोऽन्विषणीयः ॥

(८) घृणः । जिघर्त्तैः (जु० प०) 'इण्सिञ्जिदीङुःप्यधिन्या
नक् (उ० ३, २)'—इतीणादिभ्यो विधीयमानो नक्प्रत्ययो
बाहुलकाद् भवति । पूर्वचदर्यः । "घृणा घयोऽख्यामः परिमन्
(ऋ० सं० ३, ७, १६, ६)"—इति निगमः ॥

(९) दिनम् । 'दो अवखण्डने (दि० प०),' पूर्वचद्रीणादिके
नक्प्रत्यये बाहुलकात् (उ० २, ४६), 'द्यतिस्यतिमास्थाम्
(७, ४, ४०)'—इतीत्यम् । द्यतितमः दिनम् । "अथा सरिभ्यः ।
सुदिना व्युच्छान् (ऋ० सं० ५, २, २८, १)"—इति निगमः ॥

(१०) दिवा । द्योतनात् । अव्ययमिदम् । “दिवा भिपित्वेऽसागमिष्टा (ऋ० सं० ४, ४, १७, २)”—“दिवा नक्त मयसा श्रान्तमेन (ऋ० सं० ४, ४, १७, ३)”—इति निगमो ॥

(११) दिवेदिवे । ‘दिबु क्रीडाचिजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्यप्रकान्तिगतिषु (दि० प०)’ । ‘दिवेर्दिविः’—इत्यधिकरणे डिविप्रत्ययः । दिव्यन्तेऽस्मिन्निति शौः । दिव्-शब्दात् परस्य सप्तम्या एकवचनस्य ‘सुपां सुलुक् (७, १, ३६)’—इत्यादिना शे आदेशः, प्रगृह्यत्वं (१, १, १३) तु व्यत्ययेनात्र न भवति । चतुर्थी वा व्यत्ययेन । ततो धीप्सादिः (८, १, ४), दिवसे दिवसे इत्यर्थः । यथादृष्टं पठितमिदं नाम । “उपत्याग्ने दिवेदिवे (१, १, २, २)”—“दिवे वाममस्मभ्यं सायीः (ऋ० सं० ५, १, १५, ६)”—इति च निगमो ॥

(१२) द्यविद्यवि । द्योश्चन्द्रो व्याख्यातः (२) । सप्तम्येकवचनं, धीप्सादि पूर्वयत्, “मिर्नामसि द्यविद्यवि (ऋ० सं० १, २, १६, १)”—इति निगमः ॥

इति द्रुपदशाहर्नामानि ॥ ३ ॥

आद्रिः (१) । ग्रावा (२) । गात्रः (३) ।

वलः (४) । अश्नः (५) । पुरुभोजाः (६) ।

वलिशानः (७) । अश्मा (८) । पर्वतः (९) ।

गिरिः (१०) । व्रजः (११) । चरुः (१२) ।

वराहः (१३) । शम्बरः (१४) । रोहिणः (१५) ।
 रेवतः (१६) । फलिगः (१७) । उपरः (१८) ।
 उपलः (१९) । चमसः (२०) । अहिः (२१) ।
 अभ्रम् (२२) । चलाहकः (२३) । मेघः (२४) ।
 वृत्तिः (२५) । ओदनः (२६) । वृषन्धिः (२७) ।
 वृत्रः (२८) । असुरः (२९) । कोशः (३०) ।
 इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥ १० ॥

आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्यतनामभिः
 (निरु० २, २१)—इत्युक्तेर्मेघनामत्यं पर्यतनामत्वा क्रमेण
 निरुच्य प्रदर्श्यते ।

(१) अहिः । 'अद् भक्षणे (अदा० प०)' । 'अदिशभृशु-
 भिन्यः क्तिन् (उ० ४ पा०)'—इति क्तिन्प्रत्ययः । अति हि
 मेघो वर्षार्थमादित्यरश्मिभिराहतान् भौमरसान् अति मेघैर-
 भिवृष्टं जलम्, अद्यते वा प्राणिभिस्तत्प्रभवपदार्थमक्षणां तत्रो-
 पचर्ष्यते, अदन्त्यस्मिन् पदार्थान् मनुष्या इति वा । यदुवा, नभ-
 पूर्वान् 'द्वि विदारणे (क्या० प०)'—इत्यस्मान् यादुल्कात् रिन्-
 प्रत्ययः णिलोपश्च । 'अदरणीय इत्यद्रिः पर्वतः । "चित्रयुवाः ययधुः
 सान्त्वदेः (१, ८, १६, १)"—इति मेघस्य निगमः । "नान्तरिक्षं
 नाद्रपः सोमो अश्वाः (ऋ० सं० ८, ४, १५, २)"—इति पर्वतस्य ॥

(२) प्रायाः । हन्तेः (अदा० प०) 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति कनिष् । पूषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) घातोर्ग्रादेशः । हन्यते हि मेघ इन्द्रेण 'अहन्नहिम् (ऋ० सं० १, २, ३६, १)'—इति ध्रूयते । हन्यतेऽनेन सोमः । 'यद्वा, 'गृ निगरणे (तु० प०)', गृ शब्दे (कप्रा० प०)', गृणातिस्तुति-कर्मा (निरु० ३, ५)', एभ्यः पूर्वचत् कनिषि अङ्गागमः । वृशि-ग्रहणात् (३, २, ७५) सर्वं सिद्धम् । गिरत्युधकं वर्धितुम् । अत्र गिरतिस्तत्पूर्वस्याप्ये वर्त्तते, समुद्गिरति जलं वृष्टिसमये, अमुद्गीर्ण इति वा अन्तरिक्षेण, गृणाति गर्जितलक्षणं शब्दं करोति, स्तूपते वा चर्पायिमिरिति प्राया मेघः । पर्वतोऽपि इन्द्रेण हन्यते यक्षच्छेदसमये, गिरति मेघैरभिवृष्टं जलमुद्गिरति निर्भरजलम्, समुद्गीर्ण इय वा गुहादिगतसिंहादिशब्देन, शब्दकारी, स्तूपते च पदार्थेवाहुल्यात् प्राणिभिस्तदाश्रयिभिरिति प्राया । "इन्द्र प्रायाणो धदितिः सजोषाः (ऋ० सं० ४, १, २६, ४)"—इति मेघस्य निगमः । "प्रायाणो अप दुच्छुनामप सेधत (ऋ० सं० ८, ८, ३३, २)"—"प्रायाण उपरेष्या मदीयन्ते (ऋ० सं० ८, ८, ३३, ३)"—इति पर्वतस्य निगमौ ॥

(३) गोत्रः । 'गुह् अयक्ते शब्दे (मू० आ०)' । 'गुह्-घीपचिचियमि [मनिननि] सदिक्षदिम्यस्त्रः (उ० ४, १६२)'—इति श्रप्रत्ययः । मेघो गर्जितलक्षणमव्यक्ताक्षरं शब्दं करोति, गूयते शब्दुपते वा,—'अहो ! अयमतीवधर्मकाले चर्पायिमागतः'—इति । यद्वा, मामुधकं रश्मिमिराहृतं चर्पाव्यतिरिक्तेषु प्रायते

पालयति । 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' । शरदादिषु हि मेघेषु घनीभूतास्तिष्ठन्त्यापः । गां पशुजातिं त्रायते वा वृष्ट्या पानीयप्रदानात् । पर्वतोऽपि निर्भरादिपतनजन्यमथर्कं शब्दं करोति, अभिवृष्टमुदकमुदकाधारेषु धारणाद् रक्षति च गोध्नं सुययसयसया गोत्राः । "गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिवते (ऋ० सं० ८, १, ५, २)" — "एव गोत्रमङ्गिरोभ्योऽघृणोरप (ऋ० सं० १, ४, ६, ३)" "उद्गोत्राणि सखजे दंसनाधान् (ऋ० सं० ३, २, २५, ४)" — इति च मेघनिगमाः । "गोत्रमिदं गोपिदं यज्जयाद्भुम् (ऋ० सं० ८, ५, २२, ६)" — इति पर्वतस्य ॥

(४) घलः । 'घृ आचरणे (स्या० उ०)' । 'प्रहृष्टनिधि-
गमश्च (३, ३, ५८)' — इत्यप् । अपि लकादित्यात् लत्यम् । यदुघा, 'घल संचरणे (भू० आ०)' अस्मान् 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण ३, ३, ११८' — इति घः । म्रियतेऽनेन दिश आकाशश्च मेघः पर्वतेनापि स्वशरीरेण भूमिराकाशश्च संम्रियते । "अला-
सृणो घल इन्द्र मजो गोः (ऋ० सं० ३, २, २, ५)" — इति निगमो मेघस्य । "इन्द्रो घलं रक्षितारं दुधानाम् (ऋ० सं० ८, २, १५, ६)" — इति पर्वतस्य ॥

(५) अशः । 'अश ध्यातो (स्या० आ०)', 'अश भोजने (ष्या० प०)', आभ्याम् 'इण्सिभ्रजिर्दादुष्यविभ्यो नश् (उ० ३, २)' — इति विधीयमानो नश्प्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, घुत्वं च न भवति 'शान् (८, ४, ४४)' — इति प्रतिषेधान् । उभापि ध्याप्प्रुत आकाशमर्धतःशोदकम्, एको घर्गितप्यमपरो घृष्टम् । अशनेन घात्र सङ्गृह्यतां लक्ष्यते । "अघ्रापिनदुधं मधपर्णं पश्यन्

(अ० सं० ८, २, १८, २)—इति मेघस्य । निगमावन्वेषणीयो
चा ॥

(६) पुरुभोजाः । 'भुज पालनाभ्यवहारयोः (६० प०)'—
इत्यस्मात् 'विधिभुजिभ्यां विश्वे (३० ४, २३१)'—इति विश्व-
शब्दे उपपदे विहितोऽसुप्रत्ययः पुरुशब्देऽप्युपपदे बाहुलकात्
(३, ३, १) भवति, पुरु यद्वा प्राणिजातं भुनक्ति पालयति
वृष्टिप्रदानेन मेघः, पर्वतो हि दुर्भिक्षादेरक्षति । 'समुद्रः पर्यतो
राजा इव दुर्भिक्षनाशकः'—इत्युक्तेः । पुरु अभ्यवहरति साम-
र्थ्याज्जलमत्र विशेष्यम्, 'एको घर्षितव्यमपरो हि वृष्टमिति
विशेषः । बहुभिर्भुज्यते पाल्यते अभ्यवहियते वा । मेघस्य
त्विन्द्र आद्रित्यरश्मयश्च रक्षितारः, पर्वतस्य तत्तद्देशाधिपतयः ।
मेघः स्ववृष्ट्युदकद्वारेण अभ्यवहियते । द्वयोरपि निगमावन्वेष-
णीयो ॥

(७) घलीशानः । यल संवरणे (भू० आ०), 'औणादिकः
किप् । 'ईश ऐश्वर्ये' अक्षादिकः (आ०) । लट् शानच् । संवृ-
ण्वन्नाकाशमीष्टे घर्षितुम्, पर्वतोऽपि स्वभोगेन भूमिमाकाशं
संवृण्वन्मीष्टे दुर्भिक्षादेर्मनुष्यादीरक्षितुम् घलीशान इति, लोकवे-
दनिघण्टौ वृष्टान्तात् घृपोदरादित्वात् ह्रस्वः । निगमावन्वेष-
णीयो ॥

(८) अश्मा । 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०), 'अश भोजने
(मथा० प०)' । 'अशिष्ठाकिभ्यां छन्दसि (३० ४, १४४)'—
इति मनिन् । अश इत्यनेन समानार्थः । "अपावृणोदुरो अश्म-

यजानाम् (ऋ० सं० ८, ७, २७, ६)—इति मेघस्य निगमः ।
 “यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान (ऋ० सं० २, ६, ७, ३)”—इति
 पर्यंतस्य । अत्र स्कन्दस्वामिना मेघत्वेन व्याख्यातम् ॥

(६) पर्यंतः । ‘पृ पालनपूरणयोः (म्या० प०)’ । ‘जाम-
 दिपचर्त्तिपृशकिभ्यो घनिप् (उ० ४, १०६)’ । पृणन्ति पालयन्ति
 अधययिनं पूर्यन्ते घा तेन इति पर्वाणि । यद्वा, प्रीणातेर्याहुल-
 कात् (३, ३, १) घनिपि ईकागस्याकारः स च पकारान् परः
 प्रीणयन्ति स्याश्रयमिति । पर्वाण्यधययाः सन्त्यस्य ‘पर्वमरद्वभ्यां
 तप् पत्तल्यः (५, २, १२१ चा०)’—इति मत्वर्थीयस्तप्प्रत्ययः ।
 मेघस्य पर्यंतस्य च द्वेयतात्मकत्वस्य च विद्यमानत्वात् अधययिनि
 पक्तुं शक्यम् । यद्वा, परिदृश्यमानाकारेणापि मेघस्य धूमादि-
 स्तब्धतत्वात्, पर्यंतस्य च शिलादिमर्यादवयविरधम् । यद्वा, ‘पर्व
 पूरणे (भू० प०)’ अस्मात् ‘भृमृदृशियजिपरिपच्यमितमिनमिह-
 र्विभ्योऽतच् (उ० ३, १०७)’—इत्यतच्प्रत्ययः । पर्यन्ति पूरयति
 घर्णेण भूमिं स्वशरीरेणाकाशं वा पर्यंतोऽपि निर्कर्त्तनदीप्रवाहादिना
 भूमिं स्पोग्रत्याकाशञ्च पूरयति । “नि पर्यन्ता अन्नसदो न सेदुः
 (ऋ० सं० ४, ७, २, ३)”—यदित्या पर्यंतानाम् (ऋ० सं० ४,
 ४, २६, १)—इति मेघस्य निगमौ । “यद्द्रव्यः पर्यन्ताः
 साकमाशयः (ऋ० सं० ८, ४, २६, १)”—“प्र पर्यंतानामुशकी
 उपस्थान् (ऋ० सं० ३, २, १२, १)”—इति च पर्यंतस्य ॥

(१०) गिरिः । ‘गृ निगरणे (तु० प०)’, अथवा ‘गृ शब्दे
 (म्या० प०)’, गृणातिः स्तुतिकर्मा (निरु० ३, ५) । किदिति

घर्त्तमाने (उ० ४, १३७), 'कृमृष्टृकुटिमिदिच्छिदिभ्यंश्च इः (उ० ४, १३८)'—इति इप्रत्ययः, 'ऋत इदघातोः (७, १, १००)'—इतीत्वम्, गिरिः । आवेत्यनेन समानार्थः । "निराविध्यद् गिरेर्भृष्टिर्न भ्राजते तुजा शवः (ऋ० सं० १, ४, २१, ३)"—इति पर्वतस्य । "मृगो ॥ भीमः कुचरो गिरिष्ठाः (ऋ० सं० २, २, २४, २)"—इत्युभयस्य ॥

(११) व्रजः । व्रज गतौ (भू० प०) । 'गोचरसञ्चरचतुव्रजयजापण निगमाश्च (३, ३, ११६)'—इति निपातनात् घः, फरणाधिकरणयोस्तद्व्यतिरिक्ते कारकेऽपि घो भवति । व्रजत्यन्तरिक्षे व्रजत्यनेनेन्द्र इति वा व्रजो मेघः, मेघघादनो हीन्द्रः पर्वतोऽपि पश्चच्छेदात् पूर्वमन्तरिक्षे व्रजति । अथवा स्वशरीरेण भूमिमन्तरिक्षञ्च व्रजति । व्रजन्ति तत्र प्राणिन इति वा । "अप व्रजमूर्णुगः सप्तास्यम् (ऋ० सं० ७, ८, १६, ३)"—इति मेघस्य निगमः । "व्रजं गोमन्तमुशिनो विषवुः (ऋ० सं० ३, ४, १४, १)"—इति पर्वतस्य ॥

(१२) चरः । 'चर गतिभक्षणयोः (भू० प०) । 'भृमृशीतृचरित्सरितनिधनिमिमस्त्रिम्य उः (उ० १, ७)'—इति उपप्रत्ययः । चरन्ति गच्छन्त्यसादापो मेघाद्वर्षाकाले, पर्वतानां निर्भरलक्षणाः चरयन्ति जलं घर्षित्यमिति चरुमेषः, चरन्ति तत्र प्राणिनः, चर्यते मर्यते स्वप्नवपदार्थरूपेणेति चरः पर्वतः । "स नो वृषश्रमुं चरम् (ऋ० सं० १, १, २४, १)"—इति मेघस्य निगमः । पर्वतस्यान्येषणीयः ॥

(१३) घराहः । 'वृणोतेः (स्वा० प०)' । 'ग्रहवृद्धनिधिं-
गमश्च (३, ३, ५८)'—इत्यकारः (अप्), घराह्ये कर्मण्युपपदे
आङ्पूर्वाद्धरतेः 'कर्मण्यण्' (३, २, १)' । घग्मुदकमाहरतीति
घराहः । घर उदकलक्षणः आहारोऽस्येति चा घराहः (निह०
५, ४) आङ्पूर्वाद्धरतेर्घञ् । 'घरमाहारमाहार्योः'—इति च
प्राहणम् । पृषोदरादित्यात् आहारशब्दस्याकाररेफयोर्लोपः ।
यद्वा, घराह्ये उपपदे हरतेराङ्पूर्वात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३,
२, १०१)'—इति बाहुलकात् ङप्रत्ययः । घराहाकारो वा कृष्णो
मेघो घराहसादृश्येन वर्तते । घरमुत्कृष्टमुदकं वृद्धति उद्यच्छति
घर्षितुम् 'वृह उद्यमने (तु० प०)' । हन्तेः पूर्वचत् ङः । यद्वा,
घराह्ये उपपदे जुहोतेर्दानार्थात् ङः । घग्मुदकं ददाति आदत्ते
चा घर्षितुमिति घराहो मेघः, पर्वतोऽपि घरमुत्कृष्टं पदार्थमाहार-
यति प्राणिभिः, पदार्थानां सर्वत्र सौलभ्यादाहरयतीत्युच्यते ।
घर आहारोऽनेति चा । घराहवन् कृष्णवर्ण इति चा । घरं
मूलं घृहत्पुचच्छत्यस्मादिति चा (निह० ५, ४) । घरं घरमिरय-
त्रैकस्य घराह्यस्य निवृत्तिः । घराह्याद् वृहेश्च घराह इत्यर्थः ।
घग्मुदकमाददाति आदीयते च तस्मान् पुरुषैर्वरः पदार्थ उदकमेव
चा । "विध्यद्वघराहं तिरो अद्रिमस्ता (ऋ० सं० १, ४, २८
२)"—"घराहमिन्द्र एमुयम् (ऋ० सं० ६, ५, ३०, ५)"—इति
च मेघस्य निगमो । पर्वतस्यान्वेपणीयः ॥

(१४) शम्यरः । 'शमु उपशमे (दि० प०)' अत्रान्तर्णो-
त्तण्यर्थः । 'शमेर्वन् (उ० ४, ३१)'—इति यन्प्रत्ययः । शमयति

नाशयति असुरानिति शम्भो चक्रः । यदुवा, शात्त्यते-
 र्वाहुलकात् कन्प्रत्यये पृषोदरादित्वात् शमादेशः । शम्भोऽस्य-
 प्रहर्त्तृत्वेनास्ति । रो मत्वर्थीयः । प्रहरति हि घञः इन्द्रप्रेरितो
 मेघात् पर्वतानाञ्च पक्षच्छेदसमये । यदुवा, सम्पूर्वाद् घृणोतेः
 (स्वा० प०) 'प्रहृष्टद्विनिश्चिगमश्च (३, ३, ५८)'—इत्यपि
 सम्भरः सन् घर्ण्यत्ययेन शम्भरः । - सं त्रियते मेघेनाकाशं,
 भूमिः पर्वतेन । यदुवा, शम्भरमित्पुङ्गवनाम (निघ० १, १२),
 मत्वर्थीयस्य लुक्, उदकमस्यास्तीति वा, उभयत्रापि तुल्यम् ।
 "उ ताददर्भन्युना शम्भराणि चि (ऋ० सं० २, ७, १, २)"—
 "अधूनोत् काष्ठा अघ शम्भरं मेत् (ऋ० सं० १, ४, २५, ६)"
 —इति मेघस्य निगमौ । पर्वतस्यान्येवर्णयः ॥

(१५) रोहिणम् । 'रुह वीजजन्मनि (भू० प०)' । भवे
 यम् (३, ३, १८) रोहः आरोहणम् आदित्यपक्ष्यादीनामसिप्र-
 स्तीति । 'अत इनिङनी (५, २, ११५)', रोहि भान्तरिक्षम् ।
 'तत्र भयः (४, ३, ५३)'—इत्यण्, 'इनण्यनपत्ये (६, ४, १६४)'
 —इति प्रकृतिभावः रोहिणः । अन्तरिक्षेण हि गच्छति
 मेघः, पक्षच्छेदात् पूर्वं पर्वतद्योति तत्र भय इति यत्तुं शक्यते ।
 यद्वा, यदुलमन्यत्रापि (उ० २, ४६)'—इति इतच्प्रत्यये रोहिण
 इन्द्रः । 'तस्येदम् (४, ३, १२०)'—इत्यण् रोहिणः । आरोहति-
 मेघमिन्द्रः स्ववाहनत्वात्, 'तुषयाण्मेघवाहनः (अम० को० १,
 ४७),—इति तत्पठ्ययिषु पश्यते । अप्सगोमिः सद्य स्तिरसया
 पयनेष्विन्द्रस्य गमनान् नदीयता । यदुवा, उभयत्रापि

छेद्यलोदकभावेन सम्यग्धः । तथाच चरकाध्ययूणां ब्राह्मणे
इतिहासः श्रूयते—‘प्रजापतेर्चा एतज्जयोक्तन्तोक्तं यत्पर्वतास्ते
पक्षिण आसन्, ते यत्र यत्र कामयन्ते तन्परा तमासत, इयं
हि शिथिलासीत्, तेषामिन्द्रः पक्षानच्छिनत्, तैरिमा बृहदेति’ ।
“अहन्नहिमभिनद्रोहिणम् (ऋ० सं० १, ७, १६, २)” —“यो
रोहिणमस्फुच्छन्नवाहुः (ऋ० सं० २, ६, ६, २)” —इति
निगमौ क्रमेण ॥

(१६) रैवतः । रैवत्यो गावः ‘परावो यै रैवतीः’—इति
श्रुतेः । ‘तस्येदम् (४, ३, १२०)’—इत्यण् । मेघो हि सर्वत्र
पर्यति यवसं पानीयं च जनयित्वा तदीयो भवति, पर्यतस्तद्वत्तया ।
यद्वा, रयिरस्यास्तीति भतुपि ‘रयेर्मती बहुलम् (६, १, ३४ धा०)’
—इति सम्प्रसारणम्, ‘सञ्ज्ञायाम् (८, २, ११)’—इति घट्यम्,
सर्वस्य धनस्येशितृत्वात् रैवान् इन्द्रः, मघवेति हि तस्य नाम,
तदीयो रैवतः । पूर्ववत् तदीयत्वं द्रष्टव्यम् । निगमाद्यन्धेदणीयो ॥

(१७) फलिगः । प्रतिफलति तत् फलम् । तदस्मिन्नस्तीति
फलं स्वच्छमुदकं तद्गच्छत्याधारत्वेन मेघो धर्पिष्यमाणं पर्यतो
हि वृष्टिमिति विदोषः । उपकरणे ‘अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)’
—इति गमेर्ङप्रत्ययः, स्वच्छोदकपूर्ण इत्यर्थः । यद्वा, फलयतः
स्नानपानादिप्रयोजनवत् उदकं फलि, तद्गच्छतीति पूर्ववत् ।
माधवस्तु—फलमिदं न कर्माणि भिन्दन् गच्छति फलसंयुक्तो
गच्छतीति चा’—इति निरघोचत् । तस्यायमभिप्रायः प्रायेण
मेघो हि धर्मासु प्रीप्यजन्यं तापं भिन्दन् गच्छति, पर्यतोऽपि

स्वभारेण भूमिं भिन्दन्नधोगच्छति, अन्तकाले वा शतधा । स्वयमेव भिद्यमानो गच्छति नाशम् । कृपिफलस्य मेघाद्यन्तत्वात् फलसंयुक्तो गच्छति इत्युच्यते । तथाच कालिदासः—‘त्वय्यायत्तं कृपिफलमिति भूचिकारानभिज्ञैः’—इति मेघकाव्यम् । पर्वतोऽपि शस्यादिरुद्धवृक्षादिफलसंयुक्तो गच्छति च । फलवत्त्वदशायाम् । फलेर्गमि गम्यादित्वादिन्, गमेः पूर्ववत् डः (३, २, १०१) इति च । “फलं स्तोत्रं फलिगं रवेण (अ० सं० ३, ७, २६, ५)”—इति निगमः ॥

(१८), (१९) उपरः, उपलः । ‘आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः (निरु० २, २१)’—इत्यादिभाष्यस्य स्कन्दखामिग्रन्थः—‘आ उपर उपल इति, आङ् अभिविधौ मर्यादायामित्यन्ये, विना उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानीत्यर्थः । आ उपरादिति वक्तव्ये उभयोरुपादानं रलयोरपिशेषत्वप्रदर्शनार्थम् । तयोश्चैकंनिर्वचनत्वप्रदर्शनार्थमेकयोगपक्षत्वं चाङ्गीकृत्याह—‘उपर उपलो मेधो भवति (निरु० २, २१)’—इति । कथ्यमाणनिगमापेक्षया उपलशब्दस्य च पाषाणे प्रसिद्धत्वात् ‘तेषामुपरः सविष्टो मध्यमः’—इति तत्सङ्घातशब्दे पर्वत उपलशब्दाद्यत्यन्तेन प्रसिद्ध एवेति मेघग्रहणं कृतम् । मर्यादापक्षस्य च मेघग्रहणमेव लिङ्गमिति उत्तराणि मेधस्यैवेति । यदा पर्वतस्तदा उपेत्य रमन्ते हासिन् अभ्राणीति, मेघपक्षे आप इति । अभिविधिपक्षे ‘नेदं निर्वचनम्’—इति । जनेर्विधीयमानो डप्रत्ययः (३, २, ६७) बाहुलकाद्रमेर्भवति (३, ३, १), कृदुत्तरपदप्रवृत्तिस्वरं (६, २, १३६) बाधित्वा अव्ययपूर्वपदप्रवृत्ति

तिस्वत्वम् (६, २, २) । 'उपरो जलघापनान्'—इति माधवः ।
 वषेः इदरादित्वात् (उ० ५, ४२) अस्त् द्रष्टव्यः, सम्प्रसारणं
 च यादुलकात् । 'उपरमिव हि नमस्त्यभ्रं भूर्मा पर्यतश्च'—
 इति माधवः । अत्र श्रीमोजः—'पृषिपटिदेविकेविविविचिभ्य-
 धिन्'—इत्यलच्प्रत्ययः । ध्युत्परयनवधारणासावगृह्यते । मैघ-
 नामत्ये तत्र—“गणामुपरा उदायन् (ऋ० सं० ७, ७, १६, ३)”
 —इति निगमः । पर्यतानां चान्वेषणीयः “हिरण्यनिर्णिगुपरा
 न ऋषिः (ऋ० सं० २, ४, ४, ३)”—इति । अत्र 'उपरा
 अम्माच्छिला दीर्घाः'—इति माधवः ॥

(२०) चमसः । 'चमु अदने (भू० प०), 'अत्यचिचमि
 (उ० ३, ११३)'—इत्यादिना असच् ॥

(२१) अहिः । 'इण् गतो (भदा० प०), 'इन् सार्वधातुभ्यः
 (उ० ४, ११४)'—इतीनप्रत्ययः, गुणावादेशां, यकारस्य हफारो
 ष्यत्ययेन । ष्यत्यन्तरिक्षो । अयतेरेय गत्यर्थादिनप्रत्यये पूर्वघट्ट
 ष्यत्ययः । यद्वा, 'अहि गतो' मौवादिकः (आ०), इन्प्रत्ययः,
 यादुलकान्तलोपः, आगमानित्यत्वाद्वा नुम् न क्रियते । इत्य-
 याधिकारे श्रीमोजदेवः—'आहिकुण्डलिकं पात्रलोपश्च'—
 इति । यदुवा, 'अह्य्यासी' स्वादिः (प०), इन्, अहोति व्याप्नोति
 आकाशं दिगन्तराणि वा । यदुवा, आङ्पूर्वाद्धन्तेः हिसार्थाद्
 गत्यर्थादुवा 'आङि अिहनिभ्यां हस्वश्च (उ० ४, १३३)'—
 इति इण्प्रत्ययो ङिश्च, आ समन्तात् हन्ति भित्ति उष्णमामि-
 मुष्येन, हन्ति गच्छत्यन्तरिक्षम् । यदुवा, केवलादेव हन्तेर्यादुल-

कादिण्प्रत्ययो द्विश्च, हिः हन्ता, नहन्ता अहन्ता, अहिः अहिंसक इत्यर्थः, सर्वदा लोकस्य घर्षप्रदत्वात्। माधवेन तु—‘त्वमपामपिधाना घृणोरण (ऋ० सं० १, ४, ६, ४)’—इत्यत्र घाजसनेये तु ‘सोऽग्निपोमावभिसम्बभूय सर्वां विद्यां सर्वयशः सर्वमन्त्राद्यं सर्वां धियं स यत्सर्घमेतत् समभवत् तस्मादहिः’—इति प्रदर्शितम्। तेन चैतद् युक्तम्। अदिशब्दोऽसुरस्यान्वक आशुदात्तः। “यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीनाम् (ऋ० सं० १, २, ३६, ७)”—इति। नदी-घवनोऽन्तोदात्तः। ‘इन्द्रोदक्षं परि जानादहीनाम् (ऋ० सं० ८, ७, २७, ६)’—इति। अत्रादिशब्दमेघनामहोनाभापयत् स्कन्दस्वामी। “दासपत्नीरहिगोषा अतिष्ठन् (ऋ० सं० १, २, ३८, १)”—इति निगमः ॥

(२२) भ्रमम्। ‘भ्रम राती (भू० प०),’ पचाधच् (३, १, १३४)’ भ्रन्त्यन्तरिक्षे। आपो रातीति घा अपृशब्दे कर्मण्युपपदे रातेर्दानार्थात् ‘आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३),’ पकारस्य मकारो व्यत्ययेन (३, ४, ६८)। न भ्रंस्यत्यस्मादापो घर्षा-सम्पदादन्पन्नेति घा। यदुक्तं—‘न भ्रंस्यति यतस्तेभ्यो जलान्पन्नाणि नान्यतः’—इति नञ्पूर्वात् ‘भ्रसभ्रंस अधः—पतने (भू० आ०)’—इत्यस्मान् ‘अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)’—इति उप्रत्ययः। न भ्राजते घा घर्षासु मग्निवर्णत्वात् भ्राजतेः पूर्ववत् ङः (३, २, १०१)। “प्राणः पितृविद्युदभ्रेव रोदसी (ऋ० सं० ७, ३, १, ३)”—“उदघ्राणी वस्तनयन्नियन्ति (ऋ० सं० ४, ७, १८, २)”—इति च निगमो ॥

(२३) घलाहकः । घलाकाभिर्होयते गम्यते इति घलाहकः ।
घारिचाहको घा, वृथोदरादित्वात् (६, ३, १०६) घर्णागमेदिना
साधुः । घराहशब्दाद्वा 'संज्ञायां कन् (५, ३, ७५)',
रेफस्य लकारः । उक्तार्थो घराहशब्दः (१३), विवृतस्या-
साधारण्यार्थत्वप्रदर्शनाय पुनः पाठः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२४) मेघः । 'मिह सेचने (भू० प०)', पचाद्यच् (३, १,
१३४), न्वट्फादित्वात् कृत्वम् । मेहति सिञ्चति घर्षणभूमिं
मेघः । "घृषा घां मेघो घृषणा पीपाय (ऋ० सं० २, ४, २६,
३)" — "अस्मिन् मेघे विद्युत्" — इति च निगमौ ॥

(२५) दृतिः । 'दृ विदारणे (यद्वा० प०)' । 'दृणातेहस्यश्च
(उ० ४, १७८)' — इति तिप्रत्ययः, ह्रस्वविधानसामर्थ्याद्विगुणो न
भवति । दीर्घ्यते हन्त्रेण, दृतिवन् स्यन्दमानाधारत्वाद्वा । "दृतिं
सुकर्णं विधितं न्यञ्जम् (ऋ० सं० ४, ४, २८, २)" — "ईशानो
पिबृजद् दृतिम्" — इति च निगमौ ॥

(२६) ओदनः । उदकशब्दे उपपदे ददातेः 'इत्यन्त्युदो घटुल्म्
(३, ४, ११३)' — इति कर्त्तरि ल्युट् । ओदनः उदकदानेत्यर्थः ।
यद्वा, 'उन्दी फलेदने (द० प०)', 'उन्देर्नलोपश्च (उ० २, ७२)' —
इति युच्प्रत्ययः, गुणः, उनत्ति घनभूमिम् ओदनः । "धारयन्
गमोदनम् (ऋ० सं० ६, ५, ३०, १)" — इति निगमः ॥

(२७) कृन्धिः । 'कृन् सेचने (भू० प०)', 'कनिन्युहृषीत्यादिना
(उ० १, १५४) कनिन्, कृन् । शत्रुजयादिसाधनन्यान् कामानां
परिना यतः, सन्निर्धायतेऽस्मिन्निन्नेन प्रहारकाले 'कर्मण्यधिकरणे

च. (१३, ३, १३)”—इति क्प्रत्ययः नलोपाभावश्छान्दसः ।
 “घिपन्धिः”—इति केषुचित् कोशेषु दृष्टम् । तदा विणं जलं
 धीयतेऽस्मिन्निति निर्वाहः, मुगागमश्छान्दसः । निगमदर्शनान्नि-
 र्णयः । “वृषा वृषन्धिश्चतुरधिमस्यन् (ऋ० सं० ३, ६, ७, २)”
 —इति मेघनाम न वेति सान्वित्यम् ॥

(२८) वृत्रः । वृणोतेराच्छादनार्थात् (स्वा० प०) ‘अमिचिमि-
 मिदिशंसिभ्यः कृन् (उ० ४, १५६)’—इति कृन्प्रत्ययो बाहुलकाद्
 भवति, आच्छादयति ह्यसी कृत्स्नं नमः । वर्द्धतेर्वा गतिकर्मणः
 (निघ० २, १४) ‘स्फावितश्चिचञ्चि (उ० २, १२)’—इत्यादिना
 रक्प्रत्ययः, गच्छत्यसौ कृत्स्नं नमः । वर्द्धतेर्वा वृद्ध्यर्थात्
 (भू० भा०) बाहुलकात् वृन्, धकारस्य सकाणे व्यत्ययेन, वर्द्धते
 हि वर्षास्तु मेघः । ब्राह्मणोक्ता एवामी त्रयोऽप्यर्थाः—‘यदि-
 मांल्लोकानवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्पम्, स इषुमात्रमिषुमात्रं
 विष्वक् भवर्द्धत’—इति । “वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः
 (ऋ० सं० १, ४, २६, २)” —“अहत्यद् वृत्रन्नयं विवेरपः
 (ऋ० सं० ८, ८, ५, १)” —इति च निगमौ ॥

(२९) असुरः । ‘असु क्षेपणे (दि० प०)’, ‘असिमसौहृन्
 (उ० १, ४२,—४३)’—इति उरन्प्रत्ययः, अस्यति क्षिपतिभूमी
 जलम् । यद्वा, अस्यते क्षिप्यते स्थाने इन्द्रेण वर्षार्थम् । यद्वा,
 अस्ति (भू० प०) तिष्ठति ‘शृस्वन्निदित्रप्यसिचसि (उ० १, १०)’
 —इत्यादिना डप्रत्ययः असुः । शरीरे वसतीत्यसुः प्राणः ।
 ‘प्राणा वा आपः’—‘पानीयं प्राणिनां प्राणाः’—इत्यादिदर्शनात्

असुराग्नेनात्र जलमुच्यते । तद्भाति, 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' ।
यद्वा, जलवान् प्राणवान् वा । रो मत्वर्थीयः । यदुवा, 'अस
गतिदीप्त्यादानेषु' मौवादिकः स्वस्तित्, पूर्वस्मादेव सूत्रादुरन् ।
असति गच्छत्यन्तस्थिते, दीप्यते स्वयम्, आदत्ते वा जलं वरि-
तम् । यदुवा, 'सुर ऐश्वर्ये (तुदा० प०)', इगुपधलक्षणः कः
(३, १, १३६), सुरतीति 'सुर ईश्वरः स्वतन्त्र इत्यर्थः,
असुरः अनीश्वरः, इन्द्रादिपरतन्त्र इत्यर्थः । "द्विषः श्येनासो
असुरस्य नीलयः (ऋ० सं० ८, ४, २४, १)" — "दीर्घाध्रियोर-
क्षमाणा असुर्यम् (ऋ० सं० २, ७, ६, ४)" — इति च
निगमौ ॥

(३०) कोशः । कोशतिः शब्दकर्मणः (भू० प०) पचाद्यचि
(३, १, १३४) कृषोदरादित्यात् (६, ३, १०६) रेफलोपः कोशः ।
मेघो हि गर्जितलक्षणं शब्दं करोति । कुप्यतेर्वा घृण्यतेर्वा
(दि० प०) असिधेर्वायै पकारस्य शकारः, इगुमात्रमयद्वैतैत्यु-
क्तम् । कोशतिश्छादनार्थ इति माधवः, पूर्वयदयच्छादयत्यसौ
एतन्नं तमः । जलस्य कोशस्थानीयत्वात् कोश इत्यन्ये ।
यदुवा, 'कु शब्दे (तु० आ०)', 'कुदापान्यः शः' — इति श्रीमो-
जदैयः, कौति (अदा० प०) गर्जितशब्दं करोति कोशः । "द्विषा-
न कोशासो अस्रधर्पाः (ऋ० सं० ७, ३, २४, ६)" — "महान्तं
कोशमुदचा नि विञ्च (ऋ० सं० ४, ४, २८, ३)" — इति च
निगमौ ॥

श्लोकः (१) । धारा (२) । इला (३) । गौः
 (४) । गौरी (५) । गान्धर्वी (६) । गर्भीरा (७) ।
 गम्भीरा (८) । मन्द्रा (९) । मन्द्राजनी (१०) ।
 वाशी (११) । वाणी (१२) । वाणी च्ची (१३) ।
 वाणः (१४) । पविः (१५) । भारती (१६) ।
 धमनिः (१७) । नालीः (१८) । मेना (१९)
 मेलिः (२०) । सूर्या (२१) । सरस्वती (२२) ।
 निवित् (२३) । स्वाहा (२४) वशुः (२५) । उप-
 व्दिः (२६) । मायुः (२७) । काकुत् (२८) । जिह्वा
 (२९) । घोषः (३०) । स्वरः (३१) । शब्दः (३२) ।
 स्वनः (३३) । चट्क् (३४) । होत्रा (३५) । गीः
 (३६) । गाथा (३७) । गणः (३८) । घेना (३९) ।
 आः (४०) । विषा (४१) । नग्ना (४२) । कशा
 (४३) । धिपणा (४४) । नौः (४५) । अक्षरम्
 (४६) । मही (४७) । अदितिः (४८) । शची
 (४९) । वाक् (५०) । अनुष्टुप् (५१) । घेनुः (५२) ।

बल्युः (५३) । गल्दा (५४) । सरः (५५) ।
सुपर्णी (५६) । वेकुरा (५७) । इति सप्तपञ्चाशद्
वाङ्नामानि ॥ ११ ॥

‘आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्यतनामभिः ।
पाङ्नामान्युत्तराणि (नि० २, २१—२३)’—इति भाष्ये
स्कन्धसार्मा—‘उत्तराणि सप्तपञ्चाशत् श्लोकेत्यादीनि वाङ्ना-
मानि । उच्यते इति वाक् इन्द्रियम्, तत्कार्यः शब्दोऽप्युच्यते
इति वाक्, उच्यतेऽनया अर्थः इति वाक् स्तनयिषु लक्षणा
माध्यमिका साप्युच्यते इति वाक्, तदधिष्ठाप्यपि देवता
यागिष्यते । सर्वतश्चास्या मेघहेतुत्वात् मेघनामस्य उत्तरा-
णीति । स च वाक्शब्दः ‘घञि परिभाषणे (अ० १० प०)’—
इत्यस्मात् धातोः ‘क्वि घञि (उ० २, ५४) (३, २, १७८ पा०)’
—इत्यादिना क्विपि दीर्घत्वे सम्प्रसारणाभावे च ध्युत्पन्नः ॥

(१) श्लोकः । ‘ध्रु श्रवणे (भू० प०)’ ‘इण्भीकापाश्ल्यति-
मचिभ्यः कन् (उ० ३, ४१)’—इति कन्प्रत्ययो यादुलकाद्वयति,
गुणः, कपिलकादित्वान् लत्वम्, ध्रूयते इति श्लोकः । यदुवा,
श्लोक सङ्घाते (भू० आ०) ‘पुंमि सम्प्रायां घः (३, ३, ११८)’
श्लोक्यते पयते रूपेण संहृत्यते कविभिः श्लोकः ‘पये यशसि
च श्लोकः (३, ३, २)’—इत्यमरसिंहः । “अनम्य-श्लोको
यधिरा ततर्द (अ० सं० ३, ६, १०, ३)”—“श्लोको न यातामपि
याजो भग्नि (अ० सं० ७, ६, ११, ५)”—इति निगमौ ॥

(२) धारा । 'धुञ् धारणे (भू० उ०)' हितुमिति च. (३, ३, २६)'—इति णिचि. 'एरजण्यन्तानाम् (३, ३, ५६ भा०.)'—इत्यस्याप्रापकत्वादेव. 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति कर्त्तरि भवति । यद्वा, धारेः पचाद्यच् (३, १, १३४)' लोकस्य धारयित्री धर्पप्रदानेन स्वामिधेयस्य धा । "तनसहे सुधारा"—इत्यत्र धारा घाङ्नाम । "धारा सुतस्य रोचते (ऋ० सं० ७, ५, २४, १)"—"यः ससाद् धारामृतस्य (ऋ० सं० २, ५, ११, ४)"—इति च निगमौ ॥

(३) इला । 'इल क्षेपणे (तु० प०)' इगुपधेभ्यः (३, १, १३५) कर्त्तरि विधीयमानः कः प्रत्ययो बाहुलकात्. (३, ३, १) भवति । क्षिप्यते प्रेर्यते उच्चारणकाले प्राणेन, इला । यह-चानां लत्वमुक्तं पूर्वमेव । यद्वा, 'ईङ् स्तुती (अदा० आ०)'—'जि इन्धी दीती (रु० आ०)' आभ्यां पूर्ववत् कः (३, ३, १), पृषोदरादिः. (६, ३, १०६), ईङ् इति स्तूयतेऽनया देवता ईड्यते वा या स्वयं देवतात्वात्, दीपयति प्रयोक्तारं, दीप्यते वा स्येन तेजसा । यद्वा, इलेत्यस्मनाम (निघ० ३, ७), भकारो मत्वर्थीय यजमानानां देयेनान्नेन हविर्लक्षणेन वा तद्वती इला । "अभि न इला यूथस्य माता (ऋ० सं० ४, २, १६, ४)"—इति निगमः ॥

(४) गौः । व्याख्याता पृथिवीनामसु (१) । गच्छति यज्ञे-
प्राहता, गीयते स्तूयते वा । "अयं स शिङ्क्ते येन गौ रभी-
वृता (ऋ० सं० २, ३, १६, ४)"—इति निगमः ॥

(५) गौरी । रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः (निघ० १, १६) ।

“प्रज्ञेन्द्राप्रचञ्चविप्रकुञ्ज (उ० २, २७)”—इत्यादिसूत्रेण रन्-
प्रत्ययान्तो गौरशब्दो निपातितः, तस्माद्बुधेर्धातोर्गायादेशः,
‘यिद्गौरादिभ्यश्च (४, १, ४१)’—इति ङीप् । स्वया दीप्त्या
ज्वलति घादेयतात्वात् । यद्वा, ‘गूरी उद्यमने (तु० आ०)’
अस्मात् इनि पूर्वयन्निपातनादुकारस्योकारः, रोरि (८, ३, १४)—
इति रेफलोपः, ङीप्, गुरस्ते उद्यच्छति स्वमभिधेयम्, उद्यमनं
घार प्रकाशनम् । यद्वा, ‘गुड् अव्यक्ते शब्दे (भू० आ०)’—
इत्यस्माद्धिपातनादिनि वृद्धिः, गयते गर्जितलक्षणमव्यक्तशब्दं
फरोतीति गौरी । यद्वा, शुक्लवर्णत्वात् गौरी, ‘भासत्कपर्दी
शशिकलामिन्दुकुन्दावदन्ताम्’—इत्याचार्याः, ‘सर्वशुक्ला सर-
स्पती’—इति च । “गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति (ऋ०
सं० २, ३, २२, १)”—“सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ०
सं० ६, ७, ३८, ३)”—इति च निगमो ॥

(६) गान्धर्वी । गविगन्धर्व्यशो घः । ‘भृज् धाग्ने (भू०
उ०)’—इत्यस्मात् गोशब्दोपपदाद्वा घप्रत्ययः, उपपदस्य गवा-
देशः, गन्धर्वः, गौर्यक्षस्य धारयितेन्द्रः । भोजस्तु ‘गन्धेर्गच् च’—
इति घप्रत्ययोऽघिरतः धातोर्गागमश्च । गन्धयते अर्दयति
हिनस्ति देयशत्रूनिति गन्धर्वः इन्द्रः । ‘गन्ध अर्दने’—इति
धातुधुरादिरात्मनेपदी । ‘तम्येदम् (४, ३, १२०)’—इत्यण्,
ङीप् (४, १, १५), गान्धर्वी । ऐन्द्रीत्यर्थः । तथाच ब्राह्मणम्—
‘अथ ऐन्द्रपापघ्नी तम्ये यदैन्द्रं पदं तेन पार्वं कल्पयति, पाग्घैन्द्रः

(ऐ० घ्रा० २, ४, २)—इति । यदुवा, गन्धर्वा देवानां गायकाः, तेषामियम् । तथाचैतरेयब्राह्मणे—‘सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वसीत् (ऐ० घ्रा० १, ५, १)’—इत्यस्मिन् खण्डे षाचो गन्धर्वीत्यं स्पष्टमुक्तम् । ‘तां गन्धर्वोऽवेदीत् गर्मे अन्तः’—इति श्रुतिः । “अग्निर्गन्धर्वो पथ्या मृतस्य (ऋ० सं० ८, ३, १५, ६)”—इति निगमः ॥

(७) गमीरा, (८) गम्मीरा । भीयन्ति (द्वि० प०) रातीति (अदा० प०) भीराः । ‘आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)’ । गवां भीरा गमीरा गम्मीरा च । पृपोदरदित्वात् (६, ३, १०६) गौशब्दस्य गभावो गम्भावश्च । स्तनयितुलक्षणा हि माध्यमिका चाक् श्रूयमाणेष्वं सर्वप्राणिनां मियमादधाति । यदुवा, उणादौ गमीरादिसूत्रेण ‘गमैर्धातोरीरन्त्यये नुमगमो मकारस्य विकल्पेन लोपो निपात्यते’ (उ० ४, ३४) । गच्छति पक्षे, अधिगम्यते वा हानार्थिभिः । यदुवा, ‘गाधु प्रतिष्ठालिप्सयोर्नान्धे च’ भीरादिकः (आ०), अस्य ह्रस्वं भञ्जान्तादेशः, वा च गुम् निपात्यते । प्रतिष्ठिता स्वस्मिन् स्थाने, लिप्स्यन्ते वा प्राजिभिः, प्रथिता वा गद्यपद्यादिरूपेण गमीरा गम्भीरा । उभयोरपि निगमावन्वेषणीयौ ॥

(९) मन्द्रा । ‘मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतियु (भू० आ०)’ । गच्छति स्वामिधेयं प्राप्नोति, अधिगम्यते वा तदर्थिभिः । “स मन्द्रया च जिह्या (ऋ० सं० ५, २, २२, ३)”—इति निगमः ॥

(१०) मन्द्राजनी । मन्द्रशब्दो व्याख्यातः । 'अज गति-
क्षेपणयोः (भू० प०)' ल्युट् । मन्द्रमजनं गमनं क्षेपणं प्रेरण-
मुद्यारणं वा यस्याः सा मन्द्राजनी, पिप्पल्यादिषु द्रष्टव्यम् ।
(४, १, ४१ ग०) "मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि (ऋ० सं०
७, २, २१, २)"—इति निगमः ॥

(११) घाशी । 'घाश्ट शब्दे' दैवादिकः (भा०)' । 'घसिघ-
पिपयजिराजिघ्रजिघ्रजिसदिहर्निकमियाशिवादिवास्मि इञ् (उ०
४, १२१) कर्मणि कारके वा दृश्यते, वाशिः । 'कृदि कारा-
दत्तिनः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्, वाशी । "ते वाशी
मन्त इप्सिणो अभी खो (१, ६, १३, '६)"—वाशीमिस्त
क्षताश्मन्मर्याभिः (ऋ० सं० ८, ५, १६, ४)"—इति च निगमौ ॥

(१२) घाणी । 'घणि शब्दे (भू० प०)' । घाहुलकादिञ्
(उ० ४, १२१) (३, ३, १), ङीप् (४, १, ४५ वा०) । "घाणीः
पुहृत्, धमन्तीः (ऋ० सं० ३, २, २, १०)"—"अभिवाणीर्द्ध-
पीणां सप्त नूपत (ऋ० सं० ७, ५, ६, ३)"—इति निगमौ ॥

(१३) घाणीन्त्री । घाणीं स्तुतिरूपां घाचमञ्जलि गच्छतीति
विगृह्य 'ऋत्विगित्यादिना (३, २, ५६) क्विनि, नलोपे, 'अचः
(६, ४, १३८)'—इत्यकारलोपे 'अञ्जतेक्षोपसङ्ख्यातम् (४, १,
६ वा०)'—इति ङीप् । "रये घाणीन्याहिता (ऋ० सं० ४, ४,
१५, ४)"—इति निगमः ॥

(१४) घाणः । घण्यते शब्दते घाणः । "अकर्तरि च कारके
सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १६)"—इति घञ् । यदुवा घणनं शब्दतं

चाणः, भाये घञ् (३, ३, १८), अर्शजावित्वाद्घञ् (५, २, १२७) ।
स्तुतिमती हि चाक् । “दीना दसा वि दुहन्ति प्र वाणम् (ऋ०
सं० ३, ६, १२, ॥)”—इति निगमः ॥

(१५) पघिः । ‘पूञ् पयने (कया० उ०)’ ‘अव ॥ (उ० ४,
१३४)’—इति इप्रत्ययः । पुनाति हि चाक् । ‘पावका नः
सखती (ऋ० सं० १, १, ६, ३)’—इति मन्थः । पूयते वा
सङ्कीर्तनादिना, ‘घाचं शौरिकघालापप्रसङ्गे पुनीमहे’ इत्युक्तेः ।
पूयतेऽनयेति वा शुद्धिकरणं हि चाक् । ‘पघिञ् हि घाञ्
पिदुषाम्’—इति माधयः । “वाणस्य चोदया पघिम् (ऋ० सं०
७, १, ७, १)”—इति निगमः ॥

(१६) भारती । ‘डु भृञ् धारणपोषणयोः (भू० उ०)’
‘भृमृद्भृशियजिपर्विषन्धमितमिनमिहर्षिभ्योऽतच् (उ० ३, १०७)’ ।
भरतशब्दात् ‘भृशदिभ्यश्च (५, ४, ३८)’—इति स्वार्धिकोऽण्,
ङीप् (४, १, १५) । विभर्त्ति जगद्वर्णप्रदानेन, स्वाभिधेयं वा
द्वियते [प्राणिभिः व्यवहारसाधनत्वेन । अथवा ‘अग्निर्भरतः,
प्राणो भूत्वा हवींषि विभर्त्ति’—इति वाजसनेयकम्, तदीया
भारती । तथाच ‘अग्निर्घाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्’—इत्युपनिषत्
(पे० उ० १, ६) । अथवा ‘भरतः (निघ० ३, १८)’—इति
ऋद्विङ्नाम, तदीया, स्तुतिसाधनत्वात् भारती । “आ भारती
भारतीभिः सजोषा (ऋ० सं० २, ८, २३, ३)”—इति निगमः ॥

(१७) घमनिः । घमतिर्गतिकर्मा (निघ० २, १४,), ‘अर्त्ति-
सुगृधभ्यस्यश्चवितरिभ्योऽनिः (उ० २, ६५)’—इत्यनिप्रत्ययः ।

गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः । गम्यते ह्यायते अनया अर्थः, ह्यायते वा विद्वद्भिः साध्वसाधुविभागेन । यदुवा, 'धमति'—इति वध्रकर्मः स्वपि पठ्यते (निघ० २, १६) । हन्यतेऽनया शापाक्रोशादिरूपयेति । तथाच 'चञ्च एव धाक्'—इति ब्राह्मणम् (ऐ० ब्रा० २, ३, ३) । 'धाक्सायका यद्वान्निःसरन्ति पौराहताः'—इति च महाभारतम् । "इन्द्रेपितां धमन्ति पप्रयन्ति (ऋ० सं० २, ६, ४, ३)" —इति निगमः ॥

(१८) नालीः । 'नल गन्धे (भू० प०)' 'वसिचपियजिराजिमजि (उ० ४, १२१)'—इत्यादिना विहितः । इन्द्रप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, 'रुदिकारात् (४, १, ४५ धा०)'—इति ङीप् व्यत्ययेन सौर्यिसर्जनीयः । 'गन्ध अर्दने (चु० आ०)' 'अर्द हिंसायाम् (भू० प०)' इति पठ्यते । गन्धनं हिंसात्मकं सूचनम्, सूचयति परमर्हाणि । "श्वमस्य धम्यते नालीः (ऋ० सं० ८, ७, २३, ७)" —इति निगमः ॥

(१९) मेना । 'मान पूजायाम् (चु० आ०)'—इत्यस्मात् 'यहुलमन्यप्रापि इन्च् भवति (उ० २, ४६)'—इति घचनादिनच्, यहुलग्रहणाद्यलोपः । पूज्यतेऽनया गुर्वादिरुपदेशाक्येन, पूज्या वा देवतात्वात् । आत्मेनां कृण्वन्नच्युतो भुवन्दुगोः (ऋ० सं० ८, ६, १०३) —इति निगमः । 'मेनां गर्जितशब्दम्'—इति माधवः ॥

(२०) मेलिः । सम्पर्कार्यो धातुः (चु० आ०) । पूर्ववत् बाहुलकादिञ् । सम्पृक्ता ह्यर्थेन धाक् । तथाच—'धागर्था-

विच सम्पृक्तौ—इति (रघो १, १) कालिदासः । “मेलिं मदन्तं
पिथोर्यस्ये (ऋ० सं० ३, १, २७, ४)”—इति निगमः ।
मत्पर्यायस्य लुकि वाग्मिनमित्यर्थः । “मेलिः स्यात् प्राण-
योजनात्”—इति माधवः ॥

(२१) सूर्या । सत्तेर्गत्वार्थात् (भू० प०), सुवतेर्वा प्रेरणा-
र्थात् (तु० प०) ‘राजसूर्यसूर्या (३, १, ११४)’—इत्यादिना
निपातनात् क्यपि सत्तेरुत्वं सुवतेर्वा रुडागमः । सति
गच्छति स्तौतृन् प्रति, कर्णशङ्कुलिं वा सुवति प्रेरयति बोद-
नाकृपां पुरुषावीनिदं कुर्विति । यद्वा, सुपूर्वादीरतेः ‘कृत्य-
त्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)’—इति कर्मणि क्यपि निपात-
नाद्वृत्तिः । सुण्डु ईर्यते उच्चार्यते इति सूर्या । यद्वा,
‘पु प्रेरणे (स्वा० उ०)’ ‘सुसूधीशृधिभ्यः कन् (उ० २, २३)’—
इति कर्मप्रत्ययः । प्रेर्यते उच्चारणकाले प्राणेन सूरः ‘छन्दसि स्वार्थे’
—इति यत्प्रत्ययः, सूर्या । यद्वा, सूरयो मेधाविनः, नानर्हति
‘छन्दसि च (५, १, ६७)’—इति यत्प्रत्ययः । यद्वा, सूरिषु साधुः
‘तत्र साधुः (४, ४, १८)’—इति यत् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२२) सरस्वती । सत्तेरसुन् (उ० ४, १८४) सरः । गद्य-
पद्यादिरूपेण प्रसरणमस्यास्तीति ‘अस्मायामेधास्रजो विनिः (५,
२, १२१)’ ‘बहुलं छन्दसि (५, २, १२२)’—इत्युक्ते मतुपि
ङीप् । यद्वा, सर इत्युदकनाम (निघ० १, १२) । सत्तेस्त-
द्वती धृष्ट्यधिदेवतात्वादुदकवती हि माध्यमिका वाक् । सैव
वासीधरी - सरस्वती । तद्वक्तं भाष्यकारेण—‘तत्र सरस्वती-

त्येतस्य नदीवन् देवातावच्च निगमा भवन्ति (निरु० २, २३)
—इत्यादिना । “पाचका नः सरस्वती (ऋ० सं० १, १, ६,
३)”—इति निगमः देवतायाः । “इयं शुष्मेभिः (ऋ० सं० ४, ७,
३०, २)”—इत्येता नद्याः ॥

(२३) निचिन् । ‘चिद् ज्ञाने (अदा० प०)’, निपूर्वः
‘सत्सुद्विषपद्रहबुह (३, २, ६१)’—इत्यादिना क्रिपि [अन्तर्णी-
तण्यर्थश्चात्र चिदिः] नितरां वेदयति ज्ञापयति स्वमभिधेयम् ।
“तान् पूर्वया निचिदा हमहे वयम् (ऋ० सं० १, ६, १५, ३)”
—इति निगमः ॥

(२४) स्वाहा । यस्य नास्ती यादृङ्निर्वचनं दृष्टं तत्सर्वं
सद्रूपेणैव लिख्यते । अत्र निरुक्तम्—‘स्वाहेत्येतन् सु आहेति
वा स्वा चागाहेति वा स्वं प्राहेति वा म्याहुतं हयिर्जुहोतीति वा
(निरु० ८, २०)’—इति । अस्य स्कन्दस्वामी—स्वाहेत्येतन्
स्याहावृत्तिशब्दस्य पूर्वपदं स्वाहाकारान्तो होममन्त्राणां फलार्थः,
‘न ह वै आहुतयो देवान् गच्छन्ति य अवपद्रुता वा अम्याहा-
वृता वा भवन्ति (शत० ब्रा० ६, ३, ६, १४)’—इति श्रुतिः ।
स्याहाकारस्य सम्प्रदानत्वेन मन्त्रान्तेऽवश्यम्भायित्वात् । अय-
मर्थः यस्यान्ते श्रूयते स होममन्त्रः शोभनमर्थमाह । अथवा
प्रजापतेः स्वा आत्मीयता चागाहेति स्याहाकाररूपा वाक् प्रजा-
पतिरुष्टेत्यर्थः । अथवा स्वं प्राहेति यजमानस्य, म्यं हविः
देवतायै दत्तं तदुद्देश्येन त्यागात्, तस्य यजमानो सौवं प्राहेति
स्याहा, सम्प्रदानत्वं स्याहाकारस्य स्पष्टमनेन प्रकारेण दर्शितं

स्वाहुतमित्यादिना । अथवा यदनेन स्वाहाकारेण जुहोति तदेव सुष्टुमर्यादया जुहोतीति, एवञ्च सति पूर्वकाणि निर्वचनानि ग्रूमः । इदन्तु जुहोतेरिति । अत्र भास्करमिश्रः—‘स्वयं सर-
 स्थती आह ग्रूते’ । ‘स्यैव ते वागित्यब्रवीत्’—इति ब्राह्मणम् ।
 स्वयमेवाहेत्यस्यार्थस्य द्योतकोऽयं निपातः प्रदेशान्तरेऽपि विम-
 च्यन्तसमुदायात्मनिपातः स्याहेति । संस्कारविशेषानवधारणा-
 धावगृह्यते । अत्र क्षीरस्वामी—‘सुष्टु आह्वयति स्याहा’ । अत्र
 स्याहाशब्दो नाव्ययम् अप्यग्निजायावाचित्यमित्यर्थः । भाष्ये
 तु स्याहाशब्दस्य षाङ्नामत्वेनाभिप्रेत्यकेर्दृष्टानि निर्वचनानि
 लिखितानि, तेषु यच्चोच्छ्रितं सद्य गृह्णन्तु विद्वत्सः । तस्याः
 वाचः सृष्टौ पृथिवी वाग्निश्चेति वाचोऽग्नेश्च कारणकार्यभावः
 श्रूयते । ‘अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत् (ऐ० उ० १, ६)’
 —इति । तस्मादग्नेर्वाचश्च सम्यन्धात् अग्रायी स्याहा वागित्यु-
 च्यते । वाति वातात्मत्वेन वागुच्यते इति सन्देहः । निगमः
 सुलभः स्वाहाकारपक्षे, अन्यत्रान्वेषणीयः ॥

(२५) वग्नः । ‘वच भाषणे (अदा० ५०)’, ‘वचैर्गञ्च (उ०
 ३, ३२)’ इति नुप्रत्ययः, चकारस्य गकारश्च । वग्नः वाचा
 समानोऽर्थः । “वग्नं मिथर्त्ति यं विदे (ऋ० सं० ६, ८, ४, १)”
 —“इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ (ऋ० सं० ७, ४, १३, ३)”
 —इति च निगमौ ॥

(२६) उपब्धिः । उपपूर्वात् पदेर्गन्त्यर्थात् (दि० आ०)
 ‘इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)’—इतीनप्रत्ययो बाहुलकादु-

पघालोपः, 'न पदान्तद्विचर्चन (१, १, ५८)'—इत्यनेन जश्चिधिं प्रति स्यानिचद्वाचनिषेधात् 'भक्तो जश् भशि (८, ४, ५३)'—इति पकारस्य चकारः । उप समीपे भक्तानां गच्छति, उप आचार्यसमीपे गम्यते इति वा । यद्वा, उपूर्वात् ददातेः (जु० उ०), द्यतेः (दि० ष०), दयतेः (भू० आ०) वा 'इत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति बहुलपचनात् 'उपसर्गो घोः किं (३, ३, ६२)'—इति किप्रत्ययः कर्त्तरि भवति चकारश्चोपजनः । उपेत्य ददातीत्यभिलपितम्, प्रयोक्तृणां, जण्डयत्यज्ञानं तर्कादि-समये प्रतिधादिनां वा, रक्षति भक्तानिति वा उपधिः । “आयो-पयतः पृथिवीमुपधिभिः (ऋ० सं० ८, ४, २६, ४)—उपधिरार्य-त्तिसोमः (ऋ० सं० ७, ३, २४, ५)”—“अृण्व आयता मुपधिः (ऋ० सं० २, ४, ६, २)”—इति निगमा ॥

(२७) मायुः । 'डु मिज् प्रक्षेपणे (क्र्या० उ०)' । ह्यापा-जिमिस्यदिसाध्यशुभ्य उण् (उ० १, १), 'मीनातिमिनोतिर्दाडां ह्यपि च (६, १, ५०)'—इत्यात्वम्, 'आतो युक् चिण्णतोः (७, ३, ३३)'—इति युक् । शिष्यते प्रेर्यते उच्चार्यते इति मायुः, प्रक्षिपति वृश्चयुद्धकं भूमाविति वा । “मिमाति मापुं ध्यसनाव-धिधिता (ऋ० सं० २, ३, १६, ४)”—इति निगमः ॥

-(२८) काकुत् । 'कैगैरै शब्दे (भू० ष०)' । सम्पदादि-त्वात् (३, ३, १४ वा०) क्विप् । कानं शब्दनं करोतीति का, मृगप्यादित्वात् कुः (उ० १, ३६) बाहुलकात् तकार उपजनः । यद्वा, 'कक वक लौल्ये (भू० आ०)', 'मृमोरुतिन् (उ० १,

६१)'—इत्येष घादुलकात् (३, ३, १) अस्माद् भवति णिघ काकुत् । ककते चञ्चला भवति एकस्मिन्नर्थे न प्रतितिष्ठती-
त्यर्थाः, तथाहि शब्दा अनेकार्था बहवः, एकार्थाश्च ककादिनाऽभि-
धीयमाना अनेकार्था भवन्ति । ककुदुच्चस्थानमस्यास्तीति काकुत् ।
मत्वर्थीयस्य लुक्, छान्दसो वीर्घः, सर्वथा पृथोदरादिर्यं शब्दः ।
“या ते काकुत् सुश्रुता या चष्टिा (ऋ० सं० ४, ७, १३, २)”
—इति निगमः ।

(२६) जिह्वा । ‘शेषयच्हजिह्वाग्रोवाप्वामीवा’—इतिनिपाताः ।
‘लिह आस्वाद्ने (अदा० उ०)’, वप्रत्यये, अस्यादेर्जकारो
निपात्यते । - लेढ्यास्वादयत्यनया ग्रन्थविषयायसारान् । यद्वा,
आह्वयतेः (भू० उ०) जुहोतेः (जु० प०) चायं यङन्तस्य
फः, सम्प्रसारणम् ‘अभ्यस्तस्य च (६, १, ३३)’—इति,
सम्प्रसारणे च ‘न धातुलोप आर्द्धधातुके (१, १, ४)’—इति
गुणनिषेधादुबडादेशे रूपम् । जोहुवाति पुनः पुनराह्वयति शब्दं
करोति रसान् चादत्ते जुहोत्यस्यात्मनि, जोहुवा सति ओकारस्ये-
कारादेशे उकारलोपे च जिह्वा । “पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्
(ऋ० सं० ३, ७, २६, १)”—“अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम् (ऋ०
सं० २, ५, १२, १)”—इति च निगमौ ॥

(३०) घोषः । ‘घुष शब्दोर्थः (भू० प०)’, ‘हलश्च (३, ३,
१२१)’—इति घञ् । घुष्यते शब्दते घोषः । “उतो पितृभ्यां
प्रविदानु घोषम् (ऋ० सं० ३, १, २, १)”—“इन्द्रे घोषा अशु-
क्षत (ऋ० सं० ६, ४, ४३, १)”—इति च निगमौ ॥

(३१) स्वरः । 'स्वृ शब्दोपतापयोः (भू० प०)', पुंसि सञ्-
ज्ञायां घः (३, ३, ११८) । स्वय्यते शब्दयतेऽनेन देवता, उप-
सृप्यतेऽनया मर्मस्पृक्प्रयुक्तयेति वा । स्वरतिरर्चतिकर्मा वा
(निघ० ३, १) । स्वय्यते स्तूयते देवतात्वात् । 'गोचरसञ्चर (३, ३,
११६)'—इत्यत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् घः । यडा, स्वरति
वैपतामिन्द्रादिम्, पद्याद्यच् (३, १, १३४) । "स्वरञ्च मे श्लोकश्च
मे (प० घा० सं० १८, १)" —इति निगमः ॥

(३२) शब्दः । शपत्याक्रोशे शाशपित्यां शप्ती । अस्य
वृत्तिग्रन्थः—'शपते अनेनेति शब्दः संस्कृता चाक् । फलां तृतीये
इति योगविभागात् अद्यतुर्येऽपि तृतीयं भवति'—इति । 'शब्दं
शब्दः'—इति क्षीरस्वामी । त्वेऽन्तरिक्षे शब्दं करोतीति वा ।
"शब्दो रोगिणो मीमांसा च"—इति निगमः ॥

(३३) स्यनः । 'स्यन शब्दे (भू० प०)' 'स्यनहसौर्घा (३, ३,
६२)'—इत्यप् । स्यन्यत इति स्यनः । "सिन्धोहमेरिच स्यनः
(ऋ० सं० ७, १, ७, २)" —इति निगमः ॥

(३४) प्रत्यप् । श्रूयते (तु० प०) स्तूयतेऽनया । यडा,
स्तूयते स्वर्य देवतात्वात् । 'श्रूच स्तुसौ (तु० प०)'—इत्यक्षात्
सम्पदादित्यान् (३, ३, १४ चा०) क्तिप् । "श्रूचा बने मानृचः
(ऋ० सं० ८, ५, २७, ३)" —इति निगमः ॥

(३५) होत्रा । 'हु दानादानयोः (जु० प०)'—'हुयामाश्रु-
भसिभ्यस्त्रन् (उ० ४, १६६)' । हुयतेऽनया मन्त्ररूपया हविः,
हुयतेऽस्यां प्राणः, हुयते वा प्राणः । तथाच—'चाचि हि प्राणं

जुहुमः प्राणे वा घाचम्—इत्युपनिषत् (ऐ०) । यद्वा, होत्रेति यज्ञनाम (निघ० ३, १७) ह्यतेऽस्मिन् हविरिति यज्ञश्च घागित्युच्यते तत्साध्यत्वात् । घाचं यच्छति घाचै यज्ञः—इति ब्राह्मणम् (ऐ० ब्रा० ५, ४, ५, ४, ५) । ऋतुयाज्यपेपु दशमे व्रैवे—“यनेम सद्धोमया चिन्तन्त्या (ऋ० सं० २, १, १७, २)”—इति निगमः “वीतिहोत्रं त्या कवे (ऋ० सं० ४, १, १६, ३)”—इति च निगमः ॥

(१६) गीः । गृणातिरर्चतिकर्मा (निघ० ३, १४), औणादिकः क्तिप्, ‘ऋत इद्धातोः (७, १, १००)’ ‘घौंयधाया दीर्घश्च (८, २, ७६)’—इति दीर्घः, हल्ङ्यादिलोपः (६, १, ६८), रेफस्य विसर्जनीयः । गृणात्यनया गीः । “तमिदुचर्दन्तु नो गिरः (ऋ० सं० ६, १, १०, ३)”—इति निगमः ॥

(३७) गाथा । ‘गै शध्वे (भू० प०)’ अर्चतिकर्मा च (निघ० ३, १४), ‘उपिकुपिगार्तिम्यस्यन् (उं० २, ३)’ । गायतीत्यसौ देवताः, गायन्ति तामिति वा गाथा । “तं गाथया पुराण्या (ऋ० सं० ७, ४, २५, ३)”—“युजन्ति हरी इविरस्य गाथया (ऋ० सं० ६, ७, २, ३)”—इति निगमौ ॥

(३८) गणः । गण ‘गणने’ बुरादिरदन्तः (प०) । ‘अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १६)’—इति घञ् । ‘अतो लोपः (६, ४, ४८)’ । गण्यते या गणः, अतो ‘लोपस्य स्थानिवद्भावात् वृद्धिर्न भवति । - गणेति केचित् पठन्ति । निगमोऽन्वेषणीयः ।

(३६) धेना । दधातेर्लटः शानञ्च व्यत्ययेन एत्याभ्यासलोपी
 दधाना स्वमभिधेयं वर्षप्रदानेन लौकिकाय वा । यद्वा, 'धेद् पाने
 (भू० प०)' 'धेद् इश्च (उ० ३, १०)'—इति नप्रत्ययः इकारश्चान्ता-
 देशः, गुणः, धयन्ति तामिति धेना । पानमत्र स्वीकारः । यद्वा,
 आस्याद्ः । धीयते पीयते आस्याद्यते घानेन, धयन्ति प्राणमिति
 वा धेना । तथाच—'तं माता रे हि स उ रेहि मातरम्'—इति
 श्रुतिः (ऋ० सं० ८, ६, १६, ४) । यद्वा, 'धियिः प्रीणनार्थः
 (भू० प०)' बाहुलकात् नप्रत्ययो नकारधकारयोर्लोपश्च, गुणः,
 धेना । प्रीणयति हि वाक् सुष्ठु प्रयुक्ता । 'धेना वाक् प्रीणनाद्धि
 वा'—इति माधवः । "धेना जिगाति दाशुपे (ऋ० सं० १, १,
 ३, ३)"—जनानां धेना अवचाकशद्दृषा (ऋ० सं० ७, ८,
 २५, १)"—इति च निगमो ॥

(४०) ग्नाः । गमेर्पातोः (भू० प०) 'धापृथस्यउयतिभ्यो नः
 (उ० ३, ६)'—इति बाहुलकात् नप्रत्ययो भवति ङिलोपश्च ।
 टाप् (४, १, ४) । गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः । जानन्ति काममिति
 ग्नाः । यद्वा, गच्छति, यक्षोप्यभूत् । 'अमि यहं गृणीहि नो
 ग्नायः (१, १, २८, ३)' इत्यत्र 'छन्दांसि धे ग्नाः'—इति ब्राह्मणम्
 —इति माधवः । तस्मात् छन्दसां गायत्र्यादीनां चाग्रूपत्वात्
 ग्नाव्यपदेशः । निगमोऽन्वेयणीयः ॥

(४१) विषा । 'विष् प्रेरणे (बु० प०)' । सम्पदादित्यात्
 (३, ३, ६४ पा०) क्विप् । कृतीयैकवचनम् । प्रेर्यते मनसा
 विषा । 'मनसा वा इयिता वाग्वदति (ऐ० ब्रा० २, १५)'—इति

ब्राह्मणम् । “वरुणाय विषा गिरा (ऋ० सं० ४, ४, ६, १)”—इति निगमः । गिरेति पदं निरुक्त्या योजनीयम् ॥

(४२) नना । न गच्छति पितृकुलात् बाल्यात् अनावरणापि न गच्छति लज्जामिति वा । ‘नमिकाऽनागतार्तधा’—इत्यमरः (२, ६, ८) । नना कन्या । ननाशब्दः पूर्वमेव निरुक्तः, इह नपूर्वः । नायं नञ्, किन्तु प्रतिषेधार्थोऽयं निपातः, अतः ‘न लोपो ननः (६, ३, ७३)’—इति न भवति । “नना”—इति केचित् । नमतेर्नप्रत्ययो बाहुलकान्मकारलोपश्च । नमयत्यनयेति नना । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४३) कशा । ‘काष्ट दीतो (भू० आ०)’ । अन्तर्णीतव्यर्थः । पचाद्यच् (३, १, ११४) । आकारस्य ह्रस्वत्वं छान्दसम् । प्रकाशयत्यर्थान् । यद्वा, क्लेशया सती घर्णव्यत्ययादिना कशा, घाग्धि-मुखात् काशते तत उपलब्धेः । यद्वा, ‘कश शब्दे (भू० प०)’ । अत्र शब्दाप्यते कशा । यद्वा, ‘कश गती (भू० प०)’ अच् (३, १, ११४) । गच्छति गन्तव्यम् । “या घा कशा मधुमती (ऋ० सं० १, २, ४, ३)”—इति निगमः ॥

(४४) धिपणा । धारयत्यर्थमिति धीः बुद्धिः । धारयति कर्त्तारं फलप्रदानेनेति धोः कर्मबुद्धिः कर्म वा । सनोति सम्मज्जते इति सनोतेः (पणु त० उ०) पचाद्यचि (३, १, ११४), प्रवोदरादित्वात् (६, ३, १०६) पूर्वपदह्रस्वत्वे च धिपणा । यद्वा, ‘जि धृग प्रागल्भ्ये (स्वा० प०)’ । ‘धृषेर्धिप् च सङ्ज्ञायाम् (उ० २, ८०)’—इति क्युप्रत्ययो धिपादेशश्च धिपणा ।

प्रगल्भसमर्था रक्षितुं जगद्गु वर्णप्रदानेनेत्यर्थः । यद्वा, 'दिधि-
पामि धिमैः (ऋ० सं० २, ७, २३, १२)'—इत्यत्र स्कन्दस्वा-
मिना पठितात् 'धिपि धारणे'—इत्यस्मात् 'धियशब्दे (जु० ५०)'
—इति धातुपाठपठिताद्वा बाहुलकात् क्युप्रत्ययो धिपणा
धानि स्वाभिधेयं धारयति सम्बन्धस्य नित्यत्वात् । शब्दाभ्यन्ते
धा मैघे अधिधिता 'मिमाति मायुं धिपणावधिधिता (ऋ०
सं० २, ६, १६, ३)'—इति ध्रुतिः । "आपश्च मित्रं धिपणा
व साधन् (ऋ० सं० १, ७, ३, १)"—इति निगमः ॥

(४५) नीः । 'सुद प्रेरणे (जु० ३०)' 'ग्लानुविभ्यां डौ
(उ० २, ६०)'—इति डौप्रत्ययः । नुचते प्रेर्यते मूलाधारा
दिस्थानिभ्यः प्राणेन । नमतेर्वा (भू० ५०) बाहुलकात् (३, ३, १)
डौ, नम्यते वा देवतात्वात् । "सुतर्माणमधिनायं रुहेमेति
यक्षो वै सुतर्मा नीः कृष्णाजिने वै सुतर्मा नीर्वाग्यै सुतर्मा नीः
(वे० ब्रा० १, ३, २)"—इति ब्राह्मणम्, "समितो नय्याहितम्
(अद० सं० ८, ७, २३, ४)"—इति च निगमौ ॥

(४६) अक्षरम् । 'अशू व्याती (स्वा० ब्रा०)' 'अश भोजने
(क्र्या० ५०)' । 'अशोः सरन् (उ० ३, ६७)'—इति सरन्प्रत्ययः,
ग्रथादिना (८, २, २६) पठ्यम्, 'पठोः कः सि (८, २, ४१)' ।
अश्रुते श्रोतुं स्वाभिधेयम्, व्याप्नोति वा अग्राति वा हविः ।
अञ्जेर्वा (ऋ० ५०) बाहुलकात् सरन् नकारलोपश्च । 'सरि च
(८, ४, ५५)'—इति चतुर्थम् । अनक्ति प्रक्षयति सेचयति
चपेण भूमिम् । यद्वा, नप्पूर्वात् क्षरतेः (भू० ५०) पचाद्यच्

(३, १, ११३) । न क्षरति, सर्वदा सच्चैः प्रयुज्यमानापि न क्षीयत इत्यर्थः । 'चावै समुद्रो न वै चाक् क्षीयते'—इति (पे० ब्रा० ५, ३, १) ब्राह्मणम् । "अक्षरेण प्रति मिम णताम् (ऋ० सं० ७, ६, १३, ३)" —इति निगमः । 'चाचा विरूपनित्यया'—इत्यर्थं माधवोऽपादीत् । "उपाक्षरा सहस्रिणी (ऋ० सं० ५, २, १६, ४)" —इति च निगमः ॥

(४७) मही । व्युत्पादिता पृथिवीनामस्तु (१, १४) । मलयते पूज्यतेऽनया देवता इति घा । "अमात्रं त्वा धिपणा तित्वेपे मही (ऋ० सं० १, ७, १५, २)" —इत्यत्र घाङ्नामत्थमपि युज्यते ॥

(४८) अवितिः । व्युत्पादिता पृथिवीनामस्तु (१, १४) । अवीना, सर्वदा सच्चैः प्रयुज्यमानापि न क्षीयत इत्यर्थः । "अनागमो आवितये स्याम (ऋ० सं० १, २, १५, ५)" —इति निगमः ॥

(४९) शची । अत्र क्षीरस्वामी—'शच श्वच गतौ' । शच-तीति तु धातुपाठे गत्यर्थो न दृष्टः । 'शच व्यक्तायां घाचि ('भू० आ०) ' इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४ पा० ११४) । 'कृदिका-रात् (४, १, ४५ घा०)'—इति ङीप् । शचते गच्छति यज्ञम्, शच्यते गम्यते ज्ञायतेऽनयाऽर्थः, शचते व्यक्तां वाचं करोतीति घा । "शचीर्मदन्त उत दक्षिणामिनेज्जिहायन्त्यो नरकं पताम (निरु० १, ११)" —इति निगमः ॥

(५०) चाक् । निरुक्ता पूर्वमेव (पृ० ६३) । "यद्वाग् वदन्त्यविचेतनानि (ऋ० सं० ६, ७, ५, ४)" —इति निगमः ॥

(५१) अनुष्टुप् । स्तोमतिवृद्धयर्थः (भू० आ०) । क्विप् । अनुपूर्वेण क्रमेण, पूर्वमकारात्मना ततः स्पर्शादिभिर्व्यञ्ज्यमाना पद्वते । तथाचोपनिषत्—‘अकारो वै सर्वा वाक् सैव स्पर्शोऽप्यभिर्व्यञ्ज्यमाना बहो मानारूपा ‘परा’ ‘पश्यन्ती’ ‘मध्यमा’ ‘वैखरी’ इति । तथाच ‘विरूपं वक्ति वाक् तावत्कं वपुः’—इति संचितप्रकाशे धामनदत्तः । ‘ध्वनिः वर्णः पदं वाक्यमित्याहुः पदचतुष्टयम् । वस्याः सूत्रादिरूपेण पाद्वयीं तामुपासहे’—इति श्रीभोजदेवः । अतिम्नुतिषु ‘चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि (निघ० १३, ६)’—इत्यत्र निघनया एव वा वृद्धिः प्रतिपादिता । यदुवा, पूर्वं पञ्चाशदक्षरात्मना तमो गद्यपद्यादिरूपेण पद्वते । तथाहि—‘परिमिता वर्णा अपरिमितां वाचो गतिमाप्नुयन्ति’—इति भगवानाश्वलायनः । यदुवा, स्तोमतिरचंतिकर्मा (निघ० ३, १४) । अनुपूर्वेण लौति देवताः । “अनुष्टुभमनु च चर्ष्यमाणमिन्द्रम् (ऋ० सं० ८, ७, १०, ४)”—इति निगम ॥

(५२) धेनुः । ‘धेनुपाने (भू० प०)’ । ‘धेट इष्ट (उ० ३, ३३)’—इति नुप्रत्ययः, इकारोऽन्तादेशः । धयति तामिनि धेनुः, पीयते हि वा तन्प्रवृत्तवृष्टिदारेण, धेनुवदोर्गधी सधंकामान् इति वा । ‘अधेन्याः चरति माययैष पान्वं शुभ्रवाँ अश्वत्थामपुष्पाम् (ऋ० सं० ८, २, २३, ५)’—इति ध्रुतिः । “गौर्गोः फामदुवा, सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यन्ते धुवेः”—इति दण्डी । तथा-
नागमः—‘एकः शब्दः सम्यक् वातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्यौ लोके च

कामधुग् भवति (शि० भा०)—इति । “अभि सप्त धेनवः
(ऋ० सं० ७, ३, १६, ५)”—“निघ्ण्टुः सचन्त धेनवः (ऋ० सं० २,
५, २६, ५)”—इति च निगमौ ॥

(५३) घल्गुः । ‘घल संवरणे (भू० भा०)’ । ‘घलेगुक् च
(उ० १, १६)’—इत्युप्रत्ययः । संवृणोत्याच्छादयति जगत्
व्याजोतीति घापत् । यदुवा, घल्गतिः शब्दार्थः (भू० प०), बाहु-
लकादुप्रत्ययः । गर्जितादिलक्षणं शब्दं करोति घल्गुः ।
“अयं नाभा घदति घल्गु षो गृहे (ऋ० सं० ८, २, १, ४)”—
इति निगमः ॥

(५४) गल्हा । ‘गल अदने’ भौवादिः (प०) । गलनं पूरणं
कामानां, गलः पूरणार्थः स्कन्दस्वामिनोक्त, तहदाति । ‘आतो-
ऽनुपसर्गो कः (३, २, ३)’ गल्हा । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(५५) सरः । ‘सुगती (भू० प०)’ असुनप्रत्ययः (उ० ४,
१८४) । गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः । सरति जानाति सर्वं देवता-
त्वात्, श्रापते वा विद्वद्भिः, सरति गच्छत्येव बाहुता । “सरो
न पर्णममितो घदन्तः (ऋ० सं० ५, ७, ४, २)”—इति निगमाः ।
अत्र प्रकरणात् स्तोत्रशस्त्रात्मिका यागुच्यते एवं माधव पेच्छत् ॥

(५६) सुपर्णी । सुपर्णशब्दो रश्मिनामसु व्याप्यातः (१, ५) ।
‘पाककर्णपर्णपुष्पफलमूल (४, १, ६४)’—इत्यादिना ङीप् ।
निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(५७) वेकुरा । ‘मा दीप्ती (अदा० प०)’—कान्तिं करोतीति
किञ्चिद् विगृह्य करोतेर्येणादिके कप्रत्यये ङिते ‘उदोऽयपूर्वस्य

(७, १, १०२) — 'बहुलं छन्दसि (७, १, १०३)' — इति ऋकारस्या-
नोष्ठ्यपूर्वस्यापि उकारो मकारस्य वकारेण आकारस्य एकारेण
च व्युत्पत्तिश्छान्दसत्वात् वेकुरा दीप्तिकारिणी प्रयोक्तुः ।
“वेकुरानामासि जुष्टा (ता० म० ब्रा० १, १, ३)” — इति निगमः ।
छन्दोगानां सामकल्पे षडितोऽयं मन्त्रः । 'व्यवेत्यातिकर्मणः
वेकुरा' — इति भरतस्वामिभाष्यम् ॥

इति सप्तपञ्चाशत् पादनामानि ॥ ११ ॥

अर्णः (१) । क्षोदः (२) । क्षद्गः (३) ।

नभः (४) । अन्मः (५) । कवन्धम् (६) ।

सलिलम् (७) । वाः (८) । वनम् (९) ।

घृतम् (१०) । मधु (११) । पुरीषम् (१२) ।

पिप्पलम् (१३) । क्षीरम् (१४) । विषम् (१५) ।

रेतः (१६) । कशः (१७) । जन्म (१८) ।

वृवूकम् (१९) । वुसम् (२०) । तुग्र्या (२१) ।

वुर्वुरम् (२२) । सुक्षेम (२३) । धरुणम् (२४) ।

सिरा (२५) । अररिन्दानिः (२६) । ध्वस्मन्वत्

(२७) । जामि (२८) । आयुधानि (२९) ।

क्षपः (३०) । अहिः (३१) । अक्षरम् (३२) ।

स्रोतः (३३) । तृप्तिः (३४) । रसः (३५) ।
 उदकम् (३६) । पयः (३७) । सरः (३८) ।
 भेषजम् (३९) । सहः (४०) । शवः (४१) ।
 यहः (४२) । ओजः (४३) । सुखम् (४४) ।
 क्षत्रम् (४५) । आवयाः (४६) । शुभम् (४७) ।
 यादुः (४८) । भूतम् (४९) । भुवनम् (५०) ।
 भविष्यत् (५१) । महत् (५२) । आपः (५३) ।
 व्योम (५४) । यशः (५५) । महः (५६) । सर्णी-
 कम् (५७) । स्मृतीकम् (५८) । सतीनम् (५९) ।
 गहनम् (६०) । गभीरम् (६१) । गम्भिरम् (६२) ।
 ईम् (६३) । अन्नम् (६४) । हविः (६५) ।
 सद्म (६६) । सदनम् (६७) । ऋतम् (६८) ।
 योनिः (६९) । ऋतस्य योनिः (७०) ।
 सत्यम् (७१) । नीरम् (७२) । रयिः (७३) ।
 सत् (७४) । पूर्णम् (७५) । सर्वम् (७६) ।
 अक्षितम् (७७) । वर्हिः (७८) । नाम (७९) ।

सर्पिः (८०) । अपः (८१) । पवित्रम् (८२) ।
 अमृतम् (८३) । इन्दुः (८४) । हेमं (८५) ।
 स्वः (८६) । सर्गाः (८७) । शम्बरम् (८८) ।
 अभ्रम् (८९) । वपुः (९०) । अम्बु (९१) ।
 तोयम् (९२) । तूयम् (९३) । कृषीटम् (९४) ।
 शुक्रम् (९५) । तेजः (९६) । स्वधा (९७) ।
 धारि (९८) । जलम् (९९) । जलापम् (१००) ।
 इदम् (१०१) । इत्येकशतमुदकना-
 मानि ॥ १२ ॥

‘उदकनामान्युत्तराण्येकशतम् (निरु० २, २४)’—

(१) अर्णाः । ‘ऋ गती (भू० प०)’ । ‘उदके तुद् च (उ० ४, १६२)’—इति अर्त्तरेषुन् प्रत्ययः । अर्णति तन् प्राणिभिरित्यर्थः । ऋच्छति निम्नं प्रदेशमिति वा अकारान्तोऽप्यस्ति । ‘ऋ गती (मया० प०)’ पलायच् (३, १, १३४) । ऋणाति गच्छति दिवो भूमिं घृणमाणम् । “सृजदूर्णस्यच यद्युधा (ऋ० सं० २, ४, १६, ४)” —“भगने दिवो अर्ण मच्छा जिगाति (ऋ० सं० ३, १, २२, ३)” —इति निगमो ॥

(२) क्षोदः । ‘क्षुदिर् सम्प्रेषणे’ भौवादिः स्वरितेत् । अमुन् (उ० ४, १८४) । क्षुयते क्षोदः । क्षुणं हि जलं पयंतादिभ्यः

शिलादिष्वधःपतनात् । “नाच्चा न होक्ः प्रदिशः पृथिव्याः
(ऋ० सं० ८, १, १८, ७)” — “यामो रसाद्भोदसोदः पिपिन्नथुः
(ऋ० सं० १, ७, ३५, २)” — इति च निगमो ॥

(३) क्षत्तः । ‘क्षद् स्थैर्ये (सौ०)’ — इति स्कन्दसामी ।
‘क्षद् गतिर्दिसनयोः (सौ०)’ — इति सुबोधिनीकारः । ‘अन्ये-
भ्योऽपि दृश्यते (३, २, ७५)’ — इति मनिन् । क्षद्दीति पिपा-
सादनिवर्त्तने । स्वकाष्ठे स्थिरं भवतिः जलाशयं व्याप्य स्थिरं
भवतीति वा । तथाच ‘स्थावरान् गृह्णामि’ — इति ध्रुतिः, गता-
वर्णं सौरसमित्यर्थः । हिनस्ति पिपासामुष्णं वा अतीप्सितं वा
पुरुषम् । “क्षदुमेवार्धेषु तर्त्तरीथ उग्रा (ऋ० सं० ८, ६, २, २)”
— इति निगमः ॥

(४) नभः । ‘णह वन्धने (दि० उ०)’ ‘नहैर्दिधि भश्च (उ० ४,
२०५)’ — इति विधीयमानोऽसुन् भकारदेशश्च बाहुलकादुक्तेऽपि
भवतः । नह्यते हि तन्मेवैर्दिधि भूमौ सेचादिभिः, नह्यति
प्राणिनां मनासीति वा । प्राणिनो हि यत्रोदकं पिबते तत्रैव
स्थातुं मनः कुर्वते । तथा — ‘समनसः खलु वै पशवोऽनाहृतास्ते
पशवो हि समनसः’ — इति ध्रुतिः । न न भातीति वा, एकस्य
नभो लोपः इतरस्य तलोपाभावः । भातेरसुनि टिलोपश्च बाहुल-
कात् । भात्येव स्वया दीप्त्या देवतात्वात् । यद्वा, नभ इव
नभः । तथाभ्यवर्त्तनवर्त्तने ‘अम्बुचद्राजते’ — इत्यादिना ‘ग्रन्थेन
आकाशस्य जलसाम्यमुक्तम्, साम्यस्योभयनिष्ठत्वात् अत्र जल-
मप्याकाशसदृशमित्युच्यते । “मदच्युतमीशानं नभोजाम् (ऋ०

सं० ७, ७, २५, ४)”—“नमोवसानः परियास्यध्वरम् (ऋ० सं० ७, ३, ८, ५)”—इति च निगमो ॥

(५) अम्मः । ‘आप्लु व्याप्तौ (स्वा० प०)’ । उदके लुम्भीन (उ० ४, २०४), अघ्रापो हस्योऽमुन्निति (उ० ४, २०२) च वसन्ते । व्याप्नोति सचमम्मः । तथाचार्यवर्णा धृतिः—‘सर्च-
मिदमम्मः (अथ० घ्रा०)’—इति, ‘आपो चा इदं सर्चम् (अथ० सं०)’—इत्यादिस्तुवाकश्च । “अम्मः किमासीदु गहनं गभीरम् (ऋ० सं० ८, ७, १७, १)”—इति निगमः ॥

(६) कयन्धम् । यन्धिरनिभृतत्वे (निह० १०, ४)’ निभृतं चञ्चलमतोऽन्यदनिभृतमचञ्चलम् तदनिभृतं, कयन्धः कमनीयश्च तद्वयन्धं चेत्यर्थः । कमेर्डप्रत्यये कः, यन्धेः पचाद्यचि यन्धः इति निर्वाहः । यद्वा, कं सुर्ज यन्नाति ज्ञानपानादिना । कर्म-
ण्यन् । यययोरविशेषात् घकारः, कयन्धम् । नीचीनधारं घट्टणः कयन्धम् (ऋ० सं० ४, ४, ३०, ३)—“अर्थमणो न मरुतः कयन्धिनः (ऋ० सं० ४, ३, १५, ३)”—इति च निगमो ॥

(७) सलिलम् । ‘सल गती (भू० प०)’ । ‘सलिफल्प-
निमहिमङ्गिमण्टिशण्डिपिण्डितुण्डिकुकिभूम्य इलच् (उ० १, ५५)’ । सलति गच्छति निघ्नं देशं, गम्यते प्राणिभिरिति वा । “गौरीमिमाय सलिलानि तक्षति (ऋ० सं० २, ३, २२, १)”—इति निगमः ॥

(८) घाः । ‘घृम् घरणे (स्वा० उ०)’ । म्यार्धिकोऽण् छान्दसः, तदन्तान् किम्, अणि लोपः, हल्ह्यादिलोपः, रेफम्य

विसर्जनीयः । । वृत्तं हि तदिन्द्रेण । तथा च श्रुतिः—‘अपकामं
स्यन्दमाना अजीवरत्त वाहिकम्’—इति । इन्द्रो दिवः शक्तिभि-
र्देवः तस्मादर्णमवो हितमिति । “वार्णं पथा रथ्ये ष खानीत
(ऋ० सं० २, ५, २५, १)”—इति निगमः ॥

(१) घनम् । “घनं पणं सम्भक्तौ (त० आ०)” । ‘पुंसि
सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)’) । ‘घन्यते सेण्यते घनम् ।
“यथा घातो यथा घनम् (ऋ० सं० ४, ४, २०)” —“सोमो
पिथ्यान्वतसा घनानि (ऋ० सं० ८, ४, १४, ५)” —इति च
निगमौ ।

(१०) घृतम् । ‘घृ घृ सेचने (भू० प०)’ । ‘अञ्जिघृत्तिभ्यः
क्तः (उ० ३, ८६)’—इति कप्रत्ययः । सेचयत्यनेन भूमिं वरुणः,
सिञ्चत्यनेनेति घा । ‘रुष्णं निषानं हरयः सुपर्णाः (ऋ० सं०
१, २२, ८, ४७)’—इत्यत्र ‘घृतमित्युदकनाम (निघ० १, १२),
जिघर्त्तैः सिञ्चितिकर्मणः (निघ० ७, २४)’—इति भाष्यम् । यद्वा,
‘घृ क्षरणदीप्त्योः (जु० प०)’ । गत्यर्थाकर्मकेत्यादिनाऽकर्मक-
त्वात् कर्त्तरि क्तः (३, ४, ७२) । जिघर्त्ति क्षरति मेघात् पर्वता-
दिभ्यो घा, दीप्यते वा स्वया दीप्त्या । “आदिदुघृतेन पृथिवी
व्युद्यते (ऋ० सं० २, ३, २३, १)” —इति निगमः ।

(११) मधु । मेघोदरवर्त्ति सलिलं मध्वित्युच्यते । तत्र
पुनर्यद्युतात्मा दह्यमानं सरः स्वर्णेन तद्गतेनैव घायुना ध्मायमानं
धमति (भू० प०) । धमतिर्गतिकर्मा (निघ० २, १४) वा अन्तर्णी-
तण्यर्थो निःकालने द्रष्टव्यः निर्धाम्यते निःकल्यते हि तन्मेघात् ।

यद्वा, 'मद्-तृती (दि० ष०)' । अस्माद्वाहुलकादुप्रत्ययो धान्ता-
देशश्च । आचन्ति हि तेन पीतेन प्राणिनः । यद्वा, मधुचत् स्यादु-
त्थात् मध्वित्युच्यते । इमानि स्कन्दस्यामिनिर्वचनानि । वैया-
करणपक्षे तु 'मन शाने (दि० आ०)'—इति, ऋसात् निदिति (उ०
१, ६) घर्त्तमाने 'फलिपाटिनिमिमनिजनां शुक्पटिनाकिधतश्च
(उ० १, १८)'—इत्युप्रत्ययो धोऽन्तादेशश्च । मन्यते अतिशयेन
जनैः इति मधु । 'मननीयं मधु'—इति मट्टभास्करमिश्रः ।
“विद्वान् मध्य उज्जमारा इशे कम (ऋ० सं० ७, ५, ३३, ५)”—
इति निगमः ॥

(१२) पुरीषम् । 'यृ पालनपूरणयोः (जु० ष०)' । 'शृपृम्यां
किञ्च (उ० ४, २७)'—इति ईयन्प्रत्ययः । 'उदोऽष्ट्यपूर्वस्य (७,
१, १०२)'—इति उद्रपरत्यम् । पूरयति जगत् प्रलयकाले, पूर्ण-
त्वेऽनेन तद्भावादि, पालकं वा जगतः शस्योत्पत्तिहेतुत्वात् ।
प्रीणातेर्षा (कथा० उ०) बाहुलकान् कीयन्प्रत्ययः, ईकारान्यो-
फारादेशः स च पफारात् परो द्रष्टव्यः । प्रीणाति जगत् पुरीषम् ।
“उद्यन्तस्समुद्रादुत वा पुरीषात् (ऋ० सं० २, ३, ११, १)”—इति
निगमः ।

(१३) पिप्पलम् । 'यृ पालनपूरणयोः (जु० ष०)' । 'कल्
पृत्पादिभ्यः'—इति कल्प्रत्यये 'उदोऽष्ट्यपूर्वस्य (७, १, १०२)'
—इति 'यदुल्लङ्घ्यसि (७, १, १०३)'—इति यदुल्लङ्घनात् उत्था-
भाये, पाहुलकरत्वात् द्वित्वे, अभ्यासस्य उरदत्वे, 'अर्त्तिपिपत्यंश्च
(७, ४, ७७)' 'यदुल्लङ्घ्यसि (१, ४, ७८)'—इतीत्यं, उत्तरस्य

पकारस्य द्वित्यमृकारलोपश्चापि । पिपिर्त्ति पिप्पलम् । पुरीषेण
समानार्थम् । 'अपि प्लवते'—इति नेरुक्ताः—इति क्षीरस्यामी ।
प्लवतेऽपि । 'प्लुङ्गन्तो (भू० आ०)' । गच्छत्यपि । अपिशब्दात्
तिष्ठतीति च गम्यते । तथाहि—जलं नदीषु प्रवाहवत्त्वात्
गच्छति निम्नं प्रदेशं वा । 'जलाशयादिषु तीरादिनिरुद्धत्वाच्च
क्वचिद् गच्छति'—इति माधयः । अपि वा प्लवतेर्गत्यर्थाद् ऊर्णो-
त्तेर्द्धप्रत्ययो व्याहुलकाद् भवति, टिलोपामावौ व्याहुलकादेव ।
पकारस्य द्वित्यमकारोपजनश्च । 'वष्टि भागुरिलोपमचाप्योस्य-
सर्गयोः (२, ४, ८२ भा०)—इत्यपिशब्दस्याकारलोपः, पिप्पलम्,
पृषोदरादिः । "तस्येदाहुः पिप्पलं स्याद्वग्रे (ऋ० सं० २, ३, १८
२)"—इति निगमः ।

(१४) क्षीरम् । 'घस्लृ अदने (भू० आ०)' । 'घसेश्चिञ्च
(उ० ४, ३३)'—इति ईरन् प्रत्ययः, चकारात् किञ्चेति अनुघर्षेते,
किञ्चात् 'गमहनजन (६, ४, ६८)'—इत्युपधात्लोपः, 'खरि ख
(८, ४, ५५)'—इति चत्वं घकारस्य ककारः, 'शास्तिघसिघसीनाञ्च
(८, ३, ६०)'—इति षत्वम् । अदन्ति तदिति क्षीरम् । 'क्षर सञ्च-
लने (भू० ५०)'—इत्यस्माद् व्याहुलकात् क्षीरन्प्रत्ययः टिलोपश्च ।
क्षरति हि तच्चेमेधात् । "क्षीरेण व्यातः कुयवस्य योरे (ऋ० सं०
१, ७, १८, ३)"—इति निगमः ॥

(१५) विषम् । 'विप्लृ व्याप्तौ (जु० उ०)' । 'विषेर्व्याप्तिकर्मणि'
—इति क प्रत्ययः । वेवेष्टि व्याप्नोति सचं विषम् । यदुचा, विपू-
र्णात् 'पणा शौचे (अदा० ५०)'—इत्यस्मात् 'अन्येष्वपि दृश्यते

(३, २, १०, १)'—इति जनेर्विधीयमानो ङप्रत्ययो बाहुलकाद्
भयति, णकारलोपोऽपि बाहुलकादेव । विशेषेण ज्ञात्पनेनेति
विग्रम्, तद्धि प्रथमं शौचसाधनम् । विपूर्वात् सचतेयां पूर्ववत्
ङप्रत्ययः । तद्धि ज्ञानपानावगादनार्थिभिः सेव्यते । “जातं
विध्याच्चो अहतं विरेण (अ० सं० १, ८, १६, १)” —“केयंऽग्निं
पेशी विग्रम् (अ० सं० ८, ७, २४, १)” —इति च निगमौ ॥

(१६) रेतः । ‘रि रीङ् स्रवणे’ दीवादिफः (आ०) । स्तुरिभ्यां
तुद् घ (उ० ४, १६७)'—इत्यनुप्रत्ययो तुडागमश्च गुणः ।
रीयते स्रवति रेतः । यद्गुहा, वृष्टिलक्षणात्तामसां दीवानां रेत-
स्त्वाद्देव उच्यते तगाच्चोपनिष्—दीवानां रेतो धर्मम्—
इति । “अस्मे रेतः सिञ्चनं यन्मनुर्हितम् (अ० सं० ५, १,
१४, २)” —“सप्तार्द्धगर्मा भुवनस्य रेतः (अ० सं० २, ३, २१, १)”
—इति निगमौ ॥

(१७) कशः । ‘कश गती (भू० प०)’ ‘कश शब्दे (भू० प०)’
उभयोरनुद् (उ० ४, १८४) । कशति गच्छति निम्नं प्रवेशम्,
मैघेभ्यः पठत् शब्दं करोतीति वा कशः । “यामिमं हामतिथिग्यं
कशो जुगम् (अ० सं० १, ७, ३५, ४)” —इति निगमः ॥

(१८) जग्म । ‘जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)’ । ‘अन्वे-
म्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)’—इति मन्त्र, औष्णादिको
वा (उ० ४, १४०) । जायते सृष्टिकाळे स्वकारणात् । ‘दाने-
रायः (तै० उ०)’—इत्युपनिषत् । जायन्ते घास्मिन् जलचारिणो
मत्स्यादयः । निगमोऽन्वेयणीयः ॥

(१६) वृवूकम् । व्रवीतिः शब्दाद्यात् (अदा० उ०), भ्रंशतेर्वा-
धःपतनार्थात् (भू० आ०), उभाभ्यां समुदिताभ्यां 'उलूका-
दयश्च (उ० ४, ४०)'—इति ऊकप्रत्यये निपातनादूपसिद्धिः ।
'ऊकप्रत्यये धातुद्वयस्य वृवूमाचः,—इति श्रीनिवासः । क्रमे-
णार्थः—तद्धि विपतत् साध्याकारं शब्दं करोति, भ्रश्यति
दिवोऽनावरणत्वात्, मेघेभ्यो भ्रश्यति शब्दवच्चेति "दुषा
यवूकं घहतः पुरीषम् (ऋ० सं० ७, ७, १६, ३,)"—इति
निगमः ॥

(२०) युसम् । विपूर्वात् ज्ञातेः (अदा० ण०) 'आतश्चोप-
सर्गे (३, ३, १०६)'—इति कप्रत्यये उपसर्गेकारस्योकारो
बाहुलकाद्भवति, धातोर्नकारलोपोऽपि बाहुलकादेव । विशेषेण
ज्ञात्येनेनेति युसम् । तद्धि प्रथमं शौचसाधनम् । भ्रंशतेर्वा
पचाद्यञि (३, १, १३४), पृषोदरादित्वावूहनीयं रूपम् ।
पूर्ववदर्थः । यदुवा, 'युस उत्सर्गे (दि० ण०)' । 'गेहे कः
(३, १, १४४)'—इति बाहुलकादस्मादपि भवति । घुस्यते
उत्सृज्यते मेघैरिति युसम् । "आविः स्वः कृणुते गूहते युसम्
(ऋ० सं० ७, ७, १६, ४)"—इति निगमः ॥

(२१) तुग्र्या । तुजतिर्हिंसायाम् (भू० ण०) । 'किप् च
(३, २, ७६)'—इति किप् । तुजन्ति हिंसन्ति तम औष्ण्येन
जनानिति वा तुजो रश्मयः । तदुवात् तुग्र्यः । रो मत्वर्थो-
योऽतिशायने । तुग्र आदित्यः, तत्र भवा तुग्र्या । 'भवे
छन्दसि (४, ४, ११०)'—इति यत् । 'आदित्याज्जायते वृष्टि-

वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः—इति मनुः (३ अ० ७६ श्लो०) । यद्वा,
तुग्रशब्देन ग्रीष्म उच्यते, अतिशयेनादित्य किरणवान् हि ग्रीष्म-
कालः । 'तत्र साधुः (४, ४, ६८)'—इति यत् । तुग्र्या ।
'अग्न्याकाशयक्षवरिष्ठेषु तुग्रशब्दः'—इति वृत्तिकारः । तत्र
भवे इत्यर्थे 'तुग्राद् घन् (४, ४, ११५)'—इति घन्प्रत्यये प्राप्ते
व्यत्ययेन 'भवे छन्दसि (४, ४, ११०)'—इति यत् । 'तुग्र्या
आपः'—'तुग्र्यमुक्कम्' उभयमपि दृश्यते । 'अग्नेरापः (तै०
उ०)'—इत्यपां कारणत्येन अग्नेः श्रुतत्वात्, अग्नेर्वै धूमो
जायते, धूमादभ्रम्, अभ्राद् वृष्टिः (सु० उ० ३, ५)—इति
क्रमेण वा आकाशे वृष्टिरक्षणेनापां विद्यमानत्वात्, यश-
स्यापि 'अग्नी प्रास्तादुतिः सन्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदि-
त्याज्जायते वृष्टिः'—इति (मनुः ३ अ० ७६ श्लो०) पारम्पर्येण
वृष्टिहेतुत्वात् । सर्वैश्वर्य्यसया वरिष्ठ इन्द्रो विचक्षितः,
वृष्टिप्रदानाद्य, तस्मात् तत्र भव इत्येवोऽर्थः सर्वत्र यथाकथञ्चित्
यकुंशकपते । "आयः शमं घृणमं तुग्र्यासु (ऋ० सं० १, ३, ३,
५)"—"उत यस्तुग्र्ये सचा (ऋ० सं० ६, ३, ४, ५)"—इति
य निगामी ॥

(२२) वुर्धुश्च । 'पृ पालनपूर्णायोः (जु० प०)' । 'निहे-
कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकात् कः । 'उदोऽप्यपूर्वस्य
(७, १, १०२)' । धुरम् । वपुषः शरीरस्य पूर्णं पालकं वा
वपुः पुरं सत् । वृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) घकाराकार-
लोपेन घकारद्वयस्य घकारदेशो घिसर्जनीयस्य रेफादेशेन

चुर्ध्वम् । चुर्ध्वमस्मिन्नस्तीति वा मत्वर्थोऽकारः (५, २, १२७),
चुर्ध्वत् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२३) सुक्षेम । 'क्षि निवासगत्योः (तु० प०)' 'क्षि क्षये
(भू० प०)'—इत्यस्मादुवा 'अर्त्तिस्तु सुदुसृष्टशिक्षमायावापदिय-
क्षिनीभ्यो मन् (उ० १, १३७) यादुलकादभिधानलक्षणाद्वा । 'प्रवि-
ष्णकारस्येत्सञ्ज्ञा न भवति'—इति उणादिवृत्तिः । क्षियन्ति
निघसन्त्यनेन प्राणिनः, गच्छन्त्यनेन पन्थानमिति वा, उपरिभागेन
क्षीयते वा । यद्वा, पूर्वस्माद् धातुद्वयान्मनिनि रूपसिद्धिः ।
'सुक्षेम'—इति माधवः पठति, निगमदर्शनान्निर्णयः । 'वृष्ट्यै
त्वा क्षेमाय त्वा (य०)'—इत्यत्र क्षेमशब्द उदफनामापि
अपितुमर्हति ॥

(२४) धरुणम् । 'धृञ् धारणे (भू० उ०)' । 'हेतुमति च
(३, १, २६)'—इति ञिच् । धारेर्णिङ् क्युनप्रत्ययः । धारयति
जगत् धरुणम् । "पथां विसर्गे धरणेषु सरूथो (ऋ० सं० ७, ५,
३३, ६)"—"धीरा इव ते कुर्धरणेऽप्यारभम् (ऋ० सं० ७, २, २६,
३)"—इति निगमौ ॥

(२५) सिरा । 'सृ गती (भू० प०)' । 'पचायचि (३, १,
१३४) टाप् (४, १, ४)' सरा, अकारस्येकारो व्यत्ययेन (३, १,
८५) । "वृषमाशयानं सिराम् (ऋ० सं० १, ८, २६, १)"—
इति निगमः । 'सरणशीलास्वप्सु'—इति माधवमाध्यम् ।
'सुरा'—इति केचित् पठन्ति । 'पुञ् अभिपये (स्या० उ०)
'अभिपयः पलेदनम्'—इति तद्वृत्तिः । 'पु प्रसवे' ऋदि-

दादिश्च (५०) । सुसुधागृध्रिभ्यः कन् (३० २, २३) — इति कन्प्रत्ययः । सुनोति क्लेदयति भूमिमिति । प्रसोति अनु-
जानाति सस्याद्युत्पत्तिं स्वसत्तया, स्यते वा परेषां स्वामिना
विनियोगात् । यदुवा, 'सुर ऐश्वर्ये' तुदादिः (५०) । सुरति
ईश्वरं भवति जगत् कर्तुं समर्थो भवतीत्यर्थः । निगमोऽन्वे-
षणीयः ॥

(२६) अररिन्दानि । 'रा हने (अदा० ५०)' । 'आह
गमहनजनः किकिजी लिट् च (३, २, १७१)' — इति क्तिप्र
त्ययः । लिङ्गद्वयात् द्विष्यञ्चनादिः । ररिदांता । ररियंस्व न
विद्यते तदररि, अन्यैरुदत्तमित्यर्थः । तद्दाति 'आतोऽनुपसर्गे कः
(३, २, ३)' अररिदम् । नकार उपजनः अररिदम् । अथवा
'इत्यल्युटो बहुलम् (३, ४, ११३)' — इति कर्मणि कर्मयति ।
ररिदत्तम्, न ररि अररि-उदत्तम् पृथिव्यादिभिः, कित्तत् ?
सुखम् । अररि ददातीति पूर्वयत् । उदक्तेन यद्दीयते सुखादिकं
तद्यान्यैः पृथिव्यादिभिः दातुमशक्यत्वादुदत्तमित्युच्यते । "अधा-
र्यदपरिन्दानि सुक्रतुः (अ० सं० २, २, ४, ५)" — इति निगमः ।
अत्र 'अदत्तदानमुदकैः' — इति माधवनिर्वचनानुक्रमणी ॥

(२७) ध्यस्मन्वत् । 'ध्वंसु गती च (भू० आ०)' । धकारा-
दधःपतनेऽपि । औष्णादिको मन्त्रिन् भावे (३० ४, १४०) ।
वाहुलकादुलोचः (१, ३, १) । ध्यस्म ध्वंसनं मीघेभ्यः पर्वता-
दिभ्यो वा अधःपतनं निम्नप्रदेशगमनम् । जलार्थिकर्तृकं वा गम-
नमस्यास्तीति मतुप्, 'अनो नुट् च (८, २, १६)' — इति मतुपो-

नुडागमः, नुटोऽसिद्धत्वात् (८, २, १) तस्य च घत्वं भवति (८, २, ६)। 'ध्वस्मन्वत् स्यात् ध्वंसनवत्'—इति माधवनिर्वचनानुक्रमणी। "सं त्वा ध्वस्मन्वदभ्येतु पाथः (ऋ० सं० ४, ५, १६, २)—इति निगमः। माधवस्तु 'समभ्येतु त्वां मदीये वर्द्धमानं ध्वंसनक्रियायुक्तमन्नं वचनं स्पृहणीयं सदससङ्ख्याकम्'—इत्यभाषयत् ॥

(२८) जामि। जामेर्गतिर्कर्मणः (निघ० २, १४) 'घसिप-पियजि (उ० ४, १२१)'—इत्यादिना विहित इष् बाहुलकाद् भवति। जमति गच्छति निम्नं प्रदेशं, गम्यते वा जलार्थिभिः। यद्वा, 'जनी प्रादुर्भाषि (दि० आ०)'। अस्मात् 'जनिघसिभ्यामिष् (उ० १२६)'—इति इण्प्रत्ययो बाहुलकाभिकारादेशश्च वीर्यः (३, ३, १)। जायतेऽस्मात् पृथिव्यावि, जायते वा सः कारणात् 'अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवीति (तै० उ०)' श्रुतेः। "जामिषत्"—इत्यन्ये पठन्ति। निगमदर्शनाभिर्णयः ॥

(२९) आयुधानि। 'युध सम्ग्रहारे (दि० आ०)'। 'घञर्थे कधिधानम् (३, ३, ५८ घा०)'—इति कः। आयुध्यत्यनेनेत्या-युधम्। यद्वा, 'इगुपध्वापीक्विरः कः (३, १, १३५)'—इति कर्त्तरि कः। आयुध्यते सम्ग्रहरति रक्षांसि। जसि आयुधानि। "इन्द्रे सन्तिष्ठ जनयायुधानि (ऋ० सं० ७, ४, ८, २)"—"जामि द्रुघाण आयुधानि वेति (ऋ० सं० ७, ६, ४, २)"—इति च निगमौ ॥

(३०) क्षपः। 'क्षप प्रेरणे (शु० ५०)'। कथादिष्वपठितोऽपि 'यहुल्मेतन्निर्दर्शनम् (शु० ग० सू०)'—इत्यस्योदाहरण-

त्येन धातुवृत्तौ पठ्यते । असुनि णिलोपः । क्षिपयति प्रेरयति
नाशयति पिपासाम् । “क्षपो जित्वन्तः पृपतीमिष्टृष्टिभिः (ऋ०
सं० १, ५, ७, ३)”—इति निगमः ॥

(३१) अहिः । मेघनामसु निरुक्तम् (१, १०) गच्छन्ति निम्नं
प्रदेशम्, आमिमुख्येन हन्ति तापम्, अहिंसकं वा प्राणिनाम् ।
“पृथिव्या निशशशा अहिम् (ऋ० सं० १, ५, २६, १)”—इत्यत्र
‘शश प्लुतगती (भू० प०), अन्तर्णीतण्यर्थः, निर्गमभूमौ पातन-
मुच्यते, अहिम् मेघं वृत्तमित्यर्थः’—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ।
उदकं भयितुमर्हति । अन्येषणीयो निगमः ॥

(३२) अक्षरम् । निरुक्तं वाङ्मनामसु (१, ११) व्यप्नोति जगत्,
अश्यते भुज्यते वा प्राणिभिः, अनक्ति सेचयति भूर्मि वा, न क्षरति
क्षीयते फटाचिदपीति वा । “ततः क्षरत्यक्षरम् (ऋ० सं० २, ३,
२२, २)”—इति निगमः ॥

(३३) स्रोतः । ‘स्रु गती (भू० प०)’ । ‘स्रुतीभ्यां तुद् घ
(उ० ४, १६७)’—इत्यसुन । स्रवति निम्नं देशम् । “धन्वन् स्रोतः
पृणुते गातु भूर्मिम् (ऋ० सं० १, ७, २, ५)”—इति निगमः ॥

(३४) तृप्तिः । ‘तृप् प्रेरणे (दि० प०)’ । क्तिन् । यद्वा,
‘क्तिवृत्तौ च सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १७४)’—इति क्तिच् । तृप्यन्ति
हि देवतास्तेन तर्पिताः, तृप्यन्ति तेन पीतेन प्राणिन इति वा ।
तथाच श्रुतिः—‘मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अवृपं,
यदा घः (अथ० सं० ३, १३, ६)’ । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३५) रसः । रसतिः शब्दार्थः (भू० प०) । पचाद्यच् (३,

१, १३४) । 'रसति हि तन्मेघपर्वतादिभ्यः षतत् । यद्वा, 'रस आस्वादने (चु० ष० अ०)' । 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)' । रस्यते आस्वाद्यते जिह्वया लिह्यते इति रसः । यद्वा, रसोऽर्पा गुणः, गुणगुणिनोरभेदोपचारेणाख्यायते, मत्वर्थीयस्य लुग् वा रसवान् रसः । यद्वा, रसतिर्च्यतिकर्मा (३, १४), पचाद्यच् (३, १, १३४), अर्च्यते देयतात्वात्, अर्च्यतेऽनेन देयता इति घा । "आ त्वा विशन्तिचन्दवः (ऋ० सं० ६, ६, १६, २)"—इति निगमः ॥

(३६) उदकम् । 'उदकञ्च (उ० २, ३६)'—इत्युणादिसूत्रेण उदकशब्दो निपात्यते । कुन्प्रत्यये खनतेरूपूर्त्वस्यधातुलोपः । उत्खायते तद्वा घायुना विभज्यमानं कर्म, उत्खनति वा भूमिं स्वेन वेगेन कर्त्ता । उत्पूर्वस्य घाञ्चतेर्लोपः उदकमिति, उदञ्चतीत्युदकम् । "उदानिपुमंहीरिति तस्मादुदकमुच्यते (अथ० सं० ३, १३, ४)"—इति, "समानमेतदुदकम् (ऋ० सं० २, ३, २३, ५)"—इति, "मण्डूकाश्चोदकान् (ऋ० सं० ८, ८, २४, ५)"—इति, "मण्डूका उदकादिघ (ऋ० सं० ८, ८, २४, ५)"—इति च निगमः ॥

(३७) प्रयः । 'प्रीञ् तर्पणे (प्रया० ष०)' । असुन् (उ० ४, १८४) । तृप्यन्तेऽनेन देयताः । यद्वा, प्रपूर्वात् यमतेः (भू० ष०) अंसुनि टिलोपो यादृजकात् । प्रकर्षेण गच्छन्ति प्रयः । "आपो न ह्रीपं दधति प्रयांसि (ऋ० सं० २, ४, ८, ३)"—इति निगमः ॥

(३८) सरः । 'सु गती (भू० प०)' । असुन् (उ० ४, १८४) । सरति क्षियते वा सरः । "साकं सरांसि त्रिशतम् (ऋ० सं० ६, ५, २६, ४)" — इति निगमः ॥

(३९) मेपजम् । 'मिपञ्च चिकित्सायाम्' कण्डवादिः (प०) । पुंस्ति सप्तशतानां घः (१, ३, ११८) । मिपज्यन्त्यनेन मेपजम्, 'अनन्तायसघेतिह मेपजात्' — इति निर्देशात् साधु । "आप इहा उ मेपजीरापो (अर० सं० ८, ७, २५, ६)" — इति धृतिः । 'मेपं रोगं जघति' — इति दुर्गः । यद्वा, मेपजमस्मिन्नस्तीति मेपजम् । अर्श आदित्यादच् (५, २, १२७) । तथा "अप्सु मे सोमो अग्रयीदन्तर्विश्यामि मेपजा (ऋ० सं० १, २, ११, ५)" — इति धृतिः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४०) सहः । सहिरभिमघार्यः (दि० प०), अभिमघते उष्णमग्निं वा । यद्वा, सहो बलं (निघ० २, ३), तदस्यास्तीति मत्यर्थीयस्य लुक् (१, ४, १६ वा०) । बलघत् हि बलम् । "महदातुं पुरुहुत क्षियन्ते (ऋ० सं० ३, २, ३, ३)" — इति निगमः । सकारलोपश्छान्दसः ॥

(४१) शवः । 'दुओष्वि गतिवृद्धयोः (भू० प०)' । 'श्वेः सम्प्रसारणञ्च (उ० ४, १८८)' — इत्यसुन् । श्वयति गच्छति घटते वा घर्षाकाले । शवतेर्वा गतिकर्मणः (निघ० २, १४) असुन् । शवति गच्छति शवः । निगमोऽन्वेषणीयः । माघ-वेन स्त्रीये नामनिघण्टी 'शवः' — इत्येतद्वापाठि, 'शियम्' — 'शापम्' इत्येते पठिते । द्वितीयमाशताम्रिचासु मातृपु प्रतीपं

शपत्तयो घदन्ति । शिवमिति सनिगमं दृष्टमपि भाषायामपि जलपर्यायत्वात् अत्र तत्पर्यायेण तस्य पाठे प्रयोजनं मन्दम्, शापमित्येतत्त्वन्ताप्रसिद्धम् प्रायः पूर्वान्चार्यैः समाम्नाये धपठितम् । अस्य च उदकनामत्वेनाप्रसिद्धत्वात्, शवस्य भोजः सहः इत्याभ्यां सह प्रसिद्धपाठेऽत्र दृष्टत्वात्, प्रायोऽक्षरसाम्याच्च लेखकैः प्रायेण शव इति लिखितमिति । शपन्त्यनेनेति शापम् । 'अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १६)'—इति घञ् । इस्ते ह्युदकमादाय शपन्ति मुनय इति श्रूयते ॥

(४२) यहः । यातं प्राप्तं पिपासितैः, द्रुतं च यज्ञे देवतात्वात् । भानुनि यातेर्हयतेश्च द्विधातुजं रूपम्, पुण्योदरादिः (६, ३, १०६) । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४३) भोजः । 'उञ्ज भार्जवे (तु० प०)' । 'उञ्जेर्धलोपश्च (उ० ४, १८७)'—इत्यसुन्, बाहुलकादुदकेऽपि भवति । उञ्जते-रुक्तपक्षे न्यग्भाष्यार्थश्च । उञ्जतेर्वा नैरुक्तधातोर्वृद्धिकर्मणोऽसुन्प्रत्ययः । उञ्जत्यनेनेत्युक् । न्यग्भाषयति या स्वयेगे-नाततप्रदेशं, घर्द्धते या घर्णासु बलबद्धा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४४) सुखम् । सुखावहत्वात् सुखम् । 'सुखं कस्मात् ? सुहितं खेम्यः (निरु० ३, १३)'—इति भाष्ये स्वन्दस्यामी । सुष्टु हितं खेम्यः । नेयं हितयोगलक्षणा चतुर्थी (१, ४, ४४ पा०), इन्द्रियाणामचेतन्यात् सुखादिमित्सम्बन्धात्, अत इयं हेतौ पञ्चमी (२, ३, २५), इन्द्रियविषयसन्निकर्षस्य सुखहेतु-त्वात् उपपद्यते इन्द्रियाणां हेत्यर्थक्यधातुतसम्बन्धानुपपत्तेश्च

समन्वयोगपदार्थान्तराध्याहारः । अतिशयेन हितं पुरुषस्य, सेम्यः लहेतुकमित्यर्थः । हितं वा पुरुषे आत्मधर्मत्वात् सुखादीनां धर्माधिकरणत्वाच्च धर्मिणाम् । अथवा सेम्य इति चतुर्थ्येव, लशब्देन च आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेति सन्वन्धिसम्यग्धात् पुरुष एवोच्यते इति यथाश्रुतसम्यन्धः । तथाचोपनिषत्—‘यथैः स एव इह प्रदिष्ट आनखाम्भ्यो यथा क्षुरः’ । क्षुराधाने अन्यचहितं स्यादित्युपलक्ष्य प्राणान्ते च प्राणानां भयतीति प्राणादिशब्दैस्तस्योहसिद्धं दर्शयति—‘तं पुनः खनतेः (निरु० ३, ३१)’ उत्सर्पस्य उत्खनति विनाशयति, किम् ? पण्डितप्राप्तिमुद्यमं, कथम् ? कायसुखप्रवृत्तेरधोगममनात् इति सुखम् । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(४५) क्षत्रम् । ‘क्षदिः सौम्रः’ । ‘क्षद स्प्यैव्ये’ इति सन्द्-
खामी । माधवपक्षे क्षदिः शक्तीकरणार्थो हिंसार्यध्व । क्षद
गतिर्हिंसनयोः—इति मुबोधिनीकारः । मुधुवीपचिवचियमि
[मनि] सदिश्वदिम्यस्त्रः (उ० ४, १६२) । वर्णव्यतिरिक्तेषु ऋतुषु
सूर्यरश्मिभिराहता ह्यापो मेघेषु घनीभूताः पाषाणयत् स्थिरा
भयन्ति, जलाशयं प्राप्य वा, अक्षयते भुज्यते वा, अतिपीतं
श्लेष्मादि जनयित्वा प्राणिनो हिनस्ति वा, गच्छति
निम्नं गम्यते वा तदर्थिभिः । यद्वा, क्षत्रशब्दो बलनाम । अशं आद्यच्
(५, २, १२७) । बलपक्षि जलम् । घननाम वा (निघ० २, १०),
तद्धेतुत्पात्ताच्छब्दम् । क्षतादप्रवृष्टिरनृक्षे शात् प्रायन्ते इति वा
क्षतशब्दात् प्रायतेक्ष क्षत्रम्, पृथोदरादिः (६, ३, १०६) । “युवं

नो येषु धरुण क्षत्रम् (ऋ० सं० ४, ४, २, ६)" ।
 वृंहच यलमन्नं वेति माधवभाष्यम् । "उत यावापृथिवी क्षत्रमुरु
 ऋ० सं० ४, ८, ८, १)"—इत्यत्र च क्षत्रं धनमिति इष्टम् ।
 उभयमप्युदकं भवितुमर्हति ॥

(४६) आचयाः । आङ्पूर्वात् 'घी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्य-
 सनखादनेषु (अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'इणश्चासिः (उ० ४, २१६)'—
 इति यादुलकादासिप्रत्ययः । उपसर्गश्च धात्वर्थानुपत्तकः
 आभिमुख्यार्थो घा, अस्यते घीयते आभिमुख्येन गम्यते इति घा
 आचयाः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४७) शुभम् । 'शुभ दीप्तौ (भू० आ०)' । क्तिप्प्रत्ययः । शोभते
 दीप्यते स्येन तेजसा देवतात्वात् । द्वितीयैकषचनस्य प्रयोगो
 यथादृष्टम् । "शुभं पृथमिषमूर्जं वहन्त (ऋ० सं० ५, १, १, ४)"—
 "इषं जनाय वहथः शुभस्पतीः (ऋ० सं० ७, ८, १८, ४)"—"द्रवत्-
 पाणी शुभस्पती (ऋ० सं० १, १, ५, १)"—इति च निगमाः ॥ ३३

(४८) यादुः । 'या प्रापणे (अदा० प०)' । 'भृमृशीतृदृच-'
 रित्सरितनिधनिमस्जिभ्य उः (उ० १, ७)'—इति यादुलकादु-
 प्रत्ययो दुडागमश्च । याति निम्नं प्रदेशं यादुः । 'यादुः स्याद्
 गमनक्रियम्'—इति माधवः । तदानीमुप्रत्ययो यादुलकात् ।
 "ददाति मह्यं यादुरी (ऋ० सं० २, १, ११, ६)" इत्यप्रत्यन्द-
 स्वामी—'यादुरित्युदकनाम, रो मत्वर्थोयः'—इति ॥

(४९) भूतम् । 'भू सत्तायाम् (भू० प०)' निष्ठातकारः ।
 कर्तरि । पूर्वमेव सत् भूतम् प्रथमदृष्ट्यान् । 'अपण्य सस-

जर्दौ तासु घीजमयासृजन् (१ अ० ८ श्लो०)—इति मनुः ।
अथवा 'भू प्राप्ती (वा आ०)'—इति धातुः । प्राप्यं पिपासितैः ।
यद्वा, पञ्चसु पृथिव्यादिषु महाभूतेष्वन्तर्मावात् भूतमित्युच्यते ।
'मातान्तरिक्षं निर्मोयन्ते अस्मिन् भूतानि (२, ८)'—इति निरुक्त
पयोदाहरणम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५०) भुवनम् । 'भू सत्तायाम् (भू० प०)' । 'भूसुधूभू-
भ्रसृजिभ्यश्छन्दसि (उ० २, ७९)'—इति क्युन्प्रत्ययः, उचडा-
देशः । भवन्त्यनेन सर्वे पदार्था इति भुवनम् । "य इमा
विद्या भुवनानि जुहत् (ऋ० सं० ८, ३, १६, १)" — "इमा च
विद्या भुवनान्यस्य (ऋ० सं० ३, ३, ३१, ४)" — इति च
निगमौ ॥

(५१) भविष्यत् । भवतेरेष । 'लट् शेषे च (३, ३, १३)'
—इति लट्, 'लटः सद्वा (३, ३, १४)', 'स्यतासी ललुटोः (३, १,
३३)' इडागमः (७, २, ३५) । जलं हि आगामिन्यपि काले
विद्यते, प्रलयेऽपि जलत्वस्य नाशमावात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५२) महन् । 'मह पूजायाम्' भूयादिः (प०) कयादिश्च
(चु० अ०) । अस्मान् 'वर्त्तमाने पृष्टमहदुबृहज्जगच्छतृपद्य
(उ० २, ७८)'—इति निपातनम् । महति महयति वा देवता
मनेन पुराणस्येति महन्, महने वा देवतात्यान् । यद्वा, मानेन
स्वगतेन परिभाजेन अन्यान् स्वस्मादूनप्रमाणान् पदार्थान् जहाति
अतिक्रामति 'दशोत्तराण्यावरणानि सप्त'—इत्यत्र विष्णुपुराणे
सर्वमहत्त्वं जलतत्त्वम्योनम् । मानशब्दाज्जहानेश्च पृथोदरादि-

त्वाद्रूपसिद्धिः । “महत्त उल्वं स्यविरं तदासीत् (ऋ० सं० ८, १, १०, १)”—इति निगमः ।

(५३) व्यापः । एतदुक्तसमानार्थम् । एतल्लं सामिहिं व्या-
सम्, आप्नोतेः सङ्ग्रहकर्मकत्वात् । तथाचाधर्वणिका श्रुतिः—
आपो अग्नेविभ्रमायन् (अथ० सं० ४, २, ६)—इति । यद्वा,
कर्मणि क्तिप्, इन्द्रेण आसा आपः, तदाप्नोतीन्द्रो वा । ‘तदाप्नोतिन्द्रो-
घो यतीत्तस्माद्रूपो अनु एन (अथ० सं० ३, १३, २)’—इति श्रुतिः ।
“आपो हि घामयोभुयः (ऋ० सं० ७, ४, ५, १)”—इति निगमः ॥

(५४) व्योम । निरुक्तप्रन्तर्दिक्षनामसु । (३) व्यवति प्राणिनः
संवृणोति भूमिमिति वा । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(५५) यशः । ‘अशू व्यासी (स्वा० आ०)’—अश भोजने
(य्या० प०) । ‘अशेषने युद् च (उ० ४, १८६)’—इत्येतस्माद्
याहुल्कादुदकेऽपि भवति । ‘अशेषुद् च’—इत्येव श्रीभोजद्वयः ।
अश्रुते व्याप्नोति जगत्, अश्रयते वा प्राणिभिः । “तिर्प्याग् पिह-
धमस ऊर्ध्वशुभ्रो यस्मिन् यशो निदितं विभ्ररुपम् । अत्रासत
श्रुयः सत साकं ये अस्य गोपा महतो यभृयुः (अथ० सं० १०,
२६, ६)”—इति निगमः ॥

(५६) मदः । महदित्यनेन समानम् । अत्रासुतप्रत्ययः
(उ० ४, १८४) । “महा जिनोपि मदिनि (ऋ० सं० ४, ४, २६, १)”
—इति निगमः । ‘मदो धर्ण (ऋ० सं० १, १, ६, ३—निर०
११, २७)’—इत्यत्र ‘मद उदयनाम’—इति स्कन्दस्यामी ।
“मदोभ्यः स्वादा”—इति च ॥

(५७) सर्णीकम् । 'सु गती (भू० प०)' । 'सर्त्तुंम् च (उ० ४, २३)'—इतीकनप्रत्ययः । अधिकृतं कित्त्वन्तु याहुलकान्न भवति, गुणः, घायति सर्णीकम् । "सलिलाय त्वा सर्णीकाय त्वा सतीकाय त्वा"—इति निगमः ॥

(५८) स्यूतीकम् । स्यू शब्दोपतापयोः (भू० प०) 'स्वरतिर्ग-
त्यर्थः (निघ० २, १४), अर्चतिकर्मा न्य (निघ० ३, १४) । 'अली-
कादयश्च (उ० ४, २५)'—इतीकनप्रत्ययान्तेषु द्रष्टव्यः, निपातना
तुणागमः । शब्दं करोति, गच्छति, पूजयन्तेऽनेन देवताः, पूज्यते
या स्वर्गं देवताश्चात् इति स्यूतीकम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥
"सतीकम्"—इति केचित् पठन्ति । 'पद्मल विशरणगत्ययसादनेषु
(भू० तु० प०)'—पूर्ववदीकन (उ० ४, २५), दकारस्य तकारः ।
गच्छति अवसीदति कुङ्कानि अनेनेति घा । "सतीकाय त्वा"
—इति पूर्वमुक्तो निगमः । अत्र सशब्देऽयग्रहकरणं पदकाराणा-
मभिप्रायस्य वैविध्यात् ॥

(५९) सतीनम् । पूर्ववत् सर्वम्, दकारस्य तकारोऽपि निपा-
तनात् । यद्वा, सती शोभना असी, सामर्थ्यान्माध्यमिका पाक्,
सा ईना ईश्वरा अस्य तत् सतीनम्, 'सप्रज्ञापुरणयोश्च (६, ३, ३८)'
—इति पुंयद्वाचनिषेधः । "अथो सतीन कङ्कतः (ऋ० सं० २,
५, १४, १)"—इति निगमः । "सतीन सत्याहव्यो भरेषु (ऋ०
सं० १, ६, ८, १)"—इति च ॥

(६०) गहनम् । 'गाडु विलोङ्गने (भू० या०)' । 'युच् बहु-
लम् (उ० २, ७४)'—इति युच्प्रत्ययः, बहुलवचनाद्भस्वरम् ।

अवगाह्यते प्राणिभिः गहनम् । “अम्भः किमासीदु गहनं गभीरम् (ऋ० सं० ८, ७, १७, १)”—इति निगमः । अत्राम्भः गभीरमित्येते निरुक्तः योजनीये ॥

(६१) गभीरम् । गमेर्धातोः ‘गभीरगम्भीरी’ (उ० ४, २४)—इति तुगागमः ईरन्प्रत्ययो मकारलोपश्च निपात्यते । गच्छति यद्गोप्याहृतं घसतीवर्त्यादिरूपेण । “परि दीने गभीर आँ (ऋ० सं० ६, ४, ५३, १)”—“न तं हन्ति स्रवतो गभीराः (ऋ० सं० ८, ६, ५, ४)”—इति च निगमौ ॥

(६२) गम्भरम् । ‘हृदरादयश्च (उ० ५, ४२)’—इत्यप्रत्ययान्तेषु द्रष्टव्यः । निपातनाद् गमेरन् भडागमश्च । ‘पूर्वघदर्थः । यदुवा, ‘ग्रह उपादाने (कृ० ३० उ०)’ पूर्वघदरन्, ‘हृप्रक्षोर्मश्छन्दसि’ (सि० फौ० वै० ३ अ०) । रेफस्य मकारो याहुलकात् स घाफारात् परः । गृह्यते घसतीवर्त्यादित्येन । “गम्भरेषु प्रतिष्ठाम् (ऋ० सं० ८, ६, २, ४)”—इति निगमः ॥

(६३) ईम् । अव्ययमिदम् । “यि यदज्जाँ अजथनायईं यथा (ऋ० सं० ४, ३, १४, ४)”—इति निगमः । बहुषु पाठेषु “कम्”—इति दृश्यते, तल्लिपिभ्रमतः । अतः ईमित्येव पठितव्यम् ॥

(६४) अन्नम् । ‘अन प्राणने (अदा० ५०)’ । ‘कृवृजृसिद्रुप-न्यमिस्वपिभ्यो निन् (उ० ३, ६)’—इति नप्रत्ययः । अन्यते प्राण्यते प्रजामिः, न हि यदाचिदपि जलेन विना जीवन्ति प्राणिनः ‘अस्य शोषादयो दोषा भवन्ति यदन्नामतः । न हि तोषाद् विना तृप्तिः स्वस्थस्याप्यातुरस्य च”—इति घाग्भट्टः । अत्तेर्धा निष्ठात-

कारः, अत्रास इति निर्देशात् जग्ध्यादेशाभावात्, अद्यते ह्य । अत्र-
हेतुत्वाद्वा अत्रमित्युच्यते । “हिरण्यदा ददत्यक्षमस्मै (ऋ० सं० २,
७, २३, ५)”—इति निगमः ॥

(६५) हविः । ‘हु दानाश्मयोः (जु० प०)’ । ‘अर्विशुचि-
हुसृमिच्छदिच्छर्दिभ्य इतिः (उ० २, १०१)’—इति इतिप्रत्ययः ।
वीयते पिपासितैभ्यः, आदीयते वा जनैरुपभोगाय । अथवा हूयते
दैवतोद्देशेन, प्रक्षिप्यते वैश्वामरे हविर्दिं जुहोमीत्यादिमन्त्रैः ।
“हविषाजारी अषां विपस्ति (ऋ० सं० १, ३, ३३, ४)” —“विश्व-
कर्मन् हविषा घावृधानः (ऋ० सं० ८, ३, १६, ६)” —इति च
निगमः ॥

(६६) सप्त । (६७) सदनम् । ‘पशुल विशारणगत्ययसादनेषु
(भू० जु० प०)’ । पूर्वत्र, ‘मनिन् (उ० ४, १४०)’—इति मनिन्-
प्रत्ययः । उत्तरत्र, ‘गुच् बहुलम् (उ० २, ७४)’—इति गुच् ।
विशीर्ष्यते शिलादिषु पातात्, विशीर्ष्यन्तेऽनेन कुड्यादय इति पा,
गच्छति घागच्छति निम्नं, गम्यते वा प्राणिभिः, भवसादयति
पिपासायुक्तं वा । ‘हविर्हविष्मो महि सप्त दैव्यम् (ऋ० सं० ७,
३, ८, ५)” —इति निगमः ॥

(६८) शतम् ॥

(६९) योनिः । ‘यु मिथ्रणे (अदा० प०)’ । ‘वहिश्चियुद्रु-
ग्लाहात्चरिभ्यो निः (उ० ४, ५१)’—इति निप्रत्ययः । युतं
मितं समृक्तं सर्वव्याप्यः । यद्वा, वेतिर्वकारस्य उकारः, स च
ईकारात्परः यणादेशः, स एव प्रत्ययः । परिवर्तितं हि जलं वायुना

तीरेण वा । यद्वा, योनिः कारणमन्नस्य । 'वृष्टेरन्नं' ततः प्रजाः (मनुः ३, ७६)—इति हि स्मृतिः । "चरत् प्रियस्य योनिषु प्रियः सन् (ऋ० सं० ८, ७, ७, ५)"—"त्यच्चं पृश्नन्त्युपरस्य योनीं (ऋ० सं० १, ५, २७, ३)"—इति च निगमौ ॥

(७०) ऋतस्य योनिः । यज्ञस्य योनिः नह्ययुदकेन विना कश्चिदपि यज्ञः कर्तुं शक्यते, ऋतस्य आगामिनो वर्षजलस्य योनिर्वा, —आदित्यो भौमं रसं रश्मिनादत्ते पुनर्वर्षाकाले वर्षति, तथा —'सहस्रगुणमुत्सृष्टुमादत्ते हि रसं रविः'—इत्युक्तम् । 'अस्य योनिर्भवति'—इति माधवः । "ऋतस्य योनि मा सदः (ऋ० सं० ४, १, १३, ४)"—"ऋतस्य योनागर्मे सुजातम् (ऋ० सं० १, ५, ६, २)"—इति निगमौ ॥

(७१) सत्यम् । सत्सुभयम् 'भवेच्छन्दसि (४, ४, ११०)'—इति यत् । यद्वा, सत्सु साधुः 'तत्र साधुः (४, ४, ६८)'—इति यत् । सतोऽर्हमिति वा 'छन्दसि च (५, १, ६७)'—इति यः । "विद्युदसि विद्यामयाद्यानभृतात्सत्यमुपैति"—"ऋतात् सत्यमुपागात्"—इति च निगमौ ॥

(७२) नीरम् । 'णीम् प्रापणे (भू० उ०)' । स्फायितञ्चिघञ्चिशकि (उ० २, १२)—इत्यादिना रन्प्रत्ययः । नयति प्रापयति शुद्धिं नीयते वा पुरुर्येण स्वामिमतकार्यसम्पादनाय । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(७३) रयिः । 'रीङ् गतौ । 'अच इः (उ० ४, १३४)'—इति इप्रत्ययः, गुणः । रीयते गच्छति रयिः । यदुषा, रातेः (अदा०

प०) इप्रत्यये बाहुलकात् युगागमो धातोर्ह्रस्वश्च । दीयते पिपा-
सितेभ्यः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(७४) सत् । 'अस भुवि (अदा० प०)' । लटः शतरि
'असोऽङोपः (६, ४, १११)' सत् । सर्वदा विद्यमानं प्रत्येऽपि
नाशाभावात् 'सदसि भूयाः'—इति निगमः ॥

(७५) पूर्णम् । पृ पालनपूर्णयोः (जु० क्वा० प०) । निष्ठा-
तकारः । 'उदोऽप्यपूर्वस्य (७, १, १०२)', 'हलि च (८, २, ७७)',
'रदाभ्याम् (८, २, ४२)'—इति निष्ठान्त्यम्, 'एपाभ्यां णो णः
(८, ४, १)'—इति ण्त्यम्, पूर्णम् । रक्षितं सेत्यादिना, तद-
र्थिभिः पुनितं वा कट्टाहादिषु । यदुवा, 'पूरी आप्यापने, दिपादि-
प्रधुरादिश्च । 'वादान्तशान्तपूर्णदस्त (७, २, २७)'—इत्यादिना
निपातितम् उपभोगक्षीणं आप्यायितम् । "पूर्णं पूर्णं न सिध्यते
(अथ० सं० १०, ८, २६)"—इति निगमः ॥

(७६) सर्वम् । 'सु गती (उ० प०)' । सर्वनिष्ठृष्वरिष्यलध्य-
शिषपद्वप्रहेप्यो अतन्त्रे (उ० १, १५१)'—इति निपातितम् ।
अतन्त्रे अकर्त्तरित्यर्थः । सुतमनेन । यदुवा, बाहुलकात् कर्त्तरि
भवति, सर्वम् । उभयत्रापि पचायच् (३, १, १३४) । दिनस्ति
पिपासामुष्णं वा । 'सर्वमसि सर्वं मे भूयाः'—इति निगमः ॥

(७७) अक्षिन्म् । 'क्षि क्षये (भू० प०)' । भावे निष्ठातकारः ।
क्षितं क्षयः, स यस्य ॥ विद्यते, तदक्षितम् । सर्वदा सर्वेष्वप्युभय-
मानमपि स्वमदत्तया उपर्युपरि वर्षणादुवा क्षयरहितमित्यर्थः ।
क्षित्यः 'निष्ठायामण्यदर्थे । चाकोशदेन्ययोः (६, ४, ६०—६१)'

इति विहितो दीर्घः, अत्र च भावो ष्यदर्थः तस्मात् स न भवति, दीर्घाभावात् 'क्षियोऽदीर्घात् (८, २, ४६)'—इति निघानत्वमपि न भवति । "उत्समक्षितं व्यचन्ति (अथ० सं० ४, २७, २)"—"समानमर्थमक्षितम् (ऋ० सं० २, १, १८, ५)"—"अक्षितमत्यै जुहोमि स्वाहा"—इति च निगमाः ॥

(७८) घर्हिः । निगमोऽन्वेष्यः । घृहेर्नलोपश्च (उ० २, १०२)'—इत्यादिना पूर्ववत् साध्यम् ॥

(७९) नाम । नमतेः (भू० प०), 'मनिन् (उ० ४, १४०)'—इति मनिन्प्रत्यये धातोर्मलोपो दीर्घश्च निपात्यते । नम्यते पुरुषैर्द्धतात्वात् । णिजन्ते घा निपातनम् । नमयति नदी-क्षीरनिकटवर्त्तिनो घेतसादीन् । अथवा 'अम गत्यादिषु' भूवादिः 'अम रोगे' घुरादिः, नञ्पूर्वः, अस्मात्त्रिपातनं पूर्ववत् । न अमन्ति गच्छन्त्यनेन । न हि खानपानोपयोगिजले विद्यमाने प्राणिनोऽन्यत्र गच्छन्ति । तथाहि—श्रोत्रियसज्जनदीप्रभृतिषु विद्यमानेष्वेव घासो विधत्ते इति स्मृतिः । न आमयत्यनेन रोगी न भवत्यनेनेत्यर्थः । 'आपो अमीयचातनीः (ऋ० सं० ८, ७, २५, ६)'—इति श्रुतिः । "नामानि यद्वा अधि येषु घट्टधत्ते (ऋ० सं० ७, २, ३३, १)"—"दधाना नाम यत्र यम् (ऋ० सं० १, १, ११, ४)"—इति च निगमौ ॥

(८०) सर्पिः । गृष्टं गती (भू० प०) । 'अर्चिशुचिदुग्मि-च्छदिच्छर्दिभ्य इतिः (उ० २, १०१)'—इति इतिप्रत्ययः । सर्पति द्रवद्रव्यत्वात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(८१) अपः । 'आप्लु व्याप्तौः (स्वा० उ०)' । 'आपः कर्मा-
ख्यायां हस्रो नुद् च घा (उ० ४, २०२)'—इत्यासुनप्रत्ययो
बाहुलकात् जलेऽपि भवति, अपः । आप इत्यनेन समानार्थम् ।
“यहीनां गर्भे अपसामुपस्थात् (ऋ० सं० १, ७, १, ४)”—
“जामीनामग्निरपति स्वसृणाम् (ऋ० सं० २, ८, १४, १)”—
इति च निगमौ ॥

(८२) पवित्रम् । 'पून् पवने. (क्या० उ०)' । 'पुयः सञ्-
ज्ञायाम् (३, २, १८५)'—इति करणे इत्रप्रत्ययः । पुनात्यनेनात्मानं
स्नातः । अथवा 'कर्त्तरि चर्षिदेवतयोः (३, २, १८६)'—इत्यपां
देवतात्वान् कर्त्तरि इत्रप्रत्ययः । पुनाति पापकृतः । तथाच मनुः—
'ज्ञानं तपोऽग्निराहारोमृन्मनोधार्युपाञ्जनम् । धायुः कर्मार्ककालौ
च शुद्धेः कर्त्तृणि देहिनाम् (५ अ० १०५ स्तो०)'—इति । “शतप-
थिनाः सधया मद्गन्तीः (ऋ० सं० ५, ४, १४, ३)”—इति निगमः ॥

(८३) अमृतम् । नञ्पूर्वात् त्रियतेधातोः 'तनिमृड्भ्यां
किञ्च (उ०, ३, ८५)'—इति तन्प्रत्ययः । न त्रियन्ते हि प्रणि-
तोऽनेन पीतेन । अथवाऽस्त्यन्तस्यादुरसत्वाद्मृतमित्युच्यते,
तथा 'अमृतो ह्यापः'—इति श्रुतिः । “यत्रा सुपर्णा अमृतस्य
भागम् (ऋ० सं० २, ३, १८, १)”—इति निगमः ॥

(८४) इन्दुः । 'त्रि इर्धा दीप्तौ (रु० आ०)' । अस्मात्
'उन्दिगिधादेः (उ० १, १२)'—इति विधीयमान उप्रत्ययो
बाहुलकाद् भवति, धकारस्य दकारश्च । इन्द्रे दीप्यते स्येन
तेजसा देवतात्वान् । यद्वा, 'उदी कृदने (रु० प०)' । 'उन्दि-

रिच्चादेः (उ० १, १२)—इत्युप्रत्ययः आदेरिदादेशश्च उनत्ति भूमिमिन्दुः । यदुवा, 'इदि परमैश्वर्यं (भू० प०)' । अस्मादु-
प्रत्ययः । परमेश्वरं हि जलं देवतात्वात्, प्राणिनां प्राणतस्य
जीवनस्य च तदायत्तत्वाच्च । निगमोऽन्वेयणीयः ॥

(८५) हेम । हिरण्यनामसु व्याख्यातम् । (२) हिनोति
गच्छति निम्नं प्रदेशं, गम्यते वा तदर्थिभिः, घर्द्धते वा घर्षात् ।
निगमोऽन्वेयणीयः ॥

(८६) स्वः । सुपूर्वादसंज्ञन्तर्माधितण्यर्थात् 'अन्येभ्योऽपि
दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति विच्, गुणः 'स्वरादिनिपातमव्य-
यम् (१, १, ३७)', सुपो लुक्, रेफस्य विसर्जनीयः । अना-
वृष्ट्यादिजनितं क्लेशं सुष्ठु शोभनं गमयति नाशयति, स्वः ।
यदुवा, केयलादेय स्वार्थे णिच् 'अपिशब्दः स्वर्गोपाधिष्यभि-
चारार्थः'—इत्युक्तेष्टिष्ठार्थसिद्धिः । अरणं गमनं दोषरहितत्वेन
शोभनं यस्य, सुष्ठु गच्छति निम्नं प्रदेशमिति वा, सुष्ठु प्राणि-
भिर्गम्यते इति वा, स्वः । अकारान्तमप्यस्ति । सुपूर्वाद्रमतेश्च
याहुलकाद् भवति । "आविः स्वः कृणुते गृह्णते युसं (ऋ० सं०
७, ७, १६, ४)"—"स्व १ः सिपासनुधितो गविष्टिपु (ऋ० सं०
७, ३, १, २)"—इति च रेफान्तस्य निगमो । "आसु स्यासु
यंसगः (ऋ० सं० ८, ८, २, ३)"—इत्यकारान्तस्य । समा-
न्नायपाठः उभयत्र समानः ॥

(८७) सर्गाः । 'सृज विसर्गं (तु० प०)' । कर्मणि घञ् ।
सृज्यते मेपैर्यसृज्यत इति सर्गः, जसि सर्गाः । यद्वा, सर्गो घेगः

‘अर्शादित्वाद् (५, २, १२७)’ । ‘वेगवन्ति हि जलानि ।

“सर्गासो यताँश्च (ऋ० सं० ७, ७, ११, ४)” —इति निगमः ॥

(८८) शम्यरम् । सम्पूर्वाद् घृणोतेः ‘ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च (३, ३, ५८)’ —इत्यप् । संव्रियते मेघैः । यद्वा, पचाद्यच् (२, १, १३४), घृणोति हि भूमि संवरम् । घृणोदरादित्वात् (६, ३, १०६) शम्यरम् । यद्वा, शम्यो घञः निरुक्तो मेघनामसु (१०) । तद्वानपीन्द्रः शम्यः, मत्वर्थोपस्य लृक् । ‘रा दाने (अदा प०)’ शम्येनेन्द्रेण दीयते शम्यरः । ‘घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८ घा०)’ —इत्यस्योपलक्षणात्तथात्वात् कः । यद्वा, शञ्च तद्वञ्च शम्यरः । शमनं च रोगाणामुत्प्लवञ्च सर्वपदार्थेषु इत्यर्थः । ‘शम्यरं सम्यरं जलम्’ —इति माधवः । “अतिथि-
ग्याय शम्यरं गिरेरग्नौ अघामरत् (ऋ० सं० २, १, १६, २)”
—इति निगमः ॥

(८९) अम्यम् । आङ्पूर्वात् भयतेः क इत्येव याहुलकाद् भयति, उपसर्गाहसन्धश्च । ‘छन्दस्युभयधा (६, ४, ८६)’ —इति सुपि भूसुधियोर्विधीयमानो यणादेशो व्यत्ययेन कप्रत्ययेऽपि भयति । धा समन्ताद् भयति विद्यते अम्यम् । ‘अम्यमा भयति’ —इति माधवः । “सनेम्यम्वं मरुतो जुनन्ति (ऋ० सं० २, ४, ८, ३)” —इति निगमः ॥

(९०) पपुः । ‘टुपप धीजनन्तुसन्ताने (भू० ३०)’ । ‘अर्त्तिपृषपिपजितनिघनितपिम्यो निन् (३० २, ११०)’ —इत्युसि-
प्रत्ययः । उपेऽनेन धीजम्, धीजयपने हि जलं साधकतमं

भवति । “चरिण्व १ चिर्वपुषामिदेकम् (ऋ० सं० ३, ५, ७, ४)”
—इति निगमः ॥

(६१) अम्यु । अन्तरिक्षनाम्नोऽम्बरशब्दस्य निर्वचने विस्त-
रेणोक्तम् । (३) निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६२) तोयम् । तद्यतेर्दृष्टिकर्मणः (निरु० ६, २५) ‘अग्न्या-
दयश्च (उ० ४, १०८)’—इति यत्प्रत्ययो निपातितो द्रष्टव्यः ।
घर्द्धते घर्षासु । ‘तुदति तोयम्’—इति क्षीरस्वामी । तुदतेः
पूर्ववत् यत्प्रत्यये निपातनाद् दकारलोपो गुणः । यद्वा, तुदिः
सौत्र आचरणार्थः । “तोयेन जीवदुभ्यः ससर्ज भूम्याम्”—इति
निगमः ॥

(६३) तूयम् । पूर्वघनिपातनादूर्पासद्भिः । उकारस्य दीर्घः
(६, ३, १३३) । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६४) रुपीटम् । ‘रूप सामर्थ्ये (भू० आ०)’ । ‘रुक्-
पिभ्यः कीटन् (उ० ४, १८०)’—इति कीटन्प्रत्ययः । ‘रूपो
रौ लः (८, २, १८)’—इत्यत्र, काशिकावृत्तिः—‘रूपणरूपीट-
कर्पूरादयोऽपि रुपेरेव द्रष्टव्याः’ । ‘उणादयो बहुलम् (३, ३
१)’—इति च रुपेरेव बाहुल्यकाहत्वाभावात् । भाष्ये तु—
‘रूपणादीनां प्रतिषेधो घक्तव्यः (८, २, १८ भा०)’—इति
लत्वाभावः । कस्यने तापनिवारणाय । “यत्रा रुपीटमनु
वद्वदन्ति (ऋ० सं० ७, ७, २१, २)”—इति निगमः ॥

(६५) शुजम् । ‘शुच दीर्घा (निघ० १, १७)’ । अस्मात्
‘भाज्रेन्द्राप्रवशधिप्र (उ० २, २७)’—इत्यादीनां - ककारान्ता-

देशो रप्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते । शोचते शुकः । ग्रेडुवा,
शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः (निघ० १, १७) सम्पदादित्वात् (३, ३,
१५ वा०) क्तिप् । शुचि, तद्यस्य, रो मत्वर्थीयः । दीतमित्यर्थः ।
शुक्रं तेजःशब्दो धा, रेतःपर्यायत्वात्, दिधानां धै रेतो घर्गम्—
इति ध्रुतैः उदफनामत्यमपि बोद्धव्यम् । “शुक्रामु ते शुक्रमायुनाम्”
—इति निगमः ॥

(१६) तेजः । तेजृ पालनै भूयादिः परस्मैपदी । असुन्
(उ० ४, १८४) । तेजयति-पालयति प्राणिनः पिपासादिनि-
धारणात् । यदुवा, ‘तेज निशाने (भू० आ०)’ असुन् ।
अनिजत्त्यादृषां कार्प्यकारणयोरभेदोपचारात् तेज इत्युक्तिः ।
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१७) स्वधा । स्वशब्द उपपदे ‘डु धाञ् दानधारणयोः (जु०
उ०)’—इत्यस्मात् ‘आतोऽनुषर्गो कः (३, २, ३)’ । स्वमात्मानं
स्वान्तर्यामिणं भगवन्तं नारायणं धारयति ‘आपो नारा इति
प्रोक्ता आपो चै नरसूतयः । अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः
स्मृतः । (मनुः १ अ० १० श्लो०)’—इति । स्वं धनं ददातीति
धा, शस्योत्पत्तिहेतुत्वात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१८) धारि । ऊर्णतिः इण्प्रत्ययः । धार्यते तन् सेन्वादिभिः
पुरुषैः । धाजसनेये सोत्रामर्णाग्निं—“देवं वर्हिषारितीनाम्
(य० वा० सं० २१, ५७)”—इति निगमः । अत्र माप्यरुदुपटः—
‘चारितीनामुदकवतीनां धारिप्रभवानां धा ओपथीनां सभश्चिनि
अध्वरे स्तीर्णम्’—इत्यादि ॥

(६६) जलम् । 'जल घातने (भू० प०)' । 'घातनं तैक्ष्ण्यम्'—इति वृत्तिः । जलति शीतं भवति । यदुवा, जायत इति जः । 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, '१०१)'—इति ङी निरुपपदादपि जनेर्मवति । जीः जातैः प्राणिभिः लायते "आदीयते इति जलम् । 'ला आदाने (अदा० प०)' । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(१००) जलापम् । जीः जातैः लप्यते याञ्छ्यते (भू० उ०) इति जलापम् । जशब्दउपपदे लपेः कर्मणि घञ् । 'जलापं जलपितं जातैः'—इति माधवः । यदुवा, जलापमिति सुखनाम, सुखहेतुत्वादयां तद्धेतौ ताच्छब्दम् । "रुद्र जलापमेपजम् (ऋ० सं० १, ३, २६, ४)" —इति तिगमः । 'जलापमुदकनाम घा'—इति माधवोऽभाषयत् ॥

(१०१) इदम् । 'इदि परमैश्वर्ये (भू० प०)' इदिश्चान्तुम् । 'इन्देः कर्मलोपरश्च (उ० ४, १, १२)'—इति कमिप्रत्ययः । दैवत्वत्त्वात् परमैश्वर्यं विद्यते । 'इणो दसुग्'—इति श्रीभोजदेयः, ईयते निगमं प्रदेशं गम्यते वा । यदुवा, इन्देः कमिन् यादुलकान्तलोपो धकारस्य दकारश्च । इन्दे दीप्यते इदम् । "सप्तारो या इदं ययुः (ऋ० सं० २, ५, २६, ५)" —"ता जिहया सदमेदं सुमेधाः (ऋ० सं० ५, १, १०, ३)" —"रूपामिमानो नरुणोदिदन्तः (ऋ० सं० ४, २, १६, ३)" —इति च निगमाः ॥

इत्येकशतमुदकनामानि (१०१) ॥ १२ ॥

अवनयः (१) । यव्हाः (२) । खाः (३) ।
 सीराः (४) । खोत्याः (५) । एन्यः (६) ।
 धुनयः (७) । रुजानाः (८) । वक्षणाः (९) ।
 स्वादो अर्णाः (१०) । रोधचक्राः (११) ।
 हरितः (१२) । सरितः (१३) । अग्रुवः (१४) ।
 नमन्वः (१५) । वध्वः (१६) । हिरण्यवर्णाः (१७) ।
 रोहितः (१८) । सस्रुतः (१९) । अर्णाः (२०) ।
 सिन्धवः (२१) । कुल्याः (२२) । वर्य्यः (२३) ।
 उर्व्यः (२४) । इरावत्यः (२५) । पार्वत्यः (२६) ।
 स्रवन्त्यः (२७) । ऊर्जस्वत्यः (२८) । पय-
 स्वत्यः (२९) । सरस्वत्यः (३०) । तरस्वत्यः (३१) ।
 हरस्वत्यः (३२) । रोधस्वत्यः (३३) । भास्व-
 त्यः (३४) । अजिराः (३५) । मातरः (३६) ।
 नद्यः (३७) । इति सप्तत्रिंशन्नदीनामानि ॥१३॥

(१) अवनयः । पृथ्वीनामसु ध्याख्यातः । (१) अवन्ति जगत्
 खोदयेन, अव्यन्ते प्राणिमिस्तीरादिनिर्माणेन । "आसिञ्चन्ती-

घनयः समुद्रम् (ऋ० सं० ४, ४, ३१, १) — “गा नम्राणा अवती-
रमुचत् (ऋ० सं० १, ४, २६, ५)” — इति च निगमौ । निगमेषु
बहुवचनान्तत्वेन प्रायशः श्रवणात् सर्वत्र बहुवचनान्तत्वम् ॥

(२) यद्वायः । ‘या प्रापणे (अदा० प०) । ‘शिवयद्वायिहो-
प्रीवाप्यामीचा (उ० १, १५२)’ — इति निपातनात् अपत्ययो
यातोर्हस्यत्वं हुगागमश्च । याहुलकादापः स्थाने ङीप् पिप्पलादि-
त्वाद् द्रष्टव्यम् । याति तांस्तान् प्रदेशान् प्राप्यन्ते वा प्राणिभिः ।
यद्वा, ‘यद्वा’ — इति महत्ताम् (निघ० ३, ३), पूर्ययत् ङीप् । यद्वायः
महत्यो नयः । द्विधातुजं वा इदं नाम, — यातेर्हञः, पृषोदरादिः
(६, ३, १०६) । याताश्च प्राणिभिः हुताश्च यदीष्यित्यर्थः ।
“स्वयमत्कीः परिदीयन्ति यद्वाः (ऋ० सं० २, ७, २४, ४)” —
“अयद्वायन्तसुमरां सत यद्वाः (ऋ० सं० २, ८, १३, ४)” — इति
च निगमौ ॥

केपुचित् कोशेषु “यद्वायः” — इतीदं नाम दृष्टम् । ‘यु मिश्रणे
(अदा० प०) ’ पृथग्भावोऽप्यस्यार्थः — इति नैगमकाण्डे ‘यियुते
(निग० ४, २५)’ इत्यस्य निर्वचने स्कन्दस्वामिना प्रतिपादितः ।
‘यु मिश्रणे’ — इति, अयं पठ्यते, प्रयुज्यते च — ‘जनयत्ये स्या
संयोजि’ — इति, तथापि पृथग्भावेऽपि घर्तते । न चायं पेट्य-
सर्गस्यार्थः, केवत्स्यापि दर्शनान् — ‘युतं घनमस्य’ ‘युतं भोजन
मस्य’ ‘युतोऽयम्’ — इति पृथग्भूत इति गम्यते — इति । अस्मान्
‘धातुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च (३, १, १२६)’ — इति ण्यति प्राप्ते
‘एत्यत्यदो यद्वायम् (३, ३, ११३)’ — इति ‘अन्तो यन् (३, १, ६७)’

गुणे, 'धान्तो यि प्रत्यये, (६, १, ७६)' वर्णसु मेघैरदयेन मिश्र-
णीयाः अन्येषु सूर्यारश्मिभिराकृष्टेन पृथग्भवन्तो धा । अथवा
'युञ् यन्धने (ऋ०, ३०)' अस्मात् यज्यादित्वात् (३० ४, १०८)
यक् द्रष्टव्यः । यध्यते आसु सेतुरिति, यज्याः । यद्वा, यवेभ्यो
धान्यविशेषेभ्यो, हिताः 'खलयवमापतिलवृषप्रहणश्च (५, १, ७)
—इति षत् । नदीजवेनापि घट्टर्धन्ते यज्याः । "घाणं तथा
यज्यामिः (ऋ० सं० ६, ७, २, २)"—इति निगमः ।
'हवमिष कुत्यामिः'—इति माघवमाप्याम् । अतयोर्युक्तं गृह्णन्तु
सूर्यः ॥

(३) खाः । 'धन अवधारणे (भू० ३०)' अन्येष्वपि दृश्यते
(३, २, १०१)—इत्यत्र 'अपिशब्दः सप्तोपाधिव्यभिचारार्थः (३, २,
१०१ भा०)'—इत्युक्तेर्निष्पन्नत्वादपि अन्त्यविरिकादपि खनेर्दे-
प्रत्ययः, टाप् । घृग्रहननादिन्द्रेण खाताः । तथा च ध्रुतिः—
'अपां यिलमपिहितं यदासीदु घृत्रं जघन्या अप सठ्यार
(ऋ० सं० १, २, ३८, १)'—इति, 'इन्द्रो अस्मा अदवदु यज्ञयाहु ।
(ऋ० सं० ३, २, १३, १)'—इति च नदीवाक्यम् । यद्वा, खनन्ति
भूमिं धेगेन घहन्त्यः । अथवा, 'खे दाने' । 'घघ्रये फविघानम्
(३, ३, ५८)'—इत्यस्योपलक्षणार्थत्वात् कः, टाप् । 'खे स्येय्ये
हिसायाञ्च (भू० १०)'—इति धा । खायन्ति खिरा भवन्ति घृत्रेण
रुद्धाः, हिंस्यन्ते धा तेन, खाः । "सरायस्त्रामुप सृजा गृणानः
(ऋ० सं० ४, ७, ८, ४)"—"ऋष्याम ते वरुण खासृतस्य
(ऋ० सं० २, ७, ६, ५)"—इति च निगमौ ॥

(४) सीराः । 'यिष् वन्धने' भौवादिकः क्रेयादिकश्च । 'शुसिचिमीनो दीर्घश्च' (उ० २, २४)—इति प्रत्ययः । सीयन्ते वन्ध्यन्ते आसु सेत्वादितः शिलादिभिरवन्ताय वा । 'सरणात् सीरः'—इति सत्तेर्घातोः 'कृष्णशकटिपटिशोडिभ्य ईरन्' (उ० ४, २६)—इति बाहुलकाद् भवति टिलोपश्च । 'सीराशब्दो नदीघचनान्तोदात्तः, हलघचन आद्युदात्तः'—इति माघघः । "द्वितित्वः पृथिव्यां सीरा अधि (ऋ० सं० ८, १, ८, ४)"—"सीरा इन्द्रः स्रवितवै पृथिव्या (ऋ० सं० ३, ६, २, ३)"—इति च निगमः ॥ "सीरा युञ्जन्ति कषयः (ऋ० सं० ८, ५, १८, ४)"—इति हलघचनः ॥

(५) स्रोत्याः । स्रोतसि मघाः । 'स्रोतसो विभापाड्यहृषी' (४, ४, ११३)—इतिङ्यप्रत्ययः । स्रोतोऽनुसरणाद्धिनयो भवन्ति । "नयति स्रोत्या नय स्रयन्ती (ऋ० सं० ८, ५, २५, ३)"—इति निगमः ॥

(६) एन्यः । 'इण गतो (अदा० ५०)' । 'धीज्याज्यदिभ्यो निः' (उ० ४, ४८)—इति बाहुलकाङ्गिप्रत्ययः । 'हृदिकारात्' (४, १, ४५ घा०)—इति ङीप् । यन्ति एभ्यः गमनस्वभावा हि नद्यः गम्यन्ते वा प्राणिभिः । "वि यदु घत्तन्त एन्यः (ऋ० सं० ४, ३, १२, २)"—इति निगमः । एनीशब्दो नदीघचनोऽन्तोदात्तः अन्यत्राद्युदात्तः इति माघघः । "एनी च मते घृहती जमिधिया (ऋ० सं० २, २, १३, ६)"—इति अस्योदाहरणम् ॥

(७) घुनयः । 'घूष् कम्पने' भौवादिः । घटुलानुघृत्तेः 'घृणिघृणिपाष्णिघूर्णिमूर्णि' (उ० ४, ५२)—इत्युक्तेर्निप्रत्ययः

किञ्च । धुन्यन्ति कम्पयन्ति तीरवृक्षादीनि, कम्पन्ते वा स्वयं गमनशीलत्वात् । “दिवेदिवे धुनयो यन्त्यर्थम् (ऋ० सं० २, ७, १२, २)” —इति निगमः ॥

(८) रुजानाः । ‘रुजो भङ्गे’ तुदादिः परस्मैपदी । व्यत्ययेन शानच्, भञ्ज च प्रथमासमानाधिकरणे शानच् भवति, मुगागमस्तु न क्रियते आगमानित्यत्येन व्यत्ययेन वा । रुजन्ति कूलानि । “स रुजानाः पिपिष हन्द्रशत्रुः (ऋ० सं० १, २, ३७, १)” —इति निगमः ॥

(९) वक्षणाः । ‘वक्ष रोपे (भू० प०)’ । ‘कुधमण्डार्धेभ्यश्च’ —इति युच् । वक्षन्ति कुध्यन्तीष हि ताः वर्षासमये वेगेन गच्छन्त्यः । चित्स्वरं बाधित्वा व्यत्ययेन प्रत्ययस्वरः । यदुषा, ‘घह प्रापणे (भू० उ०)’ । अस्माद् ‘युच् बहुलम् (उ० २, ७४)’ —इति युचि पुगागमो बाहुलकाद् भवति । स्वयं प्रवहन्ति हि ताः । ‘वक्षतिः प्राक्तिकर्मणः स्यात्’ —इति माघघः । युच् । प्राप्यन्ते हि ताः प्राणिभिः प्राप्नुवन्ति वा समुद्रं निम्नं वा । “प्र वक्षणा भमिन्त् पर्वतानाम् (ऋ० सं० १, २, ३६, १)” —“महि ज्योतिर्निहित वक्षणास्तु (ऋ० सं० ३, २, ३, ४)” —इति निगमो ॥

(१०) स्वादोअर्णाः । ‘स्वाद मक्षणे (भू० आ०)’ । कर्त्तर्य-सुन् (उ० ४, १८४) अर्णशब्दोऽकारान्तोऽपि निरुक्त उदकनामानु (१२) । स्वादः, मक्ष्यमाणः । मक्षणेन चात्र बाधनं लक्ष्यते, तेन कूलं बाधमानोऽर्णो जलं यासामिति स्वादोअर्णः, वेगवञ्जला

इत्यर्थः । 'प्रकृत्यान्तः पादमध्यपरे (६, २, १६५)' । 'तथा च माधवः—“घन्वर्णसो नद्यः स्वादोअर्णाः” (ऋ० सं० ४, २, २६, २)”—इत्यत्र 'घन्वर्णसस्तद्वज्रलाः । स्वादोअर्णा जलान्विताः । स्वादो वेगवज्रलं यासां तास्तथोक्ताः 'मक्षितकुलोदकाः'—इति । 'घन्वर्णसः (ऋ० सं० ४, २, २६, २)”—इत्यर्थं निगमः । अत्रा-
र्णशब्दो विशेषणम्, अन्यो वा निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(११) रोधचक्राः । 'रुध्रि आयरणे (४० प०)' 'माये (३३, १८)' घम् । 'डुरुञ् करणे (तना० उ०)' 'घन्नर्थे कचिधानम् (१३, ३, ५८ पा०)—इति कः । 'ह्रस्वादीनां के द्वे भयतः'—इति द्वित्वम् । चक्रम् करणम्, रोधः, रोधस्य निरोधस्य चक्रं करणं कृतिरासां विद्यते इति रोधचक्राः । नद्यो वृष्ट्या प्राणिनां स्वैर-
सञ्चरणनिरोधकारिणः । यद्वा, रोधः तीरं, तस्य करणं निर्माण-
मासां विद्यते तीरवत्यो हि नद्यः । सफाररलोपशब्दस्य । यद्वा,
रुधेः करणे घञि (३, ३, १६) रुध्यतेऽनेन जलप्रवाह इति रोधः
शब्दः करणं निर्माणमासां विद्यते । “समुद्रं न स्रवतो रोधचक्राः
(ऋ० सं० २, ५, १३, २)”—इति निगमः ।

(१२) हरितः । 'ह्रस्व हरणे' भूवादिः (उ०), 'ह्र प्रसप्तकरणे'
जुहोत्यादिः । 'ह्रस्वरुह्युपिभ्य इतिः (उ० १, ६४)' । ह्रन्ति
मृक्षगुल्मादीनि वेगेन, प्रसप्त हरन्ति वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१३) सग्निः । 'सृ गतो (भू० प०)' । पूर्वैण सूत्रेण (उ०
१, ६४) इतिप्रत्ययः । एतस्य इत्यनेन समानार्थः । “सम्यक् स्रवन्ति
सरितो न घेना (ऋ० सं० ३, ८, ११, १)”—“यो पा

समुद्रान्तस्त्रितः पिपत्ति (अ० सं० ५, ५, १७, २) — इति निगमो ॥

(१४) अग्रुचः । 'अहि गतो (भू० आ०)' । 'जग्वादयश्च (उ० ४, १००)' — इति उपत्ययान्तेषु निपातितेषु द्रष्टव्योऽयं शब्दः, निपातनाप्रलोपः, 'सन्वार्दानां छन्दसि बहुलम् (६, ४, ८६ पा०)' — इत्युच्यते । गच्छन्ति तांस्तान् प्रदेशान् । 'अग्रुघो गमनात् नयः' — इति माधवः । "समग्रुघो समनेष्वञ्ज (अ० सं० ५, २, १, ५)" — इति निगमः ॥

(१५) नमन्चः । 'एण तुम हिंसायाम्' भूवादिरात्मनेपदी, दिपादिः क्र्यादिश्च परस्मैपदी । 'दामाभ्यां नुः (उ० ३, ३१)' — इति बाहुलकात् नुप्रत्यये नकार उपजनः । नमन्ते, नम्यन्ति, नमन्ति इति नमन्चः । 'जसादियु छन्दसि वा यचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः' — इति विकल्पितत्वात् 'जसि च (७, ३, १०१)' — इति गुणाभावः । नयो हि बाधिकाः फूलादीनाम् । "प्राग्रुघो नमन्यो ३ नवकाः (अ० सं० ३, ६, २, २)" — इति खीलिङ्गो निगमः । "प्र पर्यंतस्य नमनूँचुल्ययुः (अ० सं० ४, ३, २४, ७)" — इति पुलिङ्गे । अत्र 'सिन्धवः स्युर्नमन्चः' — इति माधवनिर्वचनानुक्रमणी ॥

(१६) घञ्वः । 'घह प्राप्ते (भू० उ०)' । 'घहो घञ्व (उ० १, ८०)' — इति उपत्ययः । घहन्ति गहन्ते वा भूष्याम् । यद्वा, समुद्रस्य भार्यात्वात् घञ्व इत्युच्यते । सरित्पतिर्हि समुद्रः । निगमोऽन्वेक्षणीयः ॥

(१७) हिरण्यवर्णाः । हिरण्यशब्दो निरुक्तः (११२।१) 'हृष्यतेः कन्यन् हिरश्च'—इत्यादिना । 'वृञ्घरणे (स्वा० उ०)' । 'अङ्जेन्द्राप्रवज्ज (उ० २, २७)'—इत्यादिना रन्प्रत्ययान्तो निपातितः । घृणोति श्रियते घाऽसाधिति वर्णः श्वेतादिः । हिरण्यः कान्त इष्टो वर्णो यासां ताः । यद्वा, हिता चर्मादी रमणीया मनः-प्रहादजनयिभ्यः, चारिकाश्च तापादेर्मूढ्या घा इति । "हिरण्यवर्णाः परियन्ति यद्वाः (अ० सं० २, ७, २३, ४)" —इति निगमः ॥

(१८) रोहितः । 'रुह बीजजन्मनि (भू० प०)' । 'हृद्युहि-युपिभ्य इति (उ० १, ६४)' । 'रोहन्त्यामिर्वीतानि, तज्जलेन हि बीजानि प्ररोहन्ति । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(१९) सङ्घृतः । सम्पूर्णात् 'ध्रु गतो (भू० प०)'—इत्यस्मात् 'किप् च (३, २, ७६)'—इति क्तिप्रत्ययः । सङ्घृताः सङ्घृतः । समोऽन्तलोपच्छान्दसः क्षुद्रनद्यो महानद्यश्च परस्परं सङ्घृता भवन्ति ततः सङ्घृत इत्युच्यन्ते । सङ्घृतः सङ्घृता इति माधयः । यद्वा, क्षयतेः सम्पदादित्यात् (३, ३, ६४ पा०) किप् । क्षयणं क्षुतजलप्रपादः स्रोत इत्यर्थः, तथा सह घटन्ते इति सङ्घृतः । 'सहस्य सः सम्भायाम् (३, ६, ७८)'—इति सः, सङ्घृतः । 'सङ्घृतः स्रोतसा युक्तः'—इति च माधयः । "अतएव घेना भयनन्त सङ्घृतः (अ० सं० २, २, ८, १)" —इति निगमः ॥

(२०) अर्णाः । 'अण गतो' तनादिः (प०) । 'पयायच् (३, १, १३४)' अर्णन्ति गच्छन्त्यर्णाः । यद्वा, अर्ण इत्यकारान्तम-प्युदफलमेत्युक्तम् । (१५१ पृ०) अर्ण आदित्यादच् (५, २, १२७)

जलयत्यो हि नद्यः । 'अर्त्तेरर्णांस्युपगाः'—इति माघवः । तत्र पक्षे 'घापृचस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—इति नप्रत्ययः । यदुवा, पचाद्यचि (३, १, १३४), अर्त्तेः 'उदके नुद् च (उ० ४, १६२)'—इत्यसुनि विहितो नुडागमो यादुलकाद् भवति । "ऋणोरपो अनयद्यार्णाः (ऋ० सं० २, ४, १६, २)" —इति निगमः ॥

(२१) सिन्धवः । 'स्यन्दूप्रस्रवणे (भू० आ०)' । 'स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च (उ० १, ११)'—इत्युप्रत्ययः । स्यन्दन्ते इत्यर्थः । "अधो अक्षाः सिन्धवः स्त्रोत्यामिः (ऋ० सं० ३, २, १३, २)" —"यस्य ते सप्त सिन्धवः (ऋ० सं० ६, ५, ७, २)" —इति च निगमौ ॥

(२२) कुल्याः । 'कुल संस्त्याने (भू० प०)' । कोलन्ति संस्त्यायन्त्यस्मिन् शिलादय इति कुलं पर्यतः । कुले प्रधानभूते पर्यते भवाः कुल्याः । 'भवे छन्दसि (४, ४, ११०)'—इतियत् । कुलिशनिर्यचने 'कुलशातनः (निद० ६, १७)'—मैघस्य पर्यतस्य वा समुच्छिताः प्रदेशाः, कुलाः, तेषां च शातनः इत्युक्तेः । मैघस्य पर्यतस्य वा समुच्छिते प्रदेशे कुले भवन्तीति कुल्याः । क्षीरस्वामी तु 'कुलानि पर्यतानि श्यति पक्षच्छेदनेन तनूकरोति, कुलिशः'—इत्युक्तवान् । यद्वा, 'कुन्याऽल्पा कृत्रिमा सखि (अम० १, १०, ३४)'—इत्यत्र क्षीरस्वामिनो व्याख्या—'कृत्रिमा अल्पा च क्षेत्रसे-कार्या कुल्या' । कुले साधुः 'तत्र साधुः (४, ४, ६८)'—इति यत् । यदाहुः—'कुल्यादानं जलं विद्यात् कुल्यो मान्ये व्यवस्थितः । दाम्पत्यं कुलमित्यन्ये हलं वा कुलमुच्यते'—इति । "स्यन्दन्तां,

कुल्या । धिपिताः पुरस्तात् (अ० सं० ४, ४, २८, ३)—“हृदं
कुल्या इवाऽऽशत (अ० सं० ३, ३, ६, ३)”—इति च निगमो ॥ १

(२३) घर्ष्यः । ‘वृज् वरणे (स्वा० उ०)’—‘वृज् सम्भक्तौ
(वृज् आ०)’ । ‘अव इः (उ० ४, १३४)’—इति इप्रत्ययः,
‘हृदिकारात् (४, १, ४५ चा०)’—इति ङीप् । वरणीयाः सम्भ-
जनीया वा. घर्ष्यः । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

। ‘हृदं नाम माघयः “अतावर्ष्यः”—इत्यपठत् । ‘अतमित्पुदकनाम
(निरु० २, ५२)’ “छन्दसीचनिर्णौ च (५, २, १२२ चा०)”—इति
मत्वर्थीयो घनिप्, ‘घनो र च (४, १, ७)’—इति ङीष्फौ, ‘अन्ये-
पामपि दृश्यते (६, ३, १३७)’—इति दीर्घः, अतावर्ष्यः । “अता-
वरीरुप मुहूर्तमेवैः (अ० सं० ३, २, १२, ५)”—इति निगमः ॥
अत्र स्कन्दस्वामिना ‘नदीनाम’—इति नोक्तम्, युक्तं गृह्णन्तु सूत्र्यः ॥

(२४) उर्ष्यः । उर्षुञ् आच्छादने (अ० उ०)—इत्यस्माद्
घृणोतेश्व । उर्ष्य इति पृथिवीनामसु व्याख्यातम् (१, १, १०) ।
महत्पयो नद्यः, छादयिष्यो वा भूमेः स्वेनोदकेन ॥

। एतद्वदीनामुत्तरैवां नाम्नां निगमा अन्येऽपणीयाः प्रायेण ॥

(२५) इरावत्यः । ‘इण गतौ (अ० ५०)’ । ‘अज्ञेन्द्राप्रघ-
ज्रविप्र (उ० २, २७)’—इत्यादिना रप्रत्ययो गुणामावो निपात्यते ।
इरा च, तदासामस्ति मतुप्, चत्वं, ङीप् ॥

(२६) पार्वत्यः । पर्वतशब्दो निरुक्तो मेघपर्वतानां नामत्वेन
(११, १०, ६) । ‘तस्यापत्यम् (४, १, ६२)’—इत्यण्, ङीप्
(४, १, १५) ॥

(२७) स्यस्यत्यः । 'सु गंतौ (भू० प०)' । लट्, शतृतो ङीप् । सर्वदा गमनस्यभावः । "नचति स्रोत्या नव च स्रवन्तीः (ऋ० सं० ८, ५, २५, ३)" — इति निगमः । अत्र स्रोत्या इति विशेषणम् ॥

अस्य स्थाने "रेयत्यः" — इति केयुचिन् कोशेषु दृश्यते । तदा, 'रयिः' — इत्युदकनाम (१२, ७३) । रयिरासामस्तीति मनुप्, 'रयेर्मतौ गहुलम् (६, १, ३४ चा०)' — इति साग्रसारणम् । "पतिः सिन्धूनामसि रेयतीनाम् (ऋ० सं० ८, ८, ३८, १)" — इति निगमः । सिन्धुशब्दो विशेषणम् ।

(२८) ऊर्जस्यत्यः । 'ऊर्जं यलप्राणनपोः' चुरादिः (प०) । असुन् (उ० ४, १८४) । ऊर्जयतीत्यूर्जो यलं तेन तद्वत्यः । 'अस्मायामेधाफ्नो विनिः (५, २, १२१)' — 'गहुलङ्गन्वसि (५, २, १२२)' — इत्युक्तेर्मनुप्, 'तसीं मत्वर्थे (१, ४, १६)' — इति भसञ्ज्ञा । यलयत्यो हि नद्यः यतः स्ववेगेन स्थिरानपि धृष्टादीन् हरन्ति । 'ओजसा वा एता घहन्तीरिवोहतीरिव आकूलन्तीरिव धावन्तीरिव' — इति श्रुतिः ।

(२९) पयस्यत्यः । 'पा पाने (भू० प०)' । पियतेरी चासुन् (६, ४, ६६ । उ० ४, १८४) । पीयत इति पयः । प्यायतेर्वा (भू० आ०) असुनि बाहुलकान्, 'प्यायः पी (६, १, २८)' — इति निष्ठायां विहितः पोमावो भवति । वर्द्धतेऽनेन पीतेन प्राणिन इति पयः । उदकं तद्वत्यः ॥

(३०) सरस्यत्यः । सर इत्युदकनामि निरुक्तम् (१२, ३८), तद्वत्यः सरस्वत्यः ॥

(३१) तरस्वत्यः । तृ प्लवनतरणयोः (भू० प०) । असुन् (उ० ४, १८४) । तरन्त्यनेनापदमिति धरो बलं, तद्वत्यः ॥

(३२) हरस्वत्यः । 'हम् हरणे (भू० उ०)' । असुन् (उ० ४, १८४) । 'उदकं हर उच्यते'—इति निरुक्तम् (४, १६) । तद्धि बहुवो हरन्ति, सर्वे हियते वा प्राणिभिरुपभोगाय, तद्वत्यः ॥

(३३) रोधस्वत्यः । रोधसा क्षीरेण, तद्वत्यः । "बिभ्रा रोध-
स्वतीरु (ऋ० सं० १, ३, १७, १)" इति निगमः ॥

(३४) भास्वत्यः । 'भा दीप्ति (अदा० प०)' । असुन् (उ० ४, १८४) । भा दीप्तिः, तद्वत्यः, दीप्तिमत्यो हि नद्यः ॥

(३५) अजिराः । 'अज गतिक्षेपणयोः (भू० प०)' । 'अजि-
रशिशिरशिथिलस्थिरस्फिरस्थधिरस्वदिराः (उ० १, ५३)'—इति
किरच्छ्रत्ययो घीभावाभावश्च निपात्यते । अजन्ति, गच्छन्ति
क्षिप्यन्ते प्रेर्यन्ते आसु नाव इति । यदुवा, 'अजिरम्'—इति
क्षिप्रनाम (निघ० २, १५), अजिराः शीघ्रगाः ॥

(३६) मातरः । 'माङ् माने (अदा० आ०)' । तुन्तृचौ,
'शंसिक्षदादिभ्यः सञ्ज्ञायां तुन्तृचौ (उ० २, ८०)'—इति
घञनात् । 'न पृस्वल्लादिभ्यः (४, १, १०)'—इति ङीप्-
प्रतिषेधः । निर्मोषते प्रजापतिना, मान्ति आसु आप इति
घा, मातृवल्लोकस्य रक्षिका इति वा, नदीमातृक इति हि देशस्य
व्यपदेशः । "जज्ञानं सप्तमातरः (ऋ० सं० ७, ५, ४, ४)"—
"द्वितीयमा सप्तशिखासु मातृषु (ऋ० सं० २, २, ८, २)"—
इति च निगमौ ॥

(३७) नद्यः । 'णद् अत्रक्ते शब्दे (भू० प०)' । पचाद्यच्
(३, १, १३४) । तत्र च 'नद्'—इति रिद्वयं घटयते (४, १,
१५ मा०) । ततो ङीप् । नदन्ति नद्यः । "सो अर्णवो न नद्यः
समुद्रियः (ऋ० सं० १, ४, १६, २)"—"प्रतीपं शापं नद्यो
घटन्ति (ऋ० सं० ७, ७, २०, ४)"—इति च निगमौ ॥

इति सप्तत्रिंशन्नदीनामानि ॥ १३ ॥

अत्यः (१) । हयः (२) । अर्वा (३) ।
वाजी (४) । सप्तिः (५) । वह्निः (६) ।
दधिकाः (७) । दधिकावा (८) । एतम्बा (९) ।
एतशः (१०) । पैद्दः (११) । दौर्गाहः (१२) ।
औचैःश्रवसः (१३) । ताक्ष्यः (१४) । आशुः (१५) ।
ब्रध्नः (१६) । अरुपः (१७) । मांश्चरवः (१८) ।
अव्यथयः (१९) । श्येनासः (२०) । सुपर्णाः
(२१) । पतङ्गाः (२२) । नरः (२३) । ह्यार्याणाम्
(२४) । हंसासः (२५) । अश्वाः (२६) ।
इति षड्विंशतिरश्वनामानि ॥ १४ ॥

(१) अत्यः । 'अत सातत्पगमने (भू० प०)' । 'इत्यल्युटो
यहुल्म् (३, ३, ११३)'—इति कर्त्तरि यत् । अथवा 'अभ्यादयश्च

‘(उ० ४, १०८)’—इति यत्प्रत्ययो द्रष्टव्यः । अतति ‘सततं गच्छति, गच्छत्यनेनास्वारोह इति वा । “घामत्या” अपि कर्षं घहन्तु (ऋ० सं० ४, १, ३०, ४)’—इति निगमः ॥

(२) हयः । ‘हय गतिविक्रान्ते (भू० प०)’ । पचाद्यच् (३, १, १३४) । हयति गच्छत्यध्वान्, विक्रमते वा । ‘अध्वादीनां गतिविशेषो विक्रमणम्’—इति वृत्तिः । “हयो न विदुर्वा अयुजि स्वयं, धुरिः (ऋ० सं० ४, २, २८, १)” —“हयोऽसि (ता० ब्रा० १, १, ७)” —इति च निगमौ ॥

(४) अर्वा । ‘अर् गतिप्रापणयोः (भू० प०)’ । आम्दि-पयसिपृशकिभ्यो घनिप् (उ० ४, १०६)’—इति घनिप् प्रत्ययः । गच्छत्यध्वान् प्रापयत्यध्वनः पारमिति वा । ‘अर्वे-ररणवान् (निह० १०, ३१)’—इति भाष्ये स्फन्दस्वामी । भाष्ये तु अर्वेररणवान् इत्यर्थप्राप्तवचनं द्रष्टव्यम् । अर्वेरत्त-र्णीतप्यर्थाद्वा ‘अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)’—इति घनिनि रूपम् । प्रेर्यते कसादिना प्रतिक्षणं पाप्न्योदिनेति वा । यद्वा, अन्यमाश्रितः अस्वतन्त्र इत्यर्थः अश्वो क्षात्रोहि-परतन्त्रः । “द्वयो धन्वन् क्रत्वा नार्या (ऋ० सं० ४, ५, १४, ४)” —इति निगमः ॥

(४) घाजी । ‘घञ गती (भू० प०)’ । घञ । घाजो वेगः । ‘रंहस्तरणिः प्रसमो वेगो रपो जघो घाजः’—इति निघण्टुः । ‘अजिघ्रज्योश्च (७, ३, ६०)’—इत्यत्र न्यासः—‘चकारस्यानुक्त-समुच्चयार्थत्वाद् ‘घजरेपि कुत्वप्रतिषेधसिद्धे भवति’ घाजः

वाज्यम्—इति । चाजोऽस्याग्नि 'अत इनिर्ज्ञौ (७, २, ११५)'
 वाजी । वेगवान् हावः । यद्वा, चाजोऽन्नं, देयनात्वे हविर्ल-
 क्षणेन, अभ्यजातीयत्वे तज्जाग्युचिन्मुद्गाद्यन्नेन तद्वान् ।
 'चाजाः पक्षाः क्षमूचस्येति वाजी'—इति श्रीरस्यार्मा । वेजन्वान्,
 वा । वेजनं कम्पनं कम्पितः स्वर्यं, कम्पयिता वा परंगमिष्यर्थः ।
 अत्र 'ओ चिज्जी भयचलनयोः (४० प०)'—इत्यस्माद् वाजशब्दः
 पृथोदरादित्यात् सिद्धः । "विमोचनं वाजिनो रासभस्य (४० प०
 ३, ३, १६, ५)" —इति निगमः ॥

स्तिमितबभ्रुः, कर्णगुक्तिकाकारो भवति'—इति । सर्वत्र दधच्छ-
 ष्टः पूर्वपदं तस्य षृणोदरादित्वात् (६, ३, १०६) तकारलोप
 इकारान्तादेशश्च । व्रामनेः क्रन्दतेराङ्पूर्वात् करोतेर्वोत्तरपदं,
 तत्र, व्रामतेः 'जनसनसनक्रमगमो विद् (३, २, ६७)'—इति विद्,
 'विड्यनोरनुनासिकस्यात् (६, ४, ४१)'—इत्यात्यम् । क्रन्दैः
 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति विच्, व्यत्ययेनानुना-
 सिकस्यात्वं, इकारलोपश्च षृणोदरादित्वेन करोतैः किप् युक्
 चानुयत्तते । आङ् च धातोः परो यणादेशः, दधिकाः । "कर्तुं
 दधिका धनुमन्तवी त्वत् (ऋ० सं० ३, ७, १४, ४)"—इति
 निगमः ॥

(८) दधिकाया । अत्र 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'
 —इति च निप् । अन्यत्सर्वं पूर्वण समानम् अर्धश्च । "दधि-
 कावेवमृजं स्वर्जनत् (ऋ० सं० ३, ७, १४, २)" —इति निगमः ॥

(९) एतग्या । 'इण् गतो (अदा० प०)' । 'हसिसृगृ-
 घामिदमित्पूधूर्ध्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८३)'—इति तन्प्रत्ययः
 कर्मणि । 'भूतेऽपि दृश्यन्ते (३, ३, २)'—इत्युक्तेः भूतेऽपि
 भवन्ति । एतं प्राप्तम् । 'गम्य गतो (भू० प०)' 'इण्शीभ्यां
 घन् (उ० १, १५०)'—इति बाहुलकाद् घन्प्रत्ययः द्विलोपश्च ।
 गम्यत इति गघः गन्तव्यो देशः । एतः प्राप्तो गन्तव्यो येन स
 एतग्वः । अथ्वस्तु शैब्यातिशयेन गमनारम्भ-
 पद्याविलम्बितं गन्तव्यदेशं प्राप्नोतीति एत उच्यते । 'एतग्याः प्राप्तगन्तव्याः'—
 इति माधवः । यद्वा, एतशब्दः शुक्लपर्यायः, गमेः किप्, 'गमः

को (६, ४, ४०)—इत्यनुनासिकलोपः, 'ऊञ्च गमादीनाम् (६, ४, ४० घा०)'—इत्युकारोऽन्तादेशः । आगमनमागुः । घातुः पसर्गयोः स्थानविपर्ययः प्राप्तः । एतस्य शुक्लवर्णस्यागमनमस्यास्ति मन्थर्योपस्य लुक् । एतग्याः शुक्लवर्णा श्रवाः । यद्वा, एतः शुक्लवर्णोऽस्यास्तीति 'केशाद्धोऽन्यतरस्याम् (५, २, १०६)'—अन्येभ्योऽपि दृश्यते (५, २, १०६ घा०)—इति यप्रत्ययः, गकार उपजनः । 'एतस्य श्वेतवर्णस्य श्वो मन्थर्यो भवति'—इति माधयः । सर्वेषामश्रवानां यत्र कापि शोफन्यमस्ति रूपेण वा । एतग्याशब्दोऽश्वे वर्तते । तथाच 'विशाखायादौ मन्थदण्डयोः'—इत्यत्र पदमञ्जरी—'विशाखायादौ शब्दौ रुदिरूपेण मन्थदण्डयोर्वर्तते, तेन यथाकथञ्चिन् साधुत्त्वानुशासनार्थं व्युत्पत्तिः क्रियते, इति । तेनामन्थर्येऽपि न दोषः । 'एतग्या'—इत्याकागन्तपाठो यथादृष्टम् । "एतग्या चित्रसुयुजा गुजानः (ऋ० सं० ५, ५, १७, २)"—"एतग्या चित्र एतशा सुयोजने (ऋ० सं० ६, ५, ६, २)"—इतिच निगमादौ 'सुपां सुदृक् (७, १, ३६)'—इति विभक्तेराकारः ॥

(६०) एतशः । 'इण् गतो (अदा० ५०)' । 'इणस्तशन्तशसुनी (उ० ३, १४५)'—इति तशन्यत्ययः । एतशः गमनकुशलः । यद्वा, एतशब्दान् लोमादित्वान् (५, २, १०) शस् । एतद्वा एतच्छरीर एतशः, पृथोदरादित्वात् (६, ३, १०६) सर्वसिद्धिः । "एतशो वहति धूर्तं युक्तः (ऋ० सं० ५, ५, ५, २)"—"वदेतशेभिः पतरे रयदर्यसि (ऋ० सं० ७, ८, १२, ३)"—इति च निगमौ ॥

(११) पैदः । 'पद गती (दि० आ०)' । 'कृगृगृभ्यो घः (उ० १, १५३)' इति घप्रत्ययो बाहुलकात्, अकारस्यैकारः पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) । पद्यते गच्छति पद्यतेऽनेनेति वा । 'पदेः पैद्वो गतिक्रियायाम्'—इति माधवः । "पैद्वो न हित्व महि नाम्नां हन्ता (ऋ० सं० ७, ३, २४, ४)" —इति निगमः ॥

(१२) दूर्गहः । दुर्गशब्दे उपपदे गृहातेः (क्त्वा० उ०), गाहे वा (भू० आ०) 'ईपदः सुपु छच्छाकृच्छार्थेय खल् (३, ३, १२६), रेफलोपः, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) गृहातेः, गाहेर्हस्यत्यम् । अवहृदयानभिर्गृहीतुमशक्यत्वात् दुर्गह इत्युच्यते । दुर्गह एव दूर्गहः, प्रहादित्वाद्दण् (५, ४, ३८) । यदुवा, 'दुःखेन गहितव्यत्वात् दुर्गहं जलमुच्यते'—इति माधवः, तत्र भयो दूर्गहः, 'तत्र भवः (४, ३, ५३)'—इत्यण्, 'अप्सु योनिर्या अश्वः (शत० ब्रा० ५, ४, ४, ४)'—इति ध्रुतिः । "सप्तसृपयो दूर्गहे बध्यमाने (ऋ० सं० ३, ७, १८, ३)" —इति निगमः ॥

(१३) औच्चैःश्रवसः । अमृतमन्थने जातोऽश्व उच्चैःश्रवाः । उच्चैर्महच्छ्रवः कीर्त्तिरस्येति, 'तस्यापत्यम् (४, १, ६२)'—इत्यण् । तत्कुलीना ह्यशवाः सर्वे । निगमोऽन्वेयणीयः ॥

(१४) तार्क्ष्यः । तूर्णमश्नुते गन्तव्यं, तीर्णं अन्तरिक्षे क्षियतीति तार्क्ष्यः । तूर्णशब्दात् तीर्णशब्दाद्वा पूर्वपदम्, अश्नोतेः क्षीयतेर्वीत्तरपदम्, पृषोदरादिः (६, ३, १०६) । अश्वो हि वेगयशादाकाशे गच्छन्निव हि दृश्यते प्रेक्षकैः । यद्वा, वेगेन

तादर्थ्यसादृश्यान् तादर्थ्य इत्युच्यते । 'तुरङ्गादङ्गी तादर्थ्यो' (अम० को० ३, ३, १४५) —इत्यत्र तृशस्यापत्यं तादर्थ्यः, गगादित्यात्, —इति धीरस्वामी । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१५) आशुः । 'अशू व्यातो (स्वा० आ०)' । कृपापाजिमि-
स्वदिसाध्यशून्य उण् (उ० १, १) । अश्रुतेऽध्वानम् । अश्रुतेर्वा
याहुलकादुण् (३, ३, १) । अश्रुति महाशनी भवति ।
आशुरिति शिप्रनाम (निघ० २, १५), शीघ्रो वा । "द्रघश्चक्रेप्याशुपु
(ऋ० सं० ६, ३, १३, ८)" —इति निगमः ॥

(१६) ग्रध्नः । अत्र भास्करमित्रेण—'ग्रध्नम् परितृढम्,
अरुणमारोचनम्'—इति व्याख्यातम् । धाजसनेये तु,—“युञ्जन्ति
ग्रध्नमरुणञ्जन्तम् (ऋ० सं० १, १, ११, १)" —इत्यत्र, उच्यते
—'अश्वं युञ्जन्ति ग्रध्नमिति, अश्वोऽन्नादिवत् स्तुपत इति वा ॥

(१७) अरुणः । 'ऋ गतिप्रापणयोः (क्या० प०)' । ऋणाति
अभ्यासुषं गच्छति, अरुण्यते वा तदर्थिभिः । यद्वा, अरुणमिति
रूपनाम (निघ० ६, ७), मत्वर्योयोऽकारः, प्रशस्तरूप इत्यर्थः ।
“हृदि ऋजन्त्यरुणो न युज्यते (ऋ० सं० ७, २, २७, १)" —
इति निगमः ॥

(१८) माध्वत्वः । 'मन ज्ञाने (दि० आ०)' । पदस्य नलो-
पामावः पृथोदरादित्यात् (६, ३, १०६) । "महीमे अस्य
वृषनाम ध्रुवे माध्वत्वे वा पृथने वा घघत्रे (ऋ० सं० ७, ४,
२१, ४)" —इत्यत्र, माधवस्य प्रथममाध्यम्—'मही महती,
इमे, अस्य सोमस्य, श्रुवे सुखकरे भवतः । ये च कर्मणी

मांश्चत्वे । अश्चनामेतत् । मधु चरतीति । अश्वैः क्रियमाणे
युद्धे बाहुयुद्धे, घघत्रे शत्रूणां हिंसनशीले भवतः । सोऽयं—
अस्वापच्छत्रून्स्त्रोहयच्च । स्त्रोहनं प्रद्राचणम् । अथ प्रत्यक्षकृतः—
—इत्यादि । अत्र मांश्चत्वस्य । समाझायगाठेषु मंश्चत्व
इति दृश्यते । ‘ग्रध्नं मांश्चतोर्वरुणस्य वधुम् (ऋ० सं० ५, ४, ११,
३)’—इत्यत्र माधवः—‘मंश्चतुरित्यश्वनाम । इह तु वरुण-
विशेषणम्, मंश्चतोर्वरुणस्य महान्तं वधुम्’—इत्यभाषयत्,
निरूपणीयम् ॥

(१६) अव्ययः । ‘एषामष्टावुत्तराणि बहुवदित्युक्तम् (निह०
२, २४७)’ असन्देहार्थमेतदादीनि बहुवचनान्तानि नामानि ।
‘व्यथ भयचलनयोः (भू० आ०)’ । ‘इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४,
११४)’—इतीनप्रत्ययः, नञ्ससासः । न व्यथन्त्यभिसङ्ग्रामेषु
अव्ययः दृष्टेः भयेऽप्यव्ययः स्यादिति भावः । यद्वा, व्यथि-
रिति क्रोधनाम (निघ० २, १३), आरोहणताडनयत्थनादिभिर्न
क्रुध्यन्तीत्यर्थः । “पतत्रिभिरश्रमैरव्यथिभिः (ऋ० सं० ५, ५,
१६, ७)”—इति निगमः ॥

(२०) श्येनासः । ‘श्येनः शंसनीयं गच्छति (निह० ४,
२४)’—इति भाष्ये । असि ‘आजसेरसुक् (७, १, ५०)’ ।
“श्येनासो न दुवसनासो अर्थम् (ऋ० सं० ३, ५, ५, ५)”—
इति निगमः ॥

(२१) सुपर्णाः । ‘पृ पाळनपूरणयोः (जु० ५०)’ । ‘धापृ-
षस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)’—इति नप्रत्ययः । सुपाल्यन्ते

यवसादिप्रदानेन, पूरयन्ति वा नमः ह्येवाद्यादिना सङ्गमा-
मसाधनत्वात् । पततेर्वा चाहुल्यकान् नप्रत्ययस्तकारस्य रेफः,
शोभनगमना इत्यर्थः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२२) पतङ्गाः । 'पतङ्ग गतो (भू० प०)' । 'पतेरङ्ग्व्
(उ० १, ११७)' । यद्वा, खच्प्रकरणे 'गमेस्तु खच्युपसंख्यानम्,
(३, २, ६८ चा०)'—इति खच्, यच्च डिङा पक्तव्यः (३, २,
६८ चा०), 'चित्पनञ्ययस्य (६, ३, ६६)'—इति मुम् पतङ्गा
इति । 'अश्याः पूर्व पक्षिणोऽभूयन्—इति ध्रूयते । "रथे युक्तास
आशयः पतङ्गाः (ऋ० सं० १, ८, १८, ४)"—इति निगमः ।
आशुशब्दो विशेषणम् ॥

(२३) नटः । 'नीम् प्रापणे (भू० उ०)' । 'नयतेर्ङिष्
(उ० ३, ६३)'—इति ऋनप्रत्ययः । जसि नटः । नयन्ति
आरोहिणम्, कर्मणां नेतारो वा नटः । "त्वं सूरौ हरितो
रामयोर्नृन् (ऋ० सं० १, ८, २६, ३)"—इति निगमः । 'नृन्
अश्वान्—इति माधवः ॥

(२४) हार्याणाम् । 'हृ कीटिल्ये (भू० प०)' । 'ऋहलो-
र्ण्यत् (३, १, १२४)' । खलीनाद्याकर्षणे मुलादिष्वङ्गेषु
कुटिलीक्रियन्ते हाश्याः । यद्वा, हरतिरत्तिकर्मा (निघ० २,
८), 'हृत्पल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति ण्यत् । हृत्पल्युटो
अश्याः हार्याः । 'हरि गतो—इति माधवः । "हार्याणाम्"
—इति यथादृष्टपाठः । "पुत्रो न हार्याणाम् (ऋ० सं० ४, १,
१, ४)"—इति निगमः ॥

(२५) हंसासः । 'हनः हिंसागत्योः (अदा० प०)' ।
 'घृतृवदिहानिकमिकपि (युध्यवि) भ्यः सः (उ० ३, ५६)'—इति
 सप्रत्ययः । प्रन्ति गच्छन्त्यध्वानं, गच्छन्तः पद्विरध्वानं हिंसन्ति
 घा (ऐ० ब्रा० ५, १, १) । "हंसासो ये वा मधुमन्तो अस्त्रिभः
 (ऋ० सं० ३, ७, २१, ४)"—इति निगमः ॥

(२६) अश्वः । 'अशू व्यत्तौ (स्वा० आ०)' । 'अशुपुपिल-
 टिकसिन्नट्टिविशिभ्यः कुन् (उ० १, १४६)'—इति कुन्प्रत्ययः ।
 अश्वत्तेर्वा यादुलफान् । अश्वनुवतेऽध्वानं महाशना भयन्तीति
 च । "यदाक्षिपुर्दिव्यमज्ममश्वाः (ऋ० सं० २, ३, १२, ५)"
 —इति निगमः ॥

इति पञ्चविंशतिरश्वनामानि ॥ १४ ॥

'दशोत्तराष्ट्यादिष्टोपयोजनानीतिराचक्षते साहचर्यशानाय
 (नि० २, २८)'—इतिहासपक्षेऽपि पूर्वपक्षापरपक्षावहो-
 रात्रे वा ॥

हरी इन्द्रस्य (१) । रोहितोऽग्नेः (२) ।
 हरित आदित्यस्य (३) । रासभावश्चिनोः (४) ।
 अजाः पूष्णः (५) । पृपत्यो मरुताम् (६) ।
 अरुण्यो गाव उपसः (७) । श्यावाः सवितुः (८) ।
 विश्वरूपा बृहस्पतेः (९) । नियुतो वायोः (१०) ।
 इति दशाऽऽदिष्टोपयोजनानि ॥ १५ ॥

“(१) हरी इन्द्रस्य । सोमपानादिक्रियाया साधनत्वात् ॥

(२) रोहितोऽग्नेः । नित्यपक्षे ज्वाला अग्ना व्याप्तिमत्यः ॥

(३) हरित आदित्यस्य । हरितवर्णा रश्मयः प्रातरादित्यस्य ॥

(४) रासभावश्चिनोः । अश्विमोगकाले रासभवर्णा, तत्-
कालोचितेन श्यामलेन घर्णेनायं व्यपदेशः ॥

(५) अजाः पूष्णः । अजा अजनात् । पूष्णः काले रश्मयो
गच्छन्ति ॥

(६) पृषत्यो मरुताम् । प्रावृषि सर्वतः पृषत्यो विचित्रा
मेघमाला मरुताम् ॥

(७) अरुण्यो गाव उपसः । उपसः काले तमोऽभिभवे
अरुणिमायामागन्त्यः ॥

(८) श्यायाः सधितुः । सधितुः काले श्यामवर्णा भवन्ति ॥

(९) विश्वरूपा बृहस्पतेः । ‘छन्दांसि ये विश्वरूपाणि
(शत० ब्रा० ८, ४)’—इति श्रुतेः ॥

(१०) निपुतो घायोः । “अप्प्रवृत्तौ तृणपर्णानामघादेः
सञ्चरणामिध्रणाग्रियुतः ॥”—इति स्कन्दस्वामिग्रन्थाः ॥

शब्दव्युत्पत्तिस्तावत् प्रदर्शयते—

(१) हरी । ‘हृन् हरणे (भू० उ०)’ । ‘हृपिपिरुहिधृति-
विदिछिदिकीर्त्तिभ्यश्च (उ० ४, ११५)’—इतीनप्रत्ययः । हरतो
रथम् । अथ ताण्ड्यकम्—‘पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी,
ताभ्यां द्वीदं सर्वं हरति (६, १, १)’—इति, अस्मिन् पक्षे करणे
इन् । ‘ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी’—इत्यैतरेयब्राह्मणम् (२, ३,

६) । 'ऋक्सामे वै हरी'—इति यजुर्वाह्यम् (४, ४, ३६) ।
 "इन्द्रो हरी युयजे अश्विना रथम् (ऋ० सं० २, ३, ५, १)"—
 इति निगमः ॥

(२) रोहितः । 'हृस्वह्रियुषिभ्य इतिः (उ० १, ६४)'—इति
 इतिप्रत्ययः । रोहन्ति आरोहन्ति रथं घहन्त्यादिवमिति रोहितः ।
 "रोहिदश्व शुचिघ्नत (ऋ० सं० ६, ३, ३२, १)"—इति निगमः ॥

(३) हरितः । पूर्वचत् इतिः (उ० १, ६४) । हरन्ति रथं
 तमो वा स्वभासा । यजुषा, हरिच्छब्दः पीतवर्णयवनो हरिद्वर्णो
 वा । "यदेतदयुक्ताहरितः सधस्थात् (ऋ० सं० १, ८, ७, ४)" —
 इति निगमः ॥

(४) रासभौ । 'रास्व शब्दे (भू० आ०)' । रासियहिभ्याश्च
 (उ० ३, १२१)—इत्यभच्प्रत्ययः । रासते शब्दं करोतीति
 रासभः, तौ रासभौ । 'गर्दभरथेनाश्विना उदजयताम्'—इति
 ब्राह्मणम् (पे० ब्रा० ४, २, ३) । "युजाथा रासभं रथे (ऋ० सं०
 ६, ६, ८, २)" — "तत्रासभौ नासत्या सहस्रभाजा (ऋ० सं० १,
 ८, ८, २)" —इति च निगमौ ॥

(५) अजाः । 'अज गतिशेषणयोः (भू० प०)' । पचायच्
 (३, १, १३४) । वीभावामावो व्यत्ययेन । अजन्ति गच्छन्ति
 सर्वतः क्षिपन्ति वा तमः । "अहेलमानो ररिषां अजाश्च
 ध्रुवस्यतामजाश्च (ऋ० सं० २, २, २, ४)" —इति निगमः ॥

(६) पृपत्यः । 'पृप् पृप् सेचने (भू० प०)' । 'वर्त्तमाने
 पृपन्मदत् (६, ४, ३० पा०)'—इत्यादिना सिद्धम् । 'पृपत्यः सह

सङ्गताः—इति माधवः । तदा 'सुयोगादाख्यायाम् (४, १, ४८)'—इति ङीप् । “उपो रथेषु पृथ्वात्युग्यम् (ऋ० सं० १, ३, १६, १)”—इति निगमः ॥

(७) गाथः । व्याख्याता रश्मिनामस्तु (१, ५, ३) । गन्त्रयः । “युक्ते गया मरणानामनीकम् (ऋ० सं० २, १, ६, १)”—इति निगमः ॥

(८) श्यायाः । ‘श्यैर्गर्तौ (भू० आ०)’ । कृगृशृदृभ्यो घः (उ० १, १५३)—इति बाहुलकाद् घप्रत्ययः । श्यावो धूसरादणो घर्णः, तद्वन्तोऽपि श्यावाः, ‘गुणयच्नेभ्यो मतुपो लुग्यक्तव्यः’ (१, ४, १६ पा०) । “घि जनाञ्छ्यायाः श्रितिपादो अक्षयन् (ऋ० सं० १, ३, ६, ५)”—इति निगमः ।

(९) विश्वरूपाः । नानायर्णाश्वाः । “बृहस्पतिश्च सचिता च विश्वरूपैरिहागतम्”—“बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत (ऋ० सं० २, ३, ५, १)”—इति च निगमौ ॥

(१०) नियुतः । निपूर्वात् ‘यु मिथ्रणे (अदा० प०)’—इत्यस्मात् क्तिप् । नियुवन्ति मिथ्रयन्ति तृणपर्णादीनि, आत्मानं रथेन वा । यद्वा, निपूर्वात् ‘यमु उपगमे (भू० प०)’—इत्यस्मात् ‘भृथो रुतिः (उ० १, ६१)’—इति बाहुलकात् उतिप्रत्ययष्टिलोपश्च । नियम्यन्ते सारथिना नियुतः । “नियुद्विर्वा यविष्टये दुरोणे (ऋ० सं० ५, ६, १४, ३)”—इति निगमः ॥

भ्राजते (१) । भ्राशते (२) । भ्राश्यति (३) ।
 दीदयति (४) । शोचति (५) । मन्दते (६) ।
 भन्दते (७) । रोचते (८) । द्योतते (९) ।
 ज्योतते (१०) । द्युमत् (११) । इत्येकादशज्वल-
 तिकर्माणः ॥१६॥

(१) भ्राजते । 'दु भ्राज् दीप्ती' भूयादिशास्मनेपदी । "भ्राजते
 धेणिदन् (ऋ० सं० ७, ७, २, ३)" —इति निगमः ॥

(२), (३) भ्राशते । भ्राश्यति । 'दु भ्राश्र भ्लाश्र दीप्ती'
 भूयादी आत्मनेपदीनी । 'या भ्राश्रभ्लाश्रमुक्मुक्लमुक्लसिधुदिलपः
 (३, १, ७०)' —इति पक्षे श्यन्, परस्मैपदित्वं छान्दसम् ।
 "नि तिगमानि भ्राशयन् भ्राश्यानि (ऋ० सं० ८, ६,
 २०, ५)" —इति निगमः । 'भ्राश्यति शिलाजितादीनि'
 —इति माधवः । भ्लाश्यतीति पाठान्तरम् । भ्राश्यतीति चत्
 प्रक्रिया ॥

(४) दीदयति । नैरुक्तो धातुः (निरु० १०, १६) । यद्वा,
 'दीधीद् दीप्तिदेवनयोः (अक्षा० आ०)' —इत्यस्य धकारस्य
 दकारो व्यत्ययेन, 'यहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)' —
 इति शपो लुगभाषः, परस्मैपदित्वं छान्दसम् । "यो
 अनिमो दीदयदप् स्वन्त १ : (ऋ० सं० ७, ७, २४, ४)" —
 इति निगमः ॥

(५) शोचति । 'शुच शोके' भूवादिः परस्मैपदी, दीप्त्यर्थत्वं त्यनेकार्थत्वाद्वातूनाम् । "अजस्त्रेण शोचिषा शोशु चानः (ऋ० सं० ५, २, ७, ४)" — इति निगमः ॥

(६) मन्दते । 'मदि स्तुतिमोदमदस्त्रप्रकान्तिगतिषु' अत्र दीप्त्यर्थः । भूवादिरात्मनेपदी । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(७) भन्दते । 'मदि कल्याणे सुखे च' भूवादिरात्मनेपदी दीप्त्यर्थत्वं पूर्ववत् । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(८) रोचते । 'रुच दीर्घो' चुरादिरात्मनेपदी । कथादिश्च "पि यत् सूर्यो न रोचते घृहृद्भ्यः (ऋ० सं० ५, २, ११, ४)" — इति निगमः ॥

(९) द्योतते । 'द्युत दीर्घो' भूवादिरात्मनेपदी । "अदि-द्युतत् (ऋ० सं० ४, ५, १३, ४)" — इति निगमः ॥

(१०) ज्योतते । 'युतृष्टुट् दीर्घो' भूवादिरात्मनेपदी । यकारश्छान्दसः । यद्वा, द्युतेर्विगृहीतः । 'द्युतेरिसिन्नादेश्च जः (उ० २, १०३)" — इति इसिनप्रत्यये विहितो जो बाहुल्य-कादत्रापि भवति । निगमोऽन्येषणीयः ॥

केचिदस्य स्थाने "छन्दते" — इति पठन्ति । 'छदि संवरणे' — इति चुरादिः परस्मैपदी, व्यत्ययेनात्मनेपदं टिलोपः, 'छन्द-स्युभयथा (३, ४, ११७)" — इत्यार्द्धधातुकत्वाद्वा टिलोपः । निगमदर्शनान्निर्णयः ॥

(११) द्युमत् । द्योतते द्यत्, सम्पदादित्वात् (३, ३, ६४ घा०) ङिप् । द्युस्तीति मतुण्, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६)

सकारलोपः । यद्वा, 'दिद्युः क्रोडाविजिगीषाश्चकारद्युति-
स्तुतिकान्तिगतिषु (दि० प०)'—इत्यस्मात् दीप्त्यर्थात् दिवे-
र्दीप्यतीति विचि प्रत्यये द्योतनं दिव्, ततो मतुपि 'दिव उत्
(६, १, १३१)'—इत्युत्वं दीप्तिमदित्यर्थः । समाज्ञापे यस्य
पदार्थस्य यद्वा चाचकमाख्यातं नाम च तत्सहैवान्यत्रापि पठ्यते ।
तथाहि—कान्तिकर्मसु (निघ० २, ६) उशिगादि, व्यातिकर्मसु
(निघ० २, १८) आप्नुषान इत्यादि, महधामसु (निघ० ३, ३)
षवक्षिष विचक्षसे, पश्यतिकर्मसु (निघ० ३, ११) विचर्षणि-
रित्यादि, एवमिहापि धुमदिति नामपदस्य धातुमध्ये पाठः
किञ्चित् द्योततेर्विकृतत्वादिवेश्यानेकार्थत्वात् ज्वलनार्थत्वख्याप-
नार्थम् । “धुमदमीवचातनं रक्षोहा (ऋ० सं० ५, २, १२, ६)”
—इति निगमः ॥

इत्येकादश ज्वलतिकर्माणो धातवः ॥ १६ ॥

जमत् (१) । कलमलीकिनम् (२) ।
जञ्जणाभवन् (३) । मलमलाभवन् (४) ।
अर्चिः (५) । शोचिः (६) । तपः (७) ।
तेजः (८) । हरः (९) । घृणिः (१०) ।
शृङ्गाणिः (११) । शृङ्गाणि (१२) । इत्येकादश
ज्वलतो नामधेयानि नामधेयानि ॥ १७ ॥

गौर्हेमाऽस्वरं स्वा १ः खेदय आता इयात्री
विभावरी वस्तो रद्रिः श्लोकोऽर्णोऽवनयोऽत्यो
हरो इन्द्रस्य भ्राजते जमदिति सप्तदश ॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥१॥

(१) जमत् । अत्र स्कन्दस्वामी—‘तावन्त्येवोत्तराणि जम-
दित्यादीनि ज्वलतो दीप्तिमतः सत्त्वस्य नामधेयानि’—इति ।
‘जसु धवने (भू० प०)’ । “गृणाना जमदग्निना (३, ४, ११, १८)”
—इत्यादिषु जमच्छब्द उदाहरणम् ॥

(२) कल्मलीकिनम् । ‘कल्मलीकं भवेत्’—इति माधयः ।
पृषोदरादिः, उत्तरे च । “नमस्या कल्मलीकिनं नमोमिः
(ऋ० सं० २, ७, १७, ३)”—इति निगमः ॥

(३) जङ्गनाभवन् । “अर्चिषा जङ्गनाभवन् (ऋ० सं० २,
३, ३०, ४)”—इति निगमः ॥

(४) मल्मलाभवन् । “मल्मलाभवन्तीत्यासादयामि”—इति
निगमः ॥

(५) अर्चिः । ‘अर्चं पूजायाम् (भू० प०)’ । ‘अर्चिशुचिहु-
त्पिष्टदिष्टदिभ्य इतिः (उ० २, १०१)’—इतीतिप्रत्ययः । अर्च्यन्ते
देयताद्यर्चनसाधनत्वाद्वा अर्चिरग्न्यादिज्वालादिः । “अयो दंष्ट्रो
अर्चिषा पातुधानान् (ऋ० सं० ८, ४, ५, २)”—इति निगमः ॥

(६) शोचिः । शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः (निघ० २, १६)
पूर्वसूत्रेण इतिः (उ० २, १०१) । शोचति शोचिः । “यदस्य

घातो अनुयाति शोचिः (ऋ० सं० ३, ५, ७, ५)"—
इति निगमः ॥

(७) तपः । 'तप सन्तापे (भू० प०)' । 'तप दाहे (भू० प०)'
घा । असुन् (उ० ४, १८४) । तपतीति शरीरादि । 'परा
शृणीहि तपसा यातुधानान् (ऋ० सं० ८, ४, ७, ४)"—"अग्ने
यत्ते तपस्तेन तं प्रति तपा (अथ० सं० २, १६, १)"—इति च
निगमौ ॥

(८) तेजः । 'तिज निशाने (भू० आ०)' । असुन् (उ० ४,
१८४) । निश्यति तनूकरोति तमः पापं पा । यद्वा, 'तेजं
पालने (भू० प०)' । असुन् । तेजति पालयति प्राणिनां
प्रकाशदानेन । "अग्ने यत्ते तेजस्तेन (अथ० सं० २, १६, ५)"
—इति निगमः ॥

(९) हरः । 'हृम् हरणे (भू० उ०)' । असुन् । हरति तमः ।
"अग्ने यत्ते हरस्तेन (अथ० सं० २, १६, २)"—"रक्षो हरसा
शृणीहि (ऋ० सं० ८, ४, ७, ४)"—इति च निगमौ ॥

(१०) घृणिः । 'घृणिघृणिपार्घ्विचूर्णिभूर्णि'—इति । 'घृ
क्षरणदीप्त्योः (भू० प०)'—इत्यस्मादिप्रत्यये शुणामायो निपा-
त्यते । जिघर्त्ति दीप्यते । यद्वा, 'घृणु दीप्तौ (तना० उ०)' ।
'इगुपधात् किन् (उ० ४, ११६)"—इति इप्रत्ययः । दीप्यते
घृणिः । "उप छायामिव घृणेः (ऋ० सं० ४, ५, २८, ३)"—
इति निगमः । आ घृणे सं सचायद्दे (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)"
—इति च ॥

“हृणिः”—इति केषुचित् कोशेषु दृश्यते, तद्व्युत्तम, नैगम-
काण्डे “आ घृणिः (निह० ५, ६)”—इत्यत्र, ‘ज्वलन्नामसु
कोचनामसु (निघ० २, १३) च पाठादनेकार्थत्वम्’—इति
स्कन्दसामिचचनात् ॥

(११) शृङ्गाणि । ‘शृङ्गि शब्दे’ । अत्र शृङ्गस्नानीयत्वाद्
धीतय उच्यन्ते । ‘धिञ् सेवायां (भू० उ०)’—शृ हिंसायाम्
(क्र्या० प०) । शृणातेर्ह्रस्वश्च (उ० १, १२५), गन् (१२१),
कित् (१२२), लुट् (१२४) च इति अधिक्रियते, श्रियतेर्बाहुलकात्
सम्प्रसारणादि च भवति । ‘ध्रितं हि तदाश्रितं मण्डले हिनस्ति
तत् प्रीप्तेण प्राणिनः । ‘शृङ्ग’ ध्रवतेः (निह० २, ७)’—इत्यत्र
‘आतेर्वा’—इति निर्वचनस्य पाठः अग्निवासीये व्याख्याने दृष्टः ।
‘शमु हिंसायाम्’ क्र्यादिः । अस्मात् गः, अकारस्य झकारः ।
पूर्वपदर्थः । यद्वा, द्विधातुजं, शरणाय हिंसायै गतं मस्तकादे-
रुद्धतम् उद्बुर्ध्वगतमित्यर्थः । ‘शृणातेर्ह्रस्वश्च (उ० १, १२५)’—इति
गन्प्रत्यये लुभि च रूपम् । अथवा शरणं रक्षणं तदर्थमुद्वगतं
रक्षति तत्, प्राणिनस्तस्य निष्पत्यादिना शिरसो निर्गतमिति वा
शिरःशब्दाभिर्गमेश्च शृङ्गं, शिरस आदित्याभिर्गतमित्यर्थः,
‘अस्मादादित्यः शिरः प्रजानाम्’—इति ध्रवणात् (शत० द्रा०
७, ४, १, २०) शिर उपपदे गमेर्डे शिरसः शृभावे
मकारे चोपजने रूपम् । पृषोदरादित्यात् (६, ३, १०६)
सर्वत्र रूपसिद्धिः, शृङ्गम् । तेजांसि शृङ्गाणि । “यत्र
गावो भूच्छृङ्गा अयासः (ऋ० सं० २, २, २४, ६)”—

“चि श्रुद्धिणामगिनच्छुष्मिन्द्रः (ऋ० सं० १, ३, ३, २)” —
इति च निगमो ॥

‘अध्यायपरिसमाप्तिसूचनं द्विर्वचनं, श्रुती तथा दर्शनात्’
—इति भन्न स्कन्दस्वामी । अन्यत्रापि स एव सर्वत्र । यदुवा,
द्विचरुक्तपदस्य शब्दशास्त्रे ‘तस्य परमाधेदितम् (८, १, २)’—
इति महासप्तज्ञाकरणस्य प्रयोजनं घर्णितम् ‘अन्यर्थसङ्ख्यानम्,
भास्त्रेद्व्यते अधिकमुच्यते (८, १, २ भा०)’—इति, तेनैवजातीय-
कद्विचर्वचना जायन्ते इति शब्दचिदो विराञ्चक्रुः । यथा—
‘आहोदर्शनीयाहोदर्शनीय (महा० भा०)’—इति ॥

इति भन्निगोत्रस्य देवराजयज्यनः हते नैघण्टुकफाण्ड-
निर्वचने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।



“कर्मनामान्युत्तराणि (निरु० ३, १)” — इति भाष्ये स्यन्द-
स्वामी ‘इषष्टककर्मसम्बन्धादाह कर्मनामान्युत्तराण्येव षड्-
विंशतिः अपः अन्नः’ इत्यादीनि । क्रियते इति कर्म ।
अनाश्रितविशेषाणां कर्मणां नामधेयानि, सति साधारण्येऽसाधा-
रणानि च निर्णेतव्यानि, धाक्यार्थपरत्वात्” — इति ॥

- अपः (१) । अन्नः (२) । दंसः (३) ।
वेपः (४) । वेपः (५) । विण्ट्वी (६) ।
अतम् (७) । कर्वरम् (८) । शक्म (९) ।
क्रतुः (१०) करुणम् (११) । करणानि (१२) ।
करांसि (१३) । करन्ती (१४) । करिक्त् (१५) ।
चक्त् (१६) । कर्त्वम् (१७) । कर्त्तौः (१८) ।
कर्त्तव्ये (१९) । कृत्वी (२०) । धीः (२१) ।
शची (२२) । शमी (२३) । क्षिमी (२४) ।

शक्तिः (२५) । शिल्पम् । (२६) इति षड्विं-
शतिः कर्मनामानि ॥१॥

(१) अयः । (२) अयः । 'आप्ल व्याप्ती (स्वा० प०)' ।
'आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो जुद् च घा (उ० ४, २०२)'—इत्यसुत्
विकल्पेन जुडागमश्च । आप्नुवन्ति हि सत्कर्तारम् आप्नोति घा
तान् फलरूपेण । "इन्द्रं सोमेभिस्तदपो धो अस्तु (ऋ० सं० २,
६, १४, ५)"—"ते सीमगं धीरचतुर्गोमदमः (ऋ० सं० ७, ८,
११, ३)"—इति च निगमो ॥

(३) दंसः । 'दसि दंसनदर्शनयोः' चुरादिरात्मनेपदी, असुत्
(उ० ४, १८४) । दर्शयति हि सत्कर्तारणेन, दृश्यते दृष्टिभि-
रिति घा । अथवा, 'दसि मोक्षणे' चुरादिः परस्मैपदी, असुत्
(उ० ४, १८४) । दंसयति मोक्षयति पाप्मनः पुण्यं संसारादा-
पदो घा । यथा, 'तसु उपक्षये दसु च (दि० प०)' अत्रान्तर्गो-
तप्यर्थः । कर्मण्यसुनि यादुलकान्मुम् । उपक्षिपयित्वा हि
तदन्तर्गतमित्यर्थः । "दसस्य चारतममस्ति दंसः (ऋ० सं०
१, ५, २, २)"—इति निगमः ॥

(४) वेपः । 'विप्ल व्याप्ती (जु० उ०)' पलायच् (३, १,
१३४) । वेवेष्टि व्याप्नोति कर्तृन्, ध्याप्तं विमृशते घा । यदुवा,
'वेवेष्टि'—इत्यतिकर्मसु (निघ० २, ८,) पठ्यते । परिवेवेष्टि
भीजयति स्वफलं कर्तृन् । "कर्मणेष्वां वेपाय (य० घा० सं०
१, ६)"—इति निगमः ॥

(५) वेपः । 'विपि प्रेरणार्थः'—इति माघवः । असुन् (उ० ४, १८४) । प्रेर्यन्तेऽस्मिन् कर्मकराः । यद्वा, 'वेपृ कम्पने (भू० आ०)' असुन् (उ० ४, १८४), वेपः । "स्व" वेपसा तुविजातस्तयानः (ऋ० सं० ३, ५, ११, २)"—इति निगमः ॥

(६) विष्ट्री । 'विष्ट्र व्याप्ती (जु० उ०)' । 'जृगृस्तृजागृभ्यः क्तिन् (उ० ४, ५४)'—इति यादुलकात् क्तिन् तुडागमश्च । वेप-समानार्थम् । यथादृष्टं पाठः । "विष्ट्री शमीभिः सुकृतः सुकृत्यया (ऋ० सं० ३, ४, ७, ३)"—"विष्ट्री शमी तरणित्वेन घाघतः (ऋ० सं० १, ७, २०, ४)"—इति च निगमौ । उभयत्रापि शमीति विशेषणम् ॥

(७) व्रतम् । अत्र भाष्यम् (निरु० २, १३)—'व्रतमिति कर्मनाम—वृणोतीति सतः'—इत्यादि । अत्र स्वप्नस्वामी—'व्रतमिति' कर्मनामेति । कर्त्तरि सत इति कृतव्याख्यानम् । तद् द्विविधम् । शुभमशुभं वा वृणोति नियन्नाति कर्त्तारम् । तथा च ध्रुतिः—'तै विद्याकर्मणी सम त्वारमते पूर्वप्रज्ञा च'—इति । 'इदमपीतरद् व्रतम्' शुद्धलयणस्र्यादिविषयनिवृत्तरूपं कर्म । 'एतस्मादेव' रूपसामान्यात् प्रसक्तं व्रतं निरुच्यते 'धारयतीति सतः' । 'निवृत्तिरूपो हि सङ्कल्पः, तदतिक्रम्य प्रमादात् प्रवर्त्तमानं पुण्यं धारयति'—इति । पाठोऽर्थश्च—'व्रतमिति कर्मनाम निवृत्तिकर्म धारयतीति सतः (निरु० २, १३)'—इति । व्रतं कर्मोच्यते । कस्मान् ? धारयते तद्धि सङ्कल्पपूर्वकं प्रवृत्तिरूप-मग्निहोत्रादिकर्मप्रत्यवायं धारयतीति पुण्यः प्रवर्त्तमानो निवर्त्तमा-

नश्च व्रतेनाभिसम्यन्धस्तेनाव्रतेन निवार्यत इति व्रतस्यैव प्राधान्यात् हेतुकर्तृत्वेन विवक्ष्यते । भोजनमपि व्रतं भुधादि-
निवारणात् । वृणोतेर्धातोः (स्वा० उ०) 'पृपिरञ्जिभ्यां कित्
(उ० ३, १०८)'—इति विधीयमानोऽतच्छत्ययो बाहुलकाद्
भवति किच्चाद् गुणाभावः, यणादेशः । 'वार्यतेर्घा तत्'—
इत्यत्र लुगिति लुगपि बाहुलकात् । 'व्रते'—इति श्रीभोजदेवः—
इति क्षीरस्वामी । व्रत्यते घर्ज्यते सर्वभोगोऽनेति सुबोधिनीकारः ।
व्रतेर्धातोः 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'—इति
घप्रत्ययः । घतिश्च घर्जनार्थः । "अथा घयमादित्यव्रते तव
(ऋ० सं० १, २, १५, ५)"—"ब्राह्मणा व्रतचारिणः (ऋ०
सं० ५, ७, ३, १)"—इति च निगमौ । "अग्रे व्रतपते
व्रतं चरिष्यामि (य० घा० सं० १, ५)"---इत्यादौ व्रतशब्दे
निवृत्तिकर्मता ॥

(८) कर्षयम् । कर्षतेर्धातोः (भू० ष०) 'पुंसि सञ्ज्ञायां
घः प्रायेण (३, ३, ११८)'—इति घप्रत्ययः, कर्षयम् । 'कृ
विशेषे (तुदा० ष०)' 'हृम् हिंसायाम् (स्वा० उ०)' । 'कृगृशृ-
वृध्यतिभ्यः ष्वरच् (उ० २, ११४)' । किरति फलं, कीर्ष्यतेऽस्मिन्
पात्रादीति घा, दिनस्ति तत् शुभं पुरुषभावमशुभं पुण्यम् । "अत
इनोपि कर्षरा पुरुणि (ऋ० सं० ८, ७, २, २)"---इति निगमः ॥

(९) शक्यम् । 'शक्ल् शक्ती (दि० उ०)' । 'अशिश्किभ्यां
छन्दसि (उ० ४, १४२)'—इति मनिप्रत्ययः । शक्यते अनेना-
भिमतं प्राप्तुं, शक्नोतीत्यर्थं साधयितुं घा, शक्यते कर्तुमिति घा ।

“मध्याकूर्त्तोर्यघाच्छ्रम धीरः (ऋ० सं० २, ८, २, ४)”—इति निगमः ॥

(१०) क्तुः । करोतेः (भू० उ०) ‘कृजः क्तुः (उ० १, ७४)’—इति क्तुप्रत्ययः । क्रियते द्विजातिभिः । “क्तुं दधिका अनु सन्तवीत्वत् (ऋ० सं० ३, ७, १४, ४)”—“शतक्रतो मादयस्वा सुतेषु (ऋ० सं० ४, ७, १३, ५)”—इति च निगमौ ॥

(११) करणम् । ‘कृ विशेपे (तुदा० प०)’ ‘कृज् हिंसायाम् (स्वा० उ०)’ । ‘कृदृदारिम्य उनन् (उ० ३, ५०)’ । कर्षरेण समानार्थम् । “स विश्वस्य करणस्येश एकः (ऋ० सं० १, ७, ६, २)”—इति निगमः ॥

(१२) करणानि । करोतेः ‘युच् बहुलम् (उ० २, ७४)’—इति युच् क्रियते ल्युट् घा । करणं साधनमिति प्राप्ते जसि पाठो यथादृष्टम् । ‘कर्मवाचि करणमाद्युदात्तम्’—इति माघघः । “प्र ते पूर्वाणि करणानि घोचम् (ऋ० सं० ४, १, ३०, १)”—“प्र ते पूर्वाणि करणानि विप्र (ऋ० सं० ३, ६, २, ५)”—इति च निगमौ ॥

(१३) करांसि । करोतेरसुन् (उ० ४, १८४) । ‘भूतेऽपि दृश्यन्ते (३, ३, २)’—इति भूते घा भविष्यति घा । अर्थः पूर्ववत् । ‘करांसीति कृतानि स्युः क्रियमाणानि केचन’—इति माघघः । “आविद्धाँवाह विदुषे करांसि (ऋ० सं० ३, ६, २, ५)”—इति निगमः ॥

(१४) करन्ती । ‘कृज् करणे’ भूवादिः (उ०) । शतरि टीप् । करणमभिमतं कर्तुः । यथादृष्टं पाठः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१५) करिकत् । 'दात्रर्त्ति दूर्धर्त्ति दूर्धर्वि (७, ४, ६५)'—इत्यादि सूत्रेण छन्दोविषयेण करोतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि नुम्त्वाभावोऽभ्यासस्य रिगागमोऽपि निपात्यते । अत्र न्यासः—'यणादेशो ह्यन्ते अनृकारान्तत्वादङ्गस्याभ्यासस्य रिगागमो न प्राप्नोतीति सोऽपि निपात्यत इति । पुनः पुनः करोतीष्टप्राप्तिमनिवाञ्छ । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) चक्रत् । 'हृञ् करणे' भूवादिः (३०) । शतृ । 'ब्रुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२, ४, ७५)'—बहुलञ्छन्दसि (२, ४, ७६)'—इति शपः श्लुर्द्विवचनादिः यणादेशः । करोत्यभीष्टम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥ केयुचित् कोशेषु चक्रतुरिति दृष्टम्, निगमदर्शनाभिर्णयः । अस्य स्थाने चर्हृत्यमिति माधवीये दृष्टम् । "चर्हृत्यानि कृण्वतः (ऋ० सं० ३, ६, ७, १३)"—इत्यत्र 'कर्माणि चर्हृत्यानि'—इति भाष्यञ्च ॥

(१७) कर्त्तव्यम् । करोतेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति वन्प्रत्ययः क्रियते । यद्वा, 'हृत्यार्थे' तथैकेकेत्यत्वनः (३, ४, १४)'—इति त्यन्प्रत्ययः, हृत्यार्थत्वं भावकर्म । "तद्देवानां दैवतमाय कर्त्तव्यम् (ऋ० सं० २, ७, १, ३)"—इति निगमः । अत्र स्कन्दस्वामिभाष्यम्—'कर्त्तव्यमिति कर्मनाम'—इति ॥

(१८) कर्त्तव्यः । करोतेः 'सितनिगमिमस्तिस्वयविध्राक्षक्रुशिभ्यस्तुन् (३० १, ६७)'—इति बाहुलकात् तुन्प्रत्ययः । अर्थः पूर्ववत् । पष्ठयेयकवचनस्य पाठो यथादृष्टम् । "मध्याकर्त्तव्यितं

सञ्जमार (ऋ० सं० १, ८, ७, ४)" — "मध्याकर्त्तोर्यथाच्छुभम
धीरः (ऋ० सं० २, ८, २, ४)" — इति च निगमौ ॥ .

(१६) कर्त्तव्ये । करोते: 'हृत्पार्थ तवैकेकेन्यत्वनः (३, ४, १४)'
— इति तवैप्रत्ययः । 'कुन्मेजन्तः (१, १, ३६)' — इत्यथ्ययत्वम् ।
निगमोऽन्येषणीयः ॥

(२०) कृत्वी । करोते: 'पः किञ्च (उ० १, ६८)' — इति
विधीयमानस्तुप्रत्ययो याहुलकाद् भवति । क्रियते कृत्तु ।
'शिल्पाद्यन्ये कृत्तुर्यकम्' — इत्यत्र माधवेतापि कर्मनामस्तु
पठितः । 'ध्रुपां सुलुक् (७, १, ३६)' — इत्यत्र 'इयाडियाजी-
काराणामुपलङ्घ्यानम् (७, १, ३६ था०)' — इति विभक्तेरीका-
रादेशः । "त्वं रथ मेतशं कृत्तव्ये धने (ऋ० सं० १, ४, १८, १)"
— इति निगमः । अत्र स्कन्दस्याभिभाष्यम् — 'कृत्वीति कर्मनाम,
कर्मणि धने निमित्ते धनार्थं यत् कर्मेत्यर्थः । कर्मात्र संश्रमः
संग्रामार्थमाजिः स्यात्' — इति । "कृत्वी क्षयर्णामद्विषस्यते
(ऋ० सं० ७, ६, २३, २)" — इत्यत्र तु त्वान्तं तथा स्कन्दस्याभिभा-
ष्याद्यातत्त्वान् ॥

(२१) धीः । 'धृम् आधारे' दिवादिः (उ०) । धारयति
कर्त्तारं फलप्रदानेन । यदुवा, दधाते: किपि 'धुमास्थागापाज-
हातिसां हलि (६, ४, ६६)' — इतीत्ये रूपम् । इत्यञ्च किप्लो-
पेऽपि । धारयति कर्त्तारमिति पूर्वपदं ददाति या फलं धीः
कर्म । 'दधातेर्निहितं द्रव्येषु तन्' — इति माधवः । यदुवा,
ध्यायते: सम्प्रसारणत्ये किपि रूपम् । ध्यायते चिन्त्यते

कर्तुमिरेवं कर्त्तव्यमिति । “धियं धियं सीपधाति प्र पूषा (ऋ० सं० ४, ८, ६, ३)”—इति निगमः ॥

(२२) शची । ‘शच व्यक्तायां घाचि’ भूषादिरात्मनेपदी । ‘इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)’ । ‘कृदिकारात् (४, १, ४ घा०)’—इति डीप् । शचन्ते व्यक्ता घाचः कुर्यन्त्यस्यामिति शची । क्षीरस्वामी तु ‘शचति शची, शच श्यच गतौ’—इति व्याक्यत् । गत्यर्थः शचिर्धातुपाठे न दृष्टः । “यश्च वैचयन्त मचयः शचीभिः (ऋ० सं० ५, ५, १६, ४)”—इति निगमः ॥

(२३) शमी । ‘शम् उपशमे (वि० प०)’ अस्मात् इन्, डीप् च पूर्वघत् । शम्यत्यनयाऽनिष्टानि । णिजन्ताद्वा पूर्वघत् इन्—डीपौ । शमयत्यनिष्टव्याध्यादीनि । “शमीमदुर्मखस्य घा (ऋ० सं० ६, ५, २६, ४)”—इति निगमः ॥

(२४) शिमी । शमतेः पूर्वघन्निर्वाहोऽर्थश्च । बाहुलकादकारस्येकारः । शक्नोतेर्वा ककारस्य मकारः, अकारस्येकारश्च शक्नोत्यनेन समानार्थः । “धुनिः शमीघाऽछरुमा ऋजीपी (ऋ० सं० ८, ४, १४, ५)”—इति निगमः ॥

(२५) शक्तिः । शक्नोतेः ‘स्त्रियां क्तिन् (३, ३, ६४)’ । शक्यते कर्त्तुं शक्यते घानया परलोकं जेतुम् । “अजीजनच्छक्तिभीरो-दमिग्राम् (ऋ० सं० ८, ४, ११, ५)”—इति निगमः ॥

(२६) शिल्पम् । ‘शील उपधारणे’ चुरादिः (प०), ‘शील समाधौ’ भूयादिः (प०) । अनयोः ‘स्त्र्यप्शिल्पश्च्यवाप्परूप-सर्पतल्पाः (उ० ३, १६)’—इति षप्रत्यये णिलोपे (६, ४, ५१) च

उपधाया ह्रस्वत्वं निपात्यते । शील्यति शीलतीति घा शिल्पम् ।
 'यत् कुम्भकारादि कर्म'—इत्युणादिवृत्तिः । शील्यन्ति पुनः
 पुनरभ्यस्यन्ति तदिति शिल्पम् । यद्वा, शिनोति कर्तारं तनूकरोति
 दुष्करत्वेनातिक्लेशकरत्वादिति निपातनाद्वृत्तिः । 'शिम्
 निशाने (स्वा० उ०)' 'निशानं तनूकरणम्'—इति न्युयोधिनीकारः ।
 "पत्ते शिल्पं कश्यप रोचनायत् (अथ० सं० १३, ३, १०)"—
 "दियः शिल्पमयन्तम्"—इति च निगमा ॥

इति पञ्चविंशतिः कर्मनामानि ॥ १ ॥

तुक् (१) । तोकम् (२) । तनयः (३) ।
 तोक्म (४) । तम्म (५) । शेषः (६) ।
 अन्नः (७) । गयः (८) । जाः (९) ।
 अपत्यम् (१०) । यहुः (११) । सूनुः (१२) ।
 नपात् (१३) । प्रजा (१४) । वोजम् (१५) ।
 इति पञ्चदशापत्यनामानि ॥ २ ॥

(१) तुक् । 'तुज हिसायाम् (भू० प०)'—किप् तोजति
 हिनस्ति मातापितरौ गर्भवासादिना । तथाच मन्त्रः—'यद्वा
 पिपेय मातरं पितरं पुत्रः'—इत्यादिः । 'तुजिर्णेत्यर्थः प्रेरणा-
 थंश्च'—इति माधवः । किप् । गच्छत्यनेन पितृलोपं पिता,
 गच्छत्यनेनानृप्यं पितृभ्य इति घा, प्रेर्यते प्रसवकाले घायुनापि

चा । यद्वा, 'प्लुच प्रसादे (भू० आ०)' क्प्, पृषोदरादित्वात्
सकारलोपः । प्रसाद्यन्तेऽनेन पिता चा । "तुचे तु नो भवन्तु
वरिषोविदः (ऋ० सं० ६, २, ३३, ४)"—"तुचे तनाय
सत्सु नो (ऋ० सं० ६, १, २८, ३)"—इति च निगमौ ।
उभयत्र चतुर्थी ।

(२) तोकम् । 'तुद व्यथने (तुदा० प०)' पुंसि सञ्ज्ञार्था
यः (३, ३, ११८) 'पृषोदरादित्वात्' इकारस्य ककारः । तुदतेऽनेन
माता गर्भधासकाले, तुद्यते व्याध्यादिभिरिति चा । यद्वा,
'प्लुच स्तुतौ (भू० आ०)' 'हृदाधारार्चिकलिभ्यः कः (उ० ३, ३८)'
—इति घाडुलकात् कप्रत्ययः, सलोपश्च स्तूयते तोकम् ।
तथाच हरिश्चन्द्रोपाख्याने "ऋणमस्मिन्सन्नयत्यमृततथं च गच्छति
(ऐ० ब्रा० ७, ३, १)"—इत्यादिभिर्गाथाभिः प्रशस्यते पुत्रः ।
यद्वा, 'तु'—इति सौप्रो घातुर्बुद्धयर्थः, कप्रत्ययः पूर्वघट् ।
चर्द्धते हि सत्, पदुर्ध्वयते वा मातापितृभ्याम् । यद्वा,
सर्वेभ्य एव घातुभ्यो घञि रूपम्, अर्थश्च स एव ।
तुदेस्तु ककारो घाडुलकात् प्लुचेः सकारलोपश्च । "मा
नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः (ऋ० सं० ५, ४, १३, ३)"—इति
निगमः ॥

(३) तनयः । 'तनु विस्तारे (तना० प०)' 'घलिमलितनिभ्यः
कयन् (उ० ४, ६७),—इति कयन्प्रत्ययः । कुलं तनोति विस्ता-
रयति । "मा नस्तोके तनये मा न आयौ (ऋ० सं० १, ८, ६, ३)"
—इति निगमः ॥

(४) तोयम् । तुजे, स्तुचे, तनते, तुद्यतेर्वा मनिनि (उ० ४, १४०) ककारोऽन्तादेशः, तवतेः कुगागमः पृषोदरादित्यात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५) तयम् । तक्तेर्गतिकर्मणः (निघ० २, १४) मनिन् (उ० ४, १४०), तुचेर्गत्यर्थाद्भ्यां मनिन् (उ० ४, १४०), अस्थमुफारस्य (६, ३, १०६) । पूर्वेण तुचा समानार्थः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) शेषः । 'शिष सर्वोपभोगे' क्षुरादिभूवादिश्च (५०), असुन् (उ० ४, १८४) । त्रियमाणे पितरि कुलसन्तानार्थं परिशेषयति, परिशिष्यते वा पित्रादिभिः सह न त्रियते स्वयमयतिष्ठने, इत्यर्थः । यद्वा, 'शिष्व विशेषणे' रुधादिः परस्मैपदी, असुन् (उ० ४, १८४) । विशिष्यते पित्राद्यात्मनोऽतिशयितं करोति हि पित्रादिभिः । 'पुनातु पित्रा प्रजा मे पतच्छेयसीमात्मनः कुलते'—इति ब्राह्मणम् । तथा 'पुत्रमेवैकमिच्छन्त्यात्मनो गुणवन्तरम्'—इति महाभारतम् । यद्वा, 'शिष हिंसार्थः' भूवादिः परस्मैपदी, शेषति हिनस्ति मातापितरौ । 'यदा पिपेय'—इति मन्त्रः पूर्वंमेव दर्शितः । "न शेषे धाम्ने अन्यजातमस्ति (ऋ० सं० ५, २, ६, २)"—२—"मा शेषमा मा तनसा (ऋ० सं० ४, ४, ८, ४)"—इति च निगमो ॥

(७) धनः । धर्मनामसु व्याख्यातम् (२, १) पादुलकादपत्येऽपि भवति । 'धाप्नोतेहंमध्य नुद्वा'—इति भोजराजेन

कर्माख्याग्रहणं न कृतम् । आप्नोत्यनेन सर्वान्, कामान् पिता,
आप्यते धा महता पुण्येन “यच्चित्रमप्य उपसो घहन्ति (ऋ०
सं० १, ८, ४, ५)” । ‘आप्यम् घनम्’—इति माधवः, अपत्यं
भवितुमर्हति ॥

(८) गयः । गमेः अग्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)’—इति
यक्प्रत्ययान्तो निपात्यते, निपातनान्मकारलोपः । ‘गाङ् गतौ
(भू० आ०)’ अस्माद्वा यक्प्रत्यये ह्रस्वत्वम् । गतावर्थः पूर्व-
मुक्तः । गीयते स्तूयते देवभट्टारकेत्येवमादिभिः । “इन्द्रो
यस्तुभिः परि पातु नो गयम् (ऋ० सं० ८, २, १२, ३)”—इति
निगमः ॥ “गयस्फानः प्रतरणास्तु घीरु (ऋ० सं० १, ६, २२,
४)”—इति च । ‘गृहापत्ययोर्नाम’—इति हरदत्तः, ‘गृहम्’—
इति तु माधवः ॥

(९) जाः । ‘जनी प्रादुर्भावि (वि० आ०)’ ‘अन्येष्वपि
द्रश्यते (३, २, १०१)’—इत्यत्र अपिशब्दस्य सर्वोपाधिष्वभि-
चारार्थत्वात् केयलाजनेर्ङः, टाप्, जस् । जायते मातापितृभ्यां
सकाशात् । “सोमः परि ऋतुना पश्यते जाः (ऋ० सं० ७, २,
२६, ४)”—“अगमीधो रुद्र जास्तु नो भव (ऋ० सं० ५, ४, १३,
२)”—इति च निगमी ॥

(१०) अपत्यम् । अपपूर्वात् तनोतेः नञ्पूर्वात् पतेर्वा
‘अग्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)’—इति यक्प्रत्ययान्तो निपात्यते,
तनोतेष्टिलोपः । “कवेरपत्यमा दुहे (ऋ० सं० ६, ७, ३५, ३)”
—इति निगमः ॥

(११) यहुः । यातेर्हयतेश्चौरादिके मृगय्यादित्वात् (उ० १, ३६) कुप्रत्यये निपातनादूपसिद्धिः । यातः प्राप्तः पुण्यचशेन सनाम्ना ह्रयते च । 'यहुर्यातश्चाहृतश्च'—इति माधवः । "ईशानः सहस्रो यहो (ऋ० सं० १, ५, २७, ४)" —इति निगमः ।

(१२) सूनुः । 'यून् प्राणिप्रसवे (अदा० आ०)'—सुचः फित् (उ० ३, ३४)—इति नुप्रत्ययः । सूयते मात्रा । "अग्निं सूनुं सनधृतं सहस्रो जातवेदसम् (ऋ० सं० ३, १, ६, ४)" —इति निगमः ॥

(१३) नपात् । नङ्पूर्वात् पतेर्ण्यन्तात् 'यहुलमन्यभापि सप्रज्ञाच्छन्दसोः (६, ४, ५१ या०)'—इति णिलोपः । 'न भ्रातृपात् (६, ३, ७५)'—इत्यादि सूत्रेण नञः प्रकृतिमाधः । न पातयति ॥ तेन पततीत्युक्तम् । "एहि धां विमुचो नपात् (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)" —इति निगमः ॥

(१४) प्रजा । प्रपूर्वाजनेः 'उपसर्गे च सप्रज्ञायाम् (३, २, ६६)'—इति डः, टाप् । "प्रजां देवि दिदिष्टि नः (ऋ० सं० २, ७, १५, ६ ; ८, १०, २)" —इति निगमः ॥

(१५) धीजम् । 'धीज प्रजननकान्त्यसनपादनेषु' इत्यस्माद-
च्यप्रत्ययः (३, १, १३४) । तथाच भोजरार्जीये 'वियो जक्'—
इति घ्युत्पादितम् । वययोरभेदः । येति प्रजायते गच्छत्यनेना-
नृण्यं पितेति धा । अत्र क्षीरस्वामी—'धीज्यते येति धा धीजं
याजिलौफिकः'—इति । 'धीजिः स्यान् प्रेरणक्रिया'—इति
माधवः । प्रेर्यते द्विकार्यकारणाय धा धीजम् । यथा

धान्यादिवीजमुत्तरोत्तरं स्वोमिवृद्धये भवति एवमपत्यमपि
पितृणामभिवृद्धिहेतुरिति वीजमित्युच्यते । “यस्यां वीजं मनुष्या
३ वयन्ति (ऋ० सं० ८, ३, २७, २)” —इति । वीजमपत्यार्थमिति
दृष्टम् ॥

इति पञ्चदशापत्यनामानि ॥ २ ॥

मनुष्याः (१) । नरः (२) । धवाः (३) ।
जन्तवः (४) । विशाः (५) । क्षितयः (६) ।
कृष्टयः (७) । चर्पणयः (८) । नहुषः (९) ।
हरयः (१०) । मर्याः (११) । मर्त्याः (१२) ।
मर्ताः (१३) । ब्राताः (१४) । तुर्वशाः (१५) ।
द्रुह्यवः (१६) । आयवः (१७) । यदवः (१८) ।
अनवः (१९) । पूरवः (२०) । जगतः (२१) ।
तस्थुषः (२२) । पञ्चजनाः (२३) । विवस्वन्तः
(२४) । पृतनाः (२५) । इति पञ्चविंशतिर्मनु-
ष्यनामानि ॥३॥ -

(१) मनुष्याः । ‘मत्त्वा कर्माणि सीव्यन्ति (निरु० ३, ७)’
—इति भाष्यस्य स्वल्दस्वामी—‘मत्वेत्यादिना मनेः सीधेश्च
‘द्विधातुजत्वं प्रदर्शयति—‘ज्ञात्याऽनेनेदमिति साध्यसाधनभार्व

कर्माणि सीध्यन्ति सन्तिन्यन्ति, यथा पशवादयः मनस्यमानेन प्रजापतिना सृष्टाः । मनस्यतिः कस्मिन्नर्थे ? इत्याह—प्रशस्तीभावे, प्रशंसायां मत्वर्थोऽयं, प्रशस्तं मनः प्रसन्नं सत्वप्राधान्यात् अतः प्रसन्नमनस्येज सृष्टा इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—
'स पितृन् सृष्ट्वा मनस्यदनुः मनुष्यान्सृजत'—इति । नित्यपक्षेऽप्यसति क्षणिके कार्ये सामनेत्यं दृष्ट्वा सृष्टिका-
रणानुविधायित्वात्, कार्यस्य सा । 'मनोजातावश्यतो पुक्
च (४, १, १६१)'—इति वैयाकरणाः । जातिश्च प्रत्ययान्तो-
पाधिः । मनोरपत्यं जातिश्चेत्येतौ । अपत्यमात्रविधक्षायाम-
न्तरेण च जातिं भवति मानय इति । मनुगी भां अकारान्तमेकं
प्रातिपदिकमस्ति, अतस्तदन्तात् ध्युत्पादयति, अस्यत्प्रत्ययसन्नि-
योगेन पुनिति स्मरणान्तरं विनापि प्रत्ययेन एकारान्तप्रयोग-
दर्शनात्—'समिद्धो अथ मनुषो दुरोणे (ऋ० सं० ८, ६, ८, १)'
—इति पृगोदरादित्वात् सर्वं सिद्धम् । अत्र श्रीनिपातः—
—'मनेर्मनुः मनेरसि मनुपीति । यत् । सा चास्या मनुष्यगीः'
—इति । "स्यादां पनु मनुष्या दर्दामहि (ऋ० सं० २, ६, ३०,
४)" —"देव्याः शमितार भारमध्यमुत मनुष्याः (ऐ० ब्रा० २,
१, ६)" —इति च निगमौ ॥

(२) नरः । 'जीभ् प्रापणे (भू० उ०)' 'नयतेद्विष (उ० २,
१३)'—इति श्रुत्यर्थः, जस् । नयन्ति संसारचक्रम्, पदार्थ-
त्वात् देशान्तरं गच्छन्ति वा स्थानोत्तरफालेन । यदा 'नृती
गात्रपिक्षेने (दि० प०)' बाहुलकाद् न द्विष । नृत्यन्ति गात्र-

विशेषं कुर्वन्ते हि नियमेन गात्राणि विक्षिप्यन्ति कर्मसु तानि कुर्वन्तः । “तं त्वा नरः प्रथमं देवयन्तः (ऋ० सं० ४, ४, ३५, २)”—“त्वां घृत्रेप्यिन्द्र सत्पतिं नरः (ऋ० सं० ४, ७, २७, १)”—इति च निगमौ ॥ ;

। (३) धवाः । ‘धूम् कम्पने (स्वा० उ०)’ ‘धुम्’ घा (क्त्वा० उ०) । पचाद्यच् । धूनयति । धुनोति स्वावयवान् धवः, जस् घवाः । यद्वा, मनुष्या मृत्युतो वेपन्ते । यद्वा, ‘धातु गतिशुद्धयोः (भू० उ०)’ भस्मात् पचाद्यचि (३, १, १३४) ण्योदरादित्वात् (६, ३, १०६) ह्रस्वः । इतश्चेतः शरणार्थिनो धवन्ति घवाः । “को वां शयुत्रा विधवेव देवरम् (ऋ० सं० ७, ८, १८, २)”—इति निगमः ॥

(४) जन्तवः । ‘जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)’—‘कमिम- निजनिगाभायादिभ्यश्च (उ० १, ७०)’—इति तुप्रत्ययः । जायन्ते जन्तवः । “इरज्यज्ञाने प्रथयस्व जन्तुमिः (ऋ० सं० ८, ७, २८, ४)”—इति निगमः ॥

। (५) विशः । ‘विश प्रवेशने (तु० प०)’ क्तिप् । विशन्ति अनु प्रविशन्ति सर्वकर्मस्यधिकारित्वेन । यद्वा, अनुप्रविष्टाः आत्मीयभूराजाश्चे- ध्रिता इत्यर्थः । “विशो राजानमुपतस्युर्ऋ- ग्मियम् (ऋ० सं० ४, ५, १०, ४)”—इति निगमः ॥

(६) क्षितयः । ‘क्षि निवासगत्योः (तु० प०)’ ‘किन्क्ती च सभ्रजायाम् (३, ३, १७४)’—इति क्तिच् । ‘क्षियन्ति’ निवसन्ति भूमौ गच्छन्ति घा तस्याम् । “अनु क्रोशन्ति क्षिनयो मरेषु (ऋ० सं० ३, ७, ११, ५)”—इति निगमः ॥

(७) कृष्टयः । 'कृष्टं चिलेखने (भू० प०)' भावे कः ।
 कर्षणं कृष्टम् । कर्षेण कर्मविशेषेण चात्र सामान्यतः कर्ममात्रं
 नश्यते, कृष्टं कर्म, तदस्यास्तीति 'लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः
 (४, ४, १२८ घा०)'—इति इकारप्रत्ययः । तथाच भाष्यकारः
 —'कृष्टय इति मनुष्यनाम कर्मवन्तो भवन्ति (ऋ० सं० सा० भा०
 ३, ४, ५, १)—इति । तथाच धीमगवद्गीतायाम्—'नैव कश्चित्
 क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् (म० भा० भी० प० २६ अ० ५
 श्लो०)'—इति । यद्वा, शुद्धोऽपि कृषिर्षिपूर्वस्यार्थं वर्तते ।
 कर्मणि कः । विविधं कृष्टो विश्वितपरिकण्डूयनाद्यभिलपित-
 क्रियानुष्ठानसमर्थः कः ? इत्यपेक्षायां चिरुष्टदेहत्वं कृष्टसाम-
 थ्याद्देहम्, स एवामस्तीति पूर्वपक्षमन्वर्थीयः तथाच भाष्यम्
 —'चिरुष्टदेहा घा (ऋ० सं० सा० भा० ३, ४, ५, १)'—इति ।
 'कृषन्ति प्रान्तं पदाम्ब्याम्'—इति माघवः । 'कर्षन्ति घशीकुर्वन्ति'
 —इति भट्टभास्करमिश्रः । "मित्रः कृष्टीरनिमिषामिचष्टे (ऋ०
 सं० ३, ४, ५, १)"—सयश्चिद्यः शयसा पञ्च कृष्टीः (ऋ० सं० ८,
 ८, ३६, ३)"—इति च निगमौ ॥

(८) चर्पणयः । चरणेर्घातोः (भू० प०) 'अस्तिवृद्धमवश्य-
 यितृभ्योऽनिः (उ० २, ६५)'—इति बहुल्यचनादनिप्रत्यये
 पुगागमश्च चरणवन्तः चरणशीलाः । यद्वा, 'कृपेरादेश्च चः
 (उ० २, ६७)'—इति अनिप्रत्यये कृपेरेतद्रूपम् । आकर्षन्ति
 घशीकुर्वन्ति इत्यर्थः—इति भट्टभास्करमिश्रः । यद्वा, चर्पणयः
 चायितारो द्रष्टारः सर्वेषां पदार्थानाम् । यद्यपि पश्यतिकर्मसु

(निघ० २, २) । विचर्षणि रिति पठितम्, तथापि 'पिता कुटस्य चर्षणिः (ऋ० सं० १, ३, ३३, ४)'—इत्यत्र 'चाययिता द्रष्टा'—इति स्कन्दस्वामिना व्याख्यातम् । "प्र चर्षणिभ्यः पृतनाहवेषु (ऋ० सं० १, ७, २६, १)" —"महा० इन्द्रो नृपदा चर्षणिप्राः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)" —इति च निगमौ ॥

(६) नहुषः । 'णह यन्धने (दि० उ०)' । 'जनेदसिः (उ० २, १०८)'—इति यादुलफात् उस्प्रत्यय, जस्, नहुषः । नहन्ते कर्मभिः पूर्ववृत्तैः संसारे नहन्ति वा नहनीयम् । "सचा सनेम नहुषः सुवीराः (ऋ० सं० २, १, २, ३)" —"आ यातं नहुषस्परि (ऋ० सं० ५, ८, २५, ३)" —इत्यादयो निगमाः ॥

अकारान्तमिदं नाम केषुचित् कोशेषु दृश्यते । तदा 'अन-
दिभ्यामुपन्'—इति उपन्प्रत्ययः । पूर्वघटयः । "प्रसन्नाणस्य
नहुषस्य शोषः (ऋ० सं० ४, १, ४, ६)" —इति निगमः ।

(१०) हरयः । 'हम् हरणे' भूषादिः । 'ह प्रसन्नकरणे
जुष्टोत्यादिः । 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीनप्रत्ययः ।
हरन्ति पदार्थान्, प्रसन्नाणीकियन्ते वा मृत्युनेति वा । तथाच
मृत्युपाक्यम्—'अहं प्रजाध्यापुर्गार्ताहंरामि'—इति निगमो-
ऽन्वेषणीयः ॥

(११) मर्या, (१२) मर्त्याः । 'मृद् प्राणत्यागे (तु० भा०),
अग्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययान्तं विधायते,
तुदागमस्तु विफल्पेन, गुणः । म्रियन्ते मर्याः । 'उन्दसि

निष्क्यं देवहूयप्रणीयोऽनीयोऽच्छिप्यमर्य (३, १, १२३) — इत्यादिना यत्प्रत्ययान्तं निपातितम् । “को नु मर्या अमिमितः (ऋ० सं० ६, ३, ४८, ३७)” — “मर्यायेव कन्या शश्वचै त (ऋ० सं० ३, २, १३, ५)” — “मर्यञ्च योया कृणुते सधस्थ आ (ऋ० सं० ७, ८, १८, २)” — इति निगमाः । यद्वा, ‘मृद् प्राणत्यागे (तु० आ०)’ ‘हसिस्तुमिराचामिदमित्पूधूर्विम्यस्तन् (उ० ३, ८३)’ — इति तन्प्रत्ययः । अर्थः पूर्ववत् । मर्त्तशब्दात् ‘घस्यमर्त्त यषिष्टेभ्यश्छन्दसि’ — इति स्वार्थिकस्तद्धितो यत् । “यो मर्त्येष्वमृतो मृताधा (ऋ० सं० ३, ४, १६, १)” — इति निगमः ॥

(१३) मर्त्ताः । व्याख्याताः । “मा नो मर्त्ता अभिदुहन् (ऋ० सं० १, १, १०, ५)” “तं मर्त्ता अमर्यम् (ऋ० सं० ८, ६, २५, १)” — इति च निगमी ॥

(१४) मृताः । ‘वृज् घरणे (स्वा० उ०)’ ‘तातप्रातलात तुपित्’ — इत्यादि सूत्रेण भोजराजेन कृतप्रत्यये आडागमो निपात्यते । वृण्वन्ति स्वममिमितं देवताभ्यः तपसाराधितेभ्यः प्रवियन्ते वा यथादी । यद्वा, शतो धान्यादिसञ्चयः । तद्वन्तो मृताः । मर्त्यर्थायोऽकारः । यद्वा, मृतमिति कर्मनाम (निघ० २, १) अन्नं वा । अत्रमपि मृतायैतस्मादेवेत्युक्तेः तदीयाः तस्येदम् (४, ३, १२०) — इत्यण् । ‘कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रमुच्यते’ — इत्युक्तेः कर्मणामधिकारित्वाच्च मनुष्याणां कर्मसम्यन्धित्वम् । ‘अथो अग्राद् भूतानि जायन्ते जातान्य-

न्नेन घर्द्धन्ते (तै० उ० १, २)—इति, 'अन्नात् रेतो रेतसः पुरुषः (तै० उ० १, १)'—इति च श्रुतेः मनुष्याणामन्नसम्यन्धित्वम् । “पञ्च व्राता अपस्यचः (ऋ० सं० ६, ८, ३, २)”—इति निगमः ॥

(१५) तुर्वशाः । 'तुर्वो हिंसायाम् (भू० प०)' । 'कले-रशब्'—इति यादुलकात् अशच्प्रत्ययः । भोजराजीयमिदं सूत्रम्, हिंसन्ति प्राणिनः, हिंस्यन्ते व्याध्यादिभिर्घा । यदुवा, 'तुर त्वरणहिंसनयोः (दि० आ०)' अस्मात् किपि तुर, अश्लीतेः पचाद्यच् तूर्णमश्नुयते पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वं घफारश्चोपजनः । तूस्तूर्णमश्नुते । 'प्राप्यम्'—इति माधवः । यदुवा, तुर्वशाः काम एयामिति तुर्वशाः, पूर्वपदस्य ह्रस्वधम् । 'वश कान्तौ (अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'घशिरण्योरपसङ्ख्यानम् (३, ३, ५८ घा०)'—इत्यप् । यदुवा, चतुर्षु धर्मार्थकाममोक्षेषु वश एयामिति चतुर्वशाः सन्तः चकारलोपेन तुर्वशाः । तुर्वशेष्वमन्मदि (ऋ० सं० ५, ७, ३३, ४)—इति निगमः ॥

(१६) द्रुहावः । द्रुह जिघांसायाम् (दि० प०) औणादिकः क्तिप्, द्रोहः । द्रोहं परेषामिच्छन्ति 'छन्दसि परेच्छायामपि (३, १, ८ घा०)'—इति क्वर् 'क्याच्छन्दसि (३, २, १७०)'—इत्युप्रत्ययः । परहिंसास्वयो हि प्रायेण मनुष्याः । “ध्रुष्टिं चनुर्भृगवो द्रुहावश्च (ऋ० सं० ५, २, २५, १)”—इति निगमः ॥

(१०) आययः । 'इण् गतौ (अद्वा० प०)' 'छन्दसीणः (उ० १, २)—इत्युण्प्रत्ययः । गच्छन्ति ग्रामात् ग्रामम्, गमन-
शीलाः । "यादुभ्यामग्निमायवोऽज्जनन्त (ऋ० सं० ७, ६, ६,
५)"—"आयोहं स्वस्म उपमस्य नोले (ऋ० सं० ७, ५, ३३,
६)"—इति च निगमौ । 'अन्तोदात्त आयुशद्भो मनुष्यवचन'
—इति माधवः ॥

(१८) यदवः । 'यप् उपरमे (मू० प०)' 'यमेर्दुक्—इति
श्रीमोजदेवः । 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम् (६, ४, ३७)'
—इत्यादिना अनुनासिकलोपः । यस्यते नियम्यते आचार्य्येण
अपथप्रवृत्ता, राजा वा । "यो अस्मि योऽहः पशुः (ऋ० सं०
५, ७, १६, १)"—इति निगमः । अत्र माधवः—'यदुपु भयो
याहो यदुरिति मनुष्यनाम'—इति ॥

(१९) अनवः । 'अन प्राणने (अद्वा० प०)' 'अणश्च (उ०
१, ८)'—इति विधीयमान उप्रत्ययो यादुलकात् भवति ।
अनन्त्यनवः । ज्ञानवरणादेतेषा धर्माधनुष्ठानात् प्राणनस्य
फलवत्त्वात् अनन्तीत्युच्यन्ते । इतरे पश्यादयो ज्ञानहीनत्वात्
निष्फलप्राणनाः । तथान्नोपनिषदि—'तस्य य आत्मानं विस्तरं
वेद'—इत्यत्र प्ररूपणे ज्ञानवरणात् पुरुषस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपा-
दितम् । "रोषाय विह्वनवाय"—इति निगमः । अत्र माधवः
—'अनुगिति मनुष्यनाम'—इति । "अनवस्ते ख्यमद्रवाय तदम्न
(ऋ० सं० ४, १, २६, ४)"—इति च । अत्र 'अनवः ऋभवः
ते च मनुष्याः । 'मत्तांसः सन्तो अमृतन्वमानशु (ऋ० सं०

१, ७, ३०, ४)'—इति श्रुतिः । तथा : ब्राह्मणमपि—'आर्भवं
शंसत्यभयो वै देवेषु तपसा सोमपीथ मभ्यजन् (ऐ० ब्रा० ३,
३, ५)'—इत्यादि, तेभ्यो वै देवा अपैवाभीमत्सन्त मनुष्यगन्धात्
(ऐ० ब्रा० ३, ३, ५)'—इति च ॥

(२०) पूरवः । 'पूरी आप्यायने (दि० आ०)' भृमृशी-
तुवरित्सरि (उ० १, ७)'—इत्यादिना बाहुलकात् उपत्ययः ।
पूरयितव्याः कामानां 'रूपूभ्यां कुः'—इति श्रीमोजदेवः । पूताः
शुद्धाः क्षानार्थिमिरित्यर्थः । "यं पूर्यो घृत्रहणं सचन्ते (ऋ०
सं० १, ४, २५, ६)"—इति निगमः ॥

(२१) जगतः । 'गम्लृ गती (भू० ५०)' । घर्त्तमाने
पृषद्वृहन्महज्जगच्छदृषध (उ० २, ७८)'—इति लिपप्रत्ययान्तो
निपात्यते । प्रत्ययस्यादादेशः, द्विवचनं, नञि लोपश्च निपात्यते ।
गच्छति प्रामात् प्रामान्तरम् । "यदेपामग्रं जगतामिरड्यसि
(ऋ० सं० ८, ३, ६, २)"—इति निगमः ॥

(२२) तत्पुनः । 'घा गतिनिवृत्तौ (भू० ५०)' । 'छन्दसि
लुङ्लङ्लिटः (३, ४, ६)' । 'कसुः (३, २, १०७)' । 'घस्ये-
काजादुघसाम् (७, २, ६७)'—इति इडागमः । 'धातो लोपः
(६, ४, ६४)' । 'लिटि धातोः (६, १, ८)'—इति द्वित्यम् ।
'शार्पूर्वाः सयः (७, ४, ६१)'—इति यकारस्य दोषः । 'अभ्यासे
चर्चं (८, ४, ५४)'—इति सकारः । सन्धियस् इति स्थिते
जसः स्याते ध्यत्ययेन शम् (३, १, ८५) । 'घसोः सम्प्रसार-
णम् (६, ४, १३१)' । 'शासिपसिपसीनाञ्च (८, ३, ६०)'—

इति पञ्चम् । तिष्ठन्ति स्वस्मिन् धर्मे । “चलन्तं परि तस्युषः
(श्रु० मं० १, १, ११, १)” — इति निगमः । अत्र वाजसनेय-
भाष्यश्रुत्युच्यते : ‘तस्युषो मनुष्याः ऋत्विग्यजमाना इत्यर्थः’ —
इति ॥

(१३) पञ्चजनाः । अत्र माप्यम् — ‘तत्र पञ्चजना इत्येतस्य
निगमा भवन्ति । “तद्य वाचः प्रथमं मसीय० — ० जुषध्वम्
(श्रु० सं० ८, १, १३, ४)” । तद्यवाचः परमं मसीय येनासु-
गानभिभवेम देवाः’ । असुरा असुरता स्थानेष्वस्तास्थानेष्य इति
यापि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः ।
सोर्देधानद्युजत तत्सुराणां सुरत्वमसौरसुराणस्युजत तदसुराणा-
मसुरत्वमिति विज्ञायते । ‘ऊर्जाद उत यज्ञियासः’ । अन्नादाश्च
यमियाधोर्गित्यन्ननामोर्जयतीति सतः पक्षं सु प्रवृण्वन्मिति वा ॥
‘पञ्चजना मम होत्र जुषध्वम्’ । गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा
रक्षांसीत्येके, चत्वारो घणाः निपादः पञ्चमः । द्यौपमन्यवः ।
निपादः कस्मात् ? निषदनो भवति नियण्वन्मस्मिन् पापकमिति
नैरुक्ता । “यन् पाञ्चजन्यया विशा (श्रु० सं० ६, ४, ४३, १)” ।
पञ्चजनीनया विशा, पञ्च पृक्ता सङ्ख्या लिङ्गत्रययोगेऽप्यधिशिष्टा
(निघ० ३, ७, ८) — इति । अस्य स्कन्दस्वामी — ‘पञ्चजना इत्येतस्य
सन्दिग्धस्य विवेकार्थं’ निगमा भवन्ति सन्देहश्च मनुष्यनामसु
पाठात् पञ्चशब्देन समानाधिकरणः । तत्र यदि देवदत्तादिपञ्चक-
विषयः स्यात्, गन्धर्वादिपञ्चकविषयो वा, न मनुष्यमात्रनामविष-
यतात्र स्यात्, मनुष्यमात्रनामैतदित्याचार्य्यमतान्तरप्रदर्शनाय

पदद्वयनिर्देशमनुप्यपदार्थं वर्त्तते इति वैचित्र्यप्रदर्शनार्थं उपन्यासः ।
 न मनुप्यनामत्वेन च द्रष्टव्यः । एकीयमतेन चाष्टौ देवताया
 उच्यन्ते । तत्र पक्षे नागानां गन्धर्वेषु, यक्षाणामसुरेषु, पिशाचानां
 रक्षस्वन्तर्भावद्रष्टव्याविरोधात् । तदद्य वाचः । सौचीकस्याग्ने
 विश्वेषां देवानां संघादौ होतृजपश्चायम् । तद् अद्य अस्मिन्
 कर्मणि वाचो माध्यमिकायाः प्रथममुत्कृष्टं स्वरसौष्टवार्थसदन-
 त्वदेवताविशिष्टं मसीय जानीय । येन अज्ञानेन असुरा यज्ञविघ्नं
 कुर्वन्तः, हे देवाः ! अद्य तानभिभवेम । हे ऊर्जादः ! उत अपि
 यज्ञियासः यज्ञस्य सम्पादयितारः पञ्चजनाः आचार्य्यमतेन ऋत्वि-
 ज्ञानुप्याः । यमत्र्यवस्थपतीष्टौ निपादानां यज्ञसम्पादित्यमस्ति,
 शूद्रस्याज्योदनसवे, 'आयुरसीति शूद्राय प्रयच्छति, तत्ते प्रयच्छा-
 मीति शूद्रः प्रतिशृङ्गाति'—इत्येषमादिना । तथा 'वासी पिनष्टि
 पक्षी दैत्यत्र दास्यादेव्यापारादप्येवं यज्ञसम्पादित्यमेकीयमतेन ।
 पञ्च यज्ञाङ्गभूता देवगन्धर्वादयः साधनभावेन यज्ञसम्पादिनः ।
 अत उच्यते—'मम होत्रं जुषध्वम्' । होतृकर्म जुषध्वम् सम्पाद-
 यतेत्यर्थः । अन्ये मन्यन्ते—यदेकीयमतं यथौपमन्यपस्य तदु-
 भयमप्याचार्य्यम्येति । तथा च मन्त्रव्याख्यानम्—पञ्चजातयो
 ग्राहणादयो यज्ञियाः गन्धर्वादयः सर्वेऽपि होतुः सङ्ग्येन व्यापा-
 रेण सेव्यध्वमिति समग्रत्ययासाधारणं मनुप्यमात्रनामत्वेनैष
 निगमं दर्शयति 'यम् पाञ्चजन्यया पिशा' । प्रगाथप्याग्म् ।
 यत् यदा पाञ्चजन्यया पञ्चजनेषु मनुप्येषु भवया विदीयति
 पञ्चमिरपि मनुप्यजातेरित्यर्थः—इत्यादि । पञ्चेति नित्याच्यम्

पृक्तेति निर्यचनम् । सङ्ख्येति विषयकथनं सम्यन्धवत्
सर्वलिङ्गे रित्याह—‘लिङ्गत्रययोगेऽप्यवशिष्टा’—इति । ननु
पञ्चार्दान्यप्यवशिष्टानि ? उच्यते—प्रत्ययोपात्तरूपसम्यन्धस्यार्था-
भिधानाददोष इत्युक्तम् । अपि च या पृक्ता सा पञ्चेति किन्तु
यो पञ्च सा पृक्तेति तदन्यत्र एकपदनिस्तकव्याख्यानम्, यत् पञ्च-
जन्ययेत्यस्य द्वितीयपादादिव्याख्यानं चास्माकमग्रानुपयुक्तत्वात्
लिखितम् । ‘पृचो सम्पर्क (२० प०)’ । कनिन् युष्टुपि (३०
१, १५४)—इत्यत्र प्राक्प्रत्ययनिर्देशस्याधिकविध्यर्थत्वात् कनिनि
धातुलभात् प्रहकारस्याकारो नकार उपजनध । भोजराजस्तु—
‘घृषितक्षिराजिघसिपचिप्रतिहिविम्पः कन्’—इत्याह, तदा ‘पचि
पिस्तारे (३० प०)’—इति धातुः । ‘एकादिभ्यो चिस्तीर्णा
पञ्चसङ्ख्या । जायन्ते जनाः । पचाद्यच् (३, १, १३४) ।
‘पञ्चभिर्मूतैर्जाताः पञ्चजनाः’—इति क्षीरस्वामी ॥

(२४) विषस्यन्तः । ‘घस निघासे (भू० प०)’ इत्यस्मान्
‘अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)’—इति चिच्, इशिग्रहणात्
भावे भवति । विविधं घसनं विचः, तद्वयन्तो विचस्यन्तः । सर्व-
स्यापि मनुष्यस्य यत् किञ्चिन् विचसनमस्ति । ‘विचस्यच्छब्द
आदित्यवाच्याद्युदात्तः, अन्यत्र मनुष्यविशेषे यजमाने द्विती-
याक्षरमुदात्तम्’—इति माधवः । “आविर्मव सूक्तरूपा विचस्यते
(ऋ० सं० १, २, ३२, ३)”—“शिवो दूतो विचस्यतः (ऋ०
सं० ६, ३, २२, ३)”—इति च निगमौ । अत्र विचस्यान्
यजमानः—इति माधवभाष्यम् । ‘महो जाया विचस्यतोय

नाश (ऋ० सू० ७, ६, २३, २५) —इत्यादित्यवचनस्योदाहरणम् ॥

(२५) पृतनाः । 'पृइ व्याग्रामे (नु० आ०)' । "त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेयम् (ऋ० सू० ८, ७, १५, १)" —इति निगमः ॥

मनुष्याणां बहुत्वं, ततो बहुवचनास्तत्त्वम्, तथा निघण्टु-
ष्वपि । 'मनुष्या मानुषा मत्स्या मनुजा मानवा नराः । स्यु'
पुमांसः पञ्चजनाः पुरपाः पूरपा विराः ॥ (अम० को० २, ६, १)'
—इत्यादिषु च बहुवचनान्तता दृश्यते ॥

इति पञ्चविंशतिर्मेनुप्यनामानि ॥ २५ ॥

आयती (१) । च्यवाना (२) । अभीशु (३) ।
अप्त्रवाना (४) । विनङ्गुसौ (५) । गभस्ती (६) ।
करस्रौ (७) । बाहू (८) । भुरिजौ (९) ।
क्षिपस्ती (१०) । शक्रवरी (११) । भरित्रे (१२) ।
इति द्वादश बाहुनामानि ॥ ४ ॥

(१) आयती । 'यती प्रयत्ने (भू० आ०)' गतिकर्मा वा
(निघ० २, १४) —'इन् सर्वधानुम्यः (४, ११४ उ०)' —
इतीनप्रत्ययः । मामिमुप्येन यतते कार्येषु, गच्छन्तां वा
साधनत्वम् । बाह्वोर्द्वित्यान् सर्वत्र द्विवचनान्तता ।
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२) च्यवाना । 'च्युद् गतो (भू० आ०)' । 'सम्यानच्चे
स्तुव. (३० २, ८३)'—इत्यत्र प्राक्प्रत्ययनिर्देशोऽधिकविध्यर्थं
इत्युक्तेरानच्प्रत्ययः । 'सुपां सुलुक् (७, १, ३६)'—इत्यादिना
द्विवचनस्याकारः । गच्छतः कर्मणामन्तः । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(३) अमीशु । व्याख्यातो रश्मिनामसु । (१ अ० ५ प०) ।
अभ्यणुवाते कर्माणि अभिनयन्तो वा कर्माण्यतः अमीशते
कर्माणि कर्तुमिति वा । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(४) अप्रयाना । 'आप्ल व्यातो (स्वा० प०)' । 'ताच्छी-
त्यययोपचनशक्तिषु चानश् (३, २, १२६)' अस्य सार्वधातुकत्वात्
शुः, 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इत्यार्द्धधातुकत्वात् गुणः,
धातोर्ह्रस्वत्वं पृषोदरादित्यात् (६, ३, १०६) । आप्लुतः कर्माणि ।
यद्वा, अप्र इति कर्मणामसु व्याख्यातम्, (२ अ० १ प०) तदस्यास्ति
'छन्दसीयनिषी (५, २, १२२ पा०)'—इति यनिषि विभक्तेराकारः
पूर्वपदं, सकाग्लोपश्छान्दसः । कर्मवन्तो हि याह ।
नकारान्तो वेति सन्देहः । निगमदर्शनाधिर्णयः ॥

(५) विनद्गृसी । याहुनाम । विनम्य प्रसतोऽन्नादिकर्मित
माधयः । पृषोदरादित्यात् (६, ३, १०६) पूर्वपदे म्यलोपोलुक्,
'प्रस धदने (भू० आ०)'—इत्यस्मात् पचायच् (३, १, १३४),
सम्प्रसारणञ्च । 'अन्यस्मै जोषममरद्दिनद्गृसः (अ० सं० ७, २,
२७३)'—इति निगमः ॥

(६) गभस्ती । व्याख्यातो रश्मिनामासु । (१ अ० ५ प०)
पुण्या अदन्त्याभ्यामन्नादीन् । 'ग्रहेर्गभस्ती याह, गृह्णाति

पदार्थानाम्ब्यां 'पुरुषः'—इति माधवः । “शर्ष्याभिर्न भरमाणो
गमस्त्योः (ऋ० सं० ७, ५, २२, ५)”—इति निगमः ॥

(७) करस्त्री । करांसीति कर्मनामसु कश्चिद्बन्धो व्याख्यातः ।
तस्मिन् कर्मण्युपपदे 'ज्जो वेष्टने (भू० प०)'—इत्यस्मात् 'आतोऽनु'
पसर्गो कः (३, २, ३) 'आतो' लोप इटि च (६, ४, ६४) ।
'कर्मणां प्रज्ञातारो (निघ० ६, १७) वेष्टयितारो कर्मकरादित्यर्थः ।
“ह्रस्वकरस्त्रमतये (ऋ० सं० ६, ३, २, ५)”—इति निगमः ॥

(८) वाह । 'वाधु लोडने (भू० आ०)' । 'अर्जिद्वशिकम्यमि-
पतिवाधामृजिपशितुकधुक्दीर्घहकारश्च (उ० १, २६)'—
इत्युप्रत्ययो होऽन्तादेशश्च । गमयत्याम्ब्यां, कर्माणि, वाधते
परानाम्ब्यामिति वा । “ऋष्यात इन्द्र स्थविरस्य वाह (ऋ० सं०
४, ७, ३१, ३)”—इति निगमः ।

(९) भुरिजी । 'हृप् हरणे (भू० उ०)' 'डु भृज् धारण-
पोषणयोः (जु० उ०)', 'भृज उच्च (उ० २, ७१)'—इति इजिप्रत्ययः ।
हरतो विभृतो वा पदार्थान् कथंकरणसामर्थ्यं वा । “तमहान्
भुरिजो पिया (ऋ० सं० ६, ८, १६, ४)”—इति निगमः ॥

(१०) क्षिपस्ती । 'क्षिप प्रेरणे' तुदादिः (प०), 'पसमित-
स्तेस्तिः'—इति बाहुलकात् तिप्रत्ययः धातोरनुगागमो गुणा-
भावश्च प्रेर्यन्ते कर्मसु पुरुषैः ॥ 'क्षिपती'—इति पाठान्त-
रम् । तदा शतरि ङीपि 'आच्छीनघोनुंम् (७, १, ८०)'
'घा छन्दसि (६, १, १०६)’—इति द्विवचनस्य पुर्यसवर्णः ।
क्षिपतः पदार्थान् इतश्चेतश्च कर्मसु । यद्वा, क्षिपेः

‘रुहिनन्दिजीविप्राणिभ्यः शिदाशिपि- (उ० ३, १२३)’—इति
यादुलकात् भक्षप्रत्ययः क्रीडन्तादेशः । क्षिपतः पदार्थात् ।
निगमदर्शनान्निर्णयः ॥

(११) शकरी । ‘शक्ल शक्ती (स्वा० प०)’ ‘जामदिपयत्ति-
पृशकिभ्यो घनिप् (उ० ४, १०६)’—इप् घनिप्रत्ययः, ‘घनो
र घ (४, १, ७)’—इति ङीष् च पूर्ववत् पूर्वसचर्णादेशः ।
शक्नुतः कर्माणि कर्तुम् । “अङ्गुल्यः शकरयो द्विशब्ध मे यशोन
कल्पस्ताम् (घ० घा० सं० १८, २२)”—इति निगमः ॥

(१२) भरित्रे । विभर्ति रश्मीनादित्य इव । ‘अशिप्रा-
दिभ्य इषोत्रौ (उ० ४, १६८)’—इति इत्रप्रत्ययः । भूरिषदर्थः ।
“अंशुं दुहन्ति हस्तिनो भरित्रेः (अ० सं० ३, २, २०, २)”
—इति निगमः ॥

इति द्वादश बाहुनामानि ॥ ४ ॥

अग्रुवः (१) । अण्वयः (२) । विशः (३) ।
क्षिपः (४) । शर्याः (५) । रशनाः (६) ।
धीतयः (७) । अथर्यः (८) । विपः (९) ।
कक्ष्याः (१०) । अवनयः (११) । हरितः (१२) ।
स्वसारः (१३) । जामयः (१४) । सनाभयः (१५) ।
योक्त्राणि (१६) । योजनानि (१७) । धुरः (१८) ।

शाखाः (१६) । 'अभीशवः (२०) । दीधि-
तयः (२१) । गभस्तयः (२२) । इति द्वाविंश-
तिरङ्गुलिनामानि ॥ ५ ॥

(१) अग्रोच्चः । 'जञ्च्वादयश्च (उ० ४, १००)'—इति रुप्रत्या-
न्तेषु निपातेषु द्रष्टव्यः । 'अग्नि गतो (भू० प०)'—इति धातु-
निपातनाम्नेलोपः, तन्वादिच्चावुषङ् । गच्छति कर्माणि प्रति ।
यदुवा, अग्रश्च उपपदे गमे. पूर्ववन्निपातनात् रुप्रत्ये पूर्वपद-
अग्रलोपः गमेष्टिलोपश्च । अग्रे गच्छन्ति ताः । "तमीं हिन्यन्त्य-
प्रुषः (ऋ० सं० ६, ७, १७, ३)"—इति निगमः । अङ्गुलीनां
यदुत्वात् सर्वत्र यदुवचनान्ताता ॥

(२) अण्यः । अणतिः शब्दार्थः (भू० प०), 'अणश्च (उ०
१, ८)'—इति उग्रप्रत्ययः । 'घोतो गुणयचनात् (४, १, ४४)'—
इति ङीप् । अणन्ति स्फोटनादिशब्दं कुर्वन्ति, तालादि शब्दं
कुर्वन्त्याभिरिति घा । यदुवा, अण्यः 'हस्तपरिमाणापेक्षयाप-
परिमाणाः । तमीमण्वीः समर्था आ (ऋ० सं० ५, ७, १७, २)'
—इति निगमः ॥

(३) विशः । 'विश प्रवेशने (तु० प०)' । 'क्विप् घञि (३,
२, १७८ घा)'—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिएसिद्धिः'—इत्युक्तेः
क्विप् रेफ उपजनः विशन्ति साधनमावं कार्येषु । 'तमीं हिन्यन्ति
धीतयो दरा विशः (ऋ० सं० २, २, १३, ५)'—इति निगमः ।
'कर्मतु धीयमाना दराङ्गुलयः'—इति माधयमाप्यम् ॥

(४) क्षिपः । 'क्षिप प्रेरणे (दि० प०)' औषादिकः 'क्षिप् । क्षिप्यन्ते प्रेर्यन्ते पुरुषेण कर्मतु निक्षिपन्त्यास्वङ्गुलोयकादीन् इति चा "मृजन्ति त्या दश क्षिपः (ऋ० सं० ६, ७, २०, ४)" —इति निगमः ॥

(५) शर्याः । 'शृ हिंसायार् (मया० प्या० प०)' । 'अज्यादेराकृतिगणत्वात् यत् (उ० ४, १०८)' । शृणाति पापात् । 'आ यः शर्यामिस्तुचिन्मृणो अस्य (ऋ० सं० ८, १, २६, ३)" —इति निगमः ॥

(५) रचनाः । रशिपन्थनार्यो धानुरित्युक्तं रश्मिनिबन्धने । (१ अ० ५ ख०) 'युच् दधुलम्' (२, ७४) —इति युच् । दधन्ति बन्धनीयं, दध्यते भामिरिति वा । युञ्जकरणे 'अशेषा च' —इति श्रीमोजदेवः । 'अरतुषने कर्त्राणि रशनाभिर्देशमिच्छन्धीताम् (ऋ० सं० ६, ७, ५, ३२, ६)" "अ रथा चर्हीरशनाभिर्नवन्ति (ऋ० सं० ७, ३, २२, १)" —इति च निगमौ ॥

(६) धीतयः । 'धी (दि० धा०)' धातो 'किन्क्तौ च सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १७४)" —इति किच् व्यत्ययेन दधातेरपि भवति, 'धुमास्यागापाज्झाति (६, ४, ६६)" —इतीत्यन् । धीयन्ते पिधीयन्ते पुरुषैः कर्मतु, धारयन्ति कर्मसधनानि वा । अत्रान्तर्गतपथर्यो दधातिः । "स सतवी तेमिर्दित् (ऋ० सं० ६, ७, ३२, ४)" —इति निगमः ॥

(८) मथर्यः । 'अत सातत्यगमने (मू० प०)' 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)" —इतीत्य्ययी धातुल्लङ्घान्, धातोश्चरादेशः,

‘कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)’—इति ङीप्, जस् ।
 ‘उपर्युधमथर्यो न दन्तम् (ऋ० सं० ३, ५, ५, ३)’—इत्यत्र
 ‘अथर्यो न स्त्रियः इव’—इति माधवः । अथर्य इति तेनाप्यपाठि
 अङ्गुलिनामसु ॥

“अथर्यव.”—इति पाठो बहुषु दृष्टः । तद्वयाहुनामकरणं
 स्पष्टम् । निगमदर्शनाभिर्णयः ॥

(६) विपः । ‘विप प्रेरणे (च० प०)’ किपि, प्रेयर्णन्ते पुण्ये
 कार्ष्येषु । “विपी न घुत्रा नियुचे जनानाम् (ऋ० सं० ६, १,
 ३५, ३)”—इति निगमः ॥

(१०) कक्ष्याः । “दशाग्रनिभ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ३०, २)”
 —इत्यत्र ‘कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि (निरु० ३, ६)—इति
 भाष्यम् । कक्ष्याः प्रकाशयन्त्युनुष्ठानकृतेन फरेन वा कर्माणि ।
 ‘ख्यातेः कक्ष्यशब्दनिर्वचनम्’—इति स्कन्दस्वामी । ‘गाहने फसः
 इति नामकरणः ख्यातेर्वा (निरु० २, २)’—कक्ष्यशब्दनिर्वचनपदे
 भाष्ये स्कन्दस्वाभिप्रण्यः—‘व्या प्रकथने (भद्रा० प०)’—इत्य-
 स्मात् सप्रत्यये निरर्थको निर्निमित्तकोऽसौ सः यकाराकार्यो-
 लोपोऽभ्यासविकारश्च द्रष्टव्यः”—इति भयनमिप्रायः—प्रत्येण
 ‘घृनृयदिह नैकमेकविभ्यः सः (उ० ३, ५६)’—इति ख्यातेर्वाहुल-
 कात् सप्रत्यये बाहुलकादेर द्विवचने दलादिशेषे ह्रस्वते ‘बुद्धोभ्युः
 (७, ४, ६२)’ न भवति बाहुलकादेव, ‘अभ्यासे चर्च (८, ४,
 ५४)’ इति चतुर्थम्, उत्तरस्य म्या इत्यस्य यकाराकार्योलोपः,
 ‘जरि च (८, ४, ५५)’—इति चतुर्थम्, ‘मादेशप्रत्यययोः (८

३, ५६) — इति पत्वम् । प्रकयनेन प्रकाशनं लक्ष्यते । अंसेन नित्यं प्रच्छादनात् प्रकाश्यते पुरुषेण । कक्षो बाहुतलम् । 'तत्र भवः (४, ३, ५३)' — इत्यर्थे 'शरीरावयवाश्च (४, ३, ५५)' — इति यन्प्रत्ययः । अङ्गुल्योऽपि परम्परया कक्षे भवा इति वक्तुं शक्यते, अंसेन नित्यं प्रच्छादितत्वात्, प्रकाशो हि सर्वदा फक्षः, तत्र भवाः, अङ्गुलयस्तदन्तः प्रकाश्याः किन्तु प्रकाशयन्ति कर्माणि अनुष्ठानेन फक्षेन चा, यथानाधारस्थिते अरणी भग्निना प्रकाश्ये तत्र भवोऽग्निः प्रकाशको भवति, तद्वच्च । यद्वा, फक्षो रज्जुः तद्वपन्धनसाधनत्वात् फक्ष्याशब्देनोच्यन्ते । "परिप्यक्तञ्च दशकक्षगमिः (ऋ० सं० ८, ५, १६, ४)" — "दशाचनिभ्यो दशकक्षेभ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ३०, २)" — इति च निगमौ ॥

(११) भयनयः । व्याख्यातं वृथेयीनामसु (१ अ० १ ख० ६) । भयन्ति कर्माणि, भयन्ते चा । "सनात् सनीला भयनी रयाताः (ऋ० सं० १, ५, २, ५)" — "दशाचनिभ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ३०, २)" — इति च निगमौ ॥

(१२) हस्तिः । व्याख्यातं नदीनामसु । (१ अ० १३ ख० १२) हस्त्यामिः पदार्थान् "य सं त्वं हस्तिो दश (ऋ० सं० ६, ८, २८, ३)" — इति निगमः ॥

(१३) स्वसारः । स्वशब्दे उपपदे 'असु क्षेपणे (दि० प०)' — इत्यस्मान् 'सावसे ऋन् (उ० २, ८६)' — इति ऋन्प्रत्ययः सुष्ठु भस्ते शिष्यते पदार्थं ग्रामिः, फार्ग्यपु क्षेप्तव्या चा । यद्वा,

स्वशब्दे उपपदे 'पहुलं विशरणे (भू० प०)'—इत्यस्माद् बाहुल-
कादर् बाहुलकात् टिलोपश्च । स्वं स्वं व्यापारं गच्छन्ति प्राप्नु-
वन्ति, स्वस्मिन् स्वस्मिन् हस्ते सीदन्तीति वा । यदुवा, परस्परं
भगिनीय दृश्यन्ते, एकहस्तमवत्त्वात् स्वतार उच्यन्ते 'न
वेदस्यखादिभ्यः (४, १, १०)'—इति स्त्रीप्रत्ययनिषेधः ।
“द्वेयस्यन्ति स्वतारो अर्हयाणम् (ऋ० सं० १, ५, २, ५)”—इति
निगमः ॥

(१४) जामय, सनामय । अनरोप्योऽनुसन्धेयः ।
जमतेर्गतिर्कर्मणः (निघ० २, १३) 'जनिघसिभ्यामि० (उ० ४,
१२६)'—इति बाहुलकाद्देण्प्रत्ययः । 'अलेख लेप लघसिजम्भ-
जिगिम्भ इण्'—इति श्रीमोजदेयः । जमन्ति गच्छन्ति कर्माणि
प्रति अदन्त्यामिरादीनि वा । जवेदेय वा बाहुलकभ्रकारस्य
मकारः, जाताः स्वकाणोर् । “त्वं सनायधि जामयः (ऋ०
सं० ६, ८, १६, ५)”—इति निगमः ॥

(१५) सनामयः । 'णह यन्धने (दि० उ०)' 'नहो भक्ष्य
(उ० ४, १२२)'—इति इङ्प्रत्ययः भोऽन्तादेशः । नह्यतेऽनया
गर्म इति नामि, समाना नामिरासामिति सनामयः । ज्योतिर्ज-
मपदेऽन्यस्मात् सद्वराण्यस्य सभायः । समाना हि मातुर्नामिस्तासां,
समा नामिः मूढमासामिति वा । “सनामयो घाजिनमूर्जयन्वि
(ऋ० सं० ७, ३, २५, ४)”—इति निगमः ॥

(१६) योरुग्राणि । (१६) योजनानि । 'युतिर् युगे
(उ० उ०)' । 'दाज्ञोयसयुयुजंस्तुदसि (३, २, १८०)'—इति

ध्वनप्रत्ययः पूर्वत्र ।- 'युच्' बाहुल्यम् (उ० २, ६४)—इति युच् ।
युञ्जन्ति पदार्थानामिरिति, युक्ताः घा हस्तेन, संयम्यते आभिः
क्लेशदय इति घा । शब्दस्वामाव्यात् नपुंसकलिङ्गता ।
“दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ३०, २)”—
इति निगमः ॥

(१८) घुरः । धूर्वतेर्यघकर्मणः (निघ० २, १६) कर्त्तरि
क्लिपि (३, २, १७६), राहोपः (६, ४, ११) इति वलोपे रफस्य
यिसजंतीयः, जसि घुरः । धूर्वन्ति कृत्युपप्लवन्ति कर्माणी-
त्यर्थः । हिंसन्ति परानामिरिति दा । धारयतेर्वा औणा-
दिके क्लिपि बाहुल्यकात् आकारस्य ढकारः । अङ्गुल्या हि
घाव्यं सुवर्णादि धारयति । “दश घुरो दश युक्ता घहृदुभ्यः
(ऋ० सं० ८, ४, ३०, २)”—इति निगमः ॥

(१९) शाखाः । ‘अश्रु ध्यातो (स्वा० आ०)’ क्स्तात्
अप्रत्यये चिह्नते ‘अश्रोतेर्हित्’—इति श्रीभोजदेन अप्रत्यये
शाखशब्दो व्युत्पादितः । ग्याप्तं हि सधम् । अशब्दाधिकरणे
उपपदे श्रोतेः ‘अधिकरणे श्रोतेः (३, २, १५)’—इति अच्प्रत्ययः ।
अङ्गुल्यो हि हस्ताप्रमाणत्वात् स्ये आकाशे शेरते व्यपतिष्ठन्ते
आकाशस्यावकाशरूपत्वात् उपपन्नं हि तत्र शयनम् । अशयाः
सत्याः पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) यकारलोपेन शकारा-
कारयोः सचर्णदीर्घत्वे क्श्रा इति भवति, ततोऽक्षरद्वयस्य स्थान-
विनिमयः, टाप्, शाखा । श्रोतेर्वा पचाद्यचि (३, १, १३४)
उपधादीर्घः, फकारस्य खकारश्च । शक्रुधन्ति हि ता अङ्गुल्यः

पुस्तकादि धारयितुं कार्याणि कर्तुं वा । यद्वा, 'शाखृ ध्यातो (भू० प०)' पचायच् (३, १, १३४) । शाखन्ति ध्याप्नुवन्ति कर्माणि । यद्वा, 'शीङ् 'स्वप्ने' (अदा० भा०), अस्मात् 'वृक्षावयवाश्च'—इति खप्रत्ययो 'बाहुलकान्' हस्तावयवेऽपि भवति । शीरतेऽयतिष्ठन्ते आसु नखादयः इति शाखाः । 'श्यतेरिष्ट वा'—इति ध्रीभोजदेवः, यप्रत्ययोऽधिष्ठतः, इकारादेशस्य विकल्पितत्वात् पक्षे शाखानिष्पत्त्या शाखास्थानित्याद्वा शाखा इष्यन्ते । तथाचामरसिंहः—'अङ्गुल्यः फरशाखाः स्युः (२, ६, ८२)'—इति । 'हस्ताभ्यां दशशाखाम्याम्' (ऋ० सं० ८, ७, २५, ७)"—इति निगमः ॥

(२०) अभीशयः । व्याख्याता रश्मिनामसु (१ अ० ५ ख० ५) । अभ्यश्नुयते कर्माणि, अभीशते वा कर्माणि कर्तुम् । दशाभीशुभ्योऽर्चता जरभ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ३०, २)"—इति निगमः ॥

(२१) दीधितयः । व्याख्याता रश्मिनामसु (१ अ० ५ ख० ६) । मङ्गुरीयकादिधारणाद् दीप्यन्ते । 'दीप्यन्ति कर्तुं नृत्यामिरिति वा दधातेर्न्युत्पन्नो दीधितिशब्दः । "अग्निं नरो दीधितिमिररण्योः (ऋ० सं० ५, १, २३, १)"—निगमः ॥

(२२) गमस्तयः । व्याख्याता रश्मिनामसु (१ अ० ५ ख० ७) । गृह्णन्ति पदार्थानामिः पुरुषाः इति गमस्तयः । "दीप्यते मघोरंशुषु (गमस्तिमिः)"—इति निगमः ॥

"सुदस्त्याः"—इति केचित् ।

एतस्य स्थाने “संस्तुतः”—इति च केचित् पठन्ति । तावच्च
व्याख्याता नदीनामसु (१ अ० १३ ख० १६) । संस्तरन्ति सह
गच्छन्ति कर्माणि प्रति सङ्गता वा । स्पष्टे निगमदर्शनाभिर्णयः ॥
इति द्वाविंशतिरङ्गुलिनामानि ॥ ५ ॥

वशिमं (१) । उश्मसि (२) । वेति (३) ।
वेनति (४) । वेसति (५) । वाञ्छति (६) ।
वष्टि (७) । वनोति (८) । जुपते (९) ।
हर्यति (१०) । आचके (११) । उशिक् (१२) ।
मन्यते (१३) । छनत्सत् (१४) । चाकनत् (१५) ।
चकमानः (१६) । कनति (१७) । कानिपत्
(१८) । इत्यष्टादश कान्तिकर्माणः ॥ ६ ॥

‘कान्तिकर्माणः (निर० ३, ६,)’—इच्छार्था धातयः—

(१) वशिम । ‘वश कान्तौ’ भदादिः परस्मैपदी । लङुक्त-
मैकवचनम् । “तद्दहं वशिम पचमान सोम (ऋ० सं० ७, ४,
६, ४)”—इति निगमः ॥

(२) उश्मसि । धशेर्लङुक्तमपुण्यवहवचने मसि ‘सार्वधातु-
कमपित् । (१, २, ४)’—इति द्विद्वयधायात् ‘प्रदिड्या (६, १, १६)’
—इत्यादिना सम्प्रसारणम् ‘इदन्तो मसि (७, १, ४६)’—इति

इकारः । “वा. घां घास्तूत्युश्मसि गमध्वै (ऋ० सं०-२, २, २४, ६)” —इति निगमः ॥

(३) घेति । ‘ची- गतिप्रजनकान्त्यशनखदनेषु’ अदादिः परस्मैपदी । “विपि होइमुत पोत्रं यजत्रा (ऋ० सं० १, ५, २४, ४)” —इति निगमः ॥

(४) घेनति । नैरुक्तो घातुः । “पुराणा^{१७} अनु घेनति (ऋ० सं० ८, ७, २३, १)” —“नासत्यामा वि घेनतन् (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)” —इति च निगमौ ॥

(५) घेसति । भयमपि नैरुक्तो घातुः । ‘विशति’ —इति पाठान्तरम् । निगमश्च नाभिर्णयः ॥

(६) घाञ्छति । ‘घा. छि इच्छायां भौवादिफः (प०) । विशस्त्वा संवा घाञ्छन्तु (ऋ० सं० ८, ८, ३१, १)” —इति निगमः ॥

(७) घष्टि । घरोः प-स्तेपदप्रथमपुरुषैकवचनम् । “समर्पेणा भजति यस्य घष्टि (ऋ० सं० १, ३, १, ३)” —इति निगमः ॥

(८) घनोति । ‘घनु घापने’ तनादिः (प०), अनेकार्थत्वाद्वातूनामत्र फान्त्यर्थः । परमन्यत्रापि । “स्वाहं यद्रेक्ण परमं घनोपि तन् (ऋ० सं० १, २, २४, ४)” —इति निगमः ॥

(९) जुपते । ‘जुपो ग्री. तेसेवनरोः’ मुदादिरात्मनेपदी, अत्र फान्तिकर्मा । “स पुष्टिं याति ओषंसा चिचित्पात् (ऋ० सं० १, ५, २५, ५)” —इति निगमः । ‘जुपते ह्यसि इति पाठात् ओषः फानः’ —इति स्कन्दस्यामिभाष्यम् ॥

(१०) हर्षते । 'हर्ष गतिकान्त्योः' भूयादिः परस्मैपदी ।
“ता जुषाणो हर्षति जातयेदाः (ऋ० सं० ३, ८, ११, ३)” इति
निगमः ॥

(११) आचफे । 'चफ सृमौ' भूयादिरात्मनेपदी, लङ्-
सप्तपुण्यैक्यचनम् । “अनप्योज आचफे (ऋ० सं० ३, ४, ६, ५)”
—इत्यत्र 'फ.मेर्लिटि उत्तमे इटि मलोपः छान्दसः'—इति भानु-
दत्तः । “रथानयस्युर.चफे (ऋ० सं० १, २, १६, ४)”—इति
निगमः । “यस्मै श.दृष्टमाचफे (ऋ० सं० ६, ३, ४२, ५)”—इति
सु 'लोपस्त आत्मनेपदेषु (३, १, ४६)’ । यथादृष्टं पाठः ॥

(१२) उशिक् । घट्टेः 'वशः विन् (उ० २, ६८)’—इति
चिक्रप्रत्ययः, कित्त्वात् सामप्रसारणम् । “उ शिक् पापको
अरतिः नृमेधाः (ऋ० सं० ७, ८, २६, १)”—इति निगमः ॥

(१३) मन्यते । 'मन प्राते' दियादिरात्मनेपदी । “माध्रं-
धिय मन्यमानस्तुरध्वन् (ऋ० सं० ५, ४, ८, २)”—“यदि
मन्येतोपमुष्य मेत्योदनैः”—इति च निगमौ ॥

(१४) छन्दसन् । 'छन्दि संवरणे' चुरादिः । पञ्चमलफाटः,
निप्, 'लेटोऽडाटी (३, ४, ६४), 'सिष्यहुलं लेटि (३, १ ३४)’
'रतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३, ४, ६७)’ । “घृषा छन्दुर्मचति
हर्षतः (ऋ० सं० १, ४, १६, ४)”—इत्यत्र 'मन्यते छन्दसन्
चाकनन् इति कान्तिकर्मणु पाठात्, 'तदिन्मे छन्दसद् घृषुपः
(ऋ० सं० ७, ७, २६, ३)”—इति प्रयोगदर्शनाच्च छन्दिः
कान्त्यर्थः’—इति स्कन्दस्वामिमाप्यम् । “देवताय छन्दसत्

(३४० सं० २, १, २१, ६)”—इति, “अच्छान्नसुः पञ्चदृष्टयः
(३४० सं० ८, ६, २६, ६)”—इति च निगमौ ॥

(१५) चाकनत् । ‘कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (भू० प०)’
यद्भुगन्तः । ‘नुगतोऽनुनासिकात्तस्य न भवति, ध्यत्ययेन
पञ्चमलकारः, ‘लेटोऽडाटो (३, ४, ६४)’ ‘इतश्च लोपः परस्मै-
पदेषु (३, ४, ६७)’ । “इहो दिन्द्रस्य चाकनत् (३४० सं० ६, २,
३८, १)”—“ये निः शचिष्ठ चाकनत्”—इति च निगमौ ॥

(१६) चकमान् । ‘चक तृती’ भूषादिरात्मनेपदी ।
‘ताच्छीत्यथयोधचनशक्तिषु चानश् (३, २, १०८)’ । “चक-
मानः पियन्तु दुग्धमशुम् (३४० सं० ४, २, ७, १)”—इति
निगमः ।

(१७) कनति । ‘कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (भू० प०)’ भूषादिः
परस्मैपद्री । “मानत् कनति नुदतम्”—“इन्द्रः सोमस्य काणुका
(३४० सं० ६, ४, २६, ४)”—इति च निगमौ ।

(१८) कानिषत् । कनतेर्लेटि परस्मैऽवप्रथमपुरुषैकपचने
सिग्यद्वलं लेटि, इटागमः, उपधावृद्धिर्यादुल्कात् इकारलोपः
पूर्ययत् । “अग्ने तृतीये सवने हि कानिष (३४० सं० ३, १ ३१,
५)”—इति निगमः ।

इत्यष्टादश कान्तिषर्माणो धातवः ॥ ६ ॥

अन्यः (१) । वाजः (२) । पयः (३) ।
प्रयः (४) । पृक्षः (५) । पितुः (६) । वय (७) ।

सिनम् (८) । अवः (९) । क्षु (१०) ।
 धासिः (११) । इरा (१२) । इला (१३) ।
 इपम् (१४) । उक् (१५) । रसः (१६) ।
 स्वधा (१७) । अर्कः (१८) । क्षद्र (१९) ।
 नेमः (२०) । ससम् (२१) । नमः (२२) ।
 आयुः (२३) । सूनृता (२४) । ब्रह्म (२५) ।
 घर्चः (२६) । कीलालम् (२७) । यशः (२८) ।
 इत्यष्टाविंशतिरग्ननामानि ॥७॥

(१) अन्धः । 'अन्ध इत्यग्ननाम । आध्यानीयं मयति (निघ०
 ५, १)'—इति भाष्यम् । 'आमिमुख्येन हि ध्यातव्यं सर्वेणान्नं
 प्रीतेः शरीरस्थितेश्च तदायत्तत्वात्'—इति स्कन्दस्वामी । आङ्-
 पूर्वात् ध्यायतेरसुनि बाहुलकात् यकाराकार्योलोपः, उपसर्गस्य
 ह्रस्वार्थं नुमागमश्च धातोः । यद्वा, 'अद मक्षये (अदा० ५०)'
 —इत्यस्यान् 'अदेनुम् घञ (उ० ४, २००)'—इति कर्मणि
 कर्त्तरि षा कारके असुनि नुमागमो धकारश्चान्तादेशः । अद्यते
 प्राणिभिः, तान् वा स्वयमस्ति । तथाच श्रुतिः—'अद्यतेऽस्ति च
 भूतानि (तै० उ० २, २)'—इति । 'अनित्यत्वेनाग्न्यः,—इति
 शीरस्वामी । अनित्येऽसुनि बाहुलकात् घुमागमः । अनित्यन्

हि प्राणनम् । “आमन्त्रेभिः सिञ्चता मय मन्धः (ऋ० सं० २, ६, १३, १)”—“इन्द्रेहि मत्स्यन्धसः (ऋ० सं० १, १, १७, १)”—इति च निगमो ॥

(२) घाजः । ‘घज गतो (भू० प०)’ । ‘अकर्त्तरि च कारके सञ्जगाम् (३, ३, १६)’—इति घञ् । ‘अजिघ्र्योश्च (७, ३, ६०)’—इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् कुत्त्रामाघः । तथाच तत्र न्यासकारः—‘चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्भजेरपि कुत्त्र-प्रतिषेधः सिद्धो भवति घाजः’ इति । निगम्यते अभिगम्यते हि तत्सर्वैः । गच्छत्यनेनादत्तेन दुष्टानि, भुक्तेन दृष्टिं घा गच्छत्यनेन शुद्धेन सत्त्वशुद्धिं भोक्ता । यदाहुः—‘आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरिति । यद्वा, गत्यर्था मुदुष्यर्थाः, जानात्यनेन भुक्तेन धर्मम् । ‘दश धर्मान् विजानन्ति धृतराष्ट्र निषोच तान् । मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रन्तः क्रद्धो युभुक्षितः ॥’—इति श्रीमहाभार-तम् । सर्वत्राघनामगु गत्यर्थाद् व्युत्पादितेष्वेवमर्थो योद्धव्यः । “सुतानां घाजिनीयस् (ऋ० सं० १, १, ३, ५)”—अन्यत्र “घाजं दधनस्य दं रथम् (ऋ० सं० १, ४, १२, १)”—इति च निगमो ॥

(३) पयः । व्याख्यातं रात्रिनामसु पय इत्यत्र (निट० २, ५) । यद्वा, ‘अय पय गतो (भू० भा०)’—इत्यस्मादसुन् । पीयते तत्र । तद्धि घनुरिष २ पेयचोष्यलेशचक्यंभेदेन । घटन्ते हि तेन भुक्तेन । ‘जानात्यनेन घटन्ते (दे० उ० २, २)’—इति धृतिः । “पयस्यानाग्र आगहि (ऋ० सं० १, २, १२, ३)”—“यदी

मृतस्य पयसा पियानः (ऋ० सं० १, ५, ३७, ३) — इति च निगमः ॥

(४) प्रयः । व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ३७) “उपरयो भिरागतम् (ऋ० सं० १, १, ३, ४)” — “तुषाय प्रयोन हमि स्तोमं माहिनाय (ऋ० सं० १, ४, १७, १)” — “प्रयस्वन्तः प्रति हयामसि त्या (ऋ० सं० ८, ६, ११, ३)” — इति च निगमाः ॥

(५) श्रयः । ‘श्रु श्रयणे (भू० प०)’ । कर्मण्यस्तुन् । श्रूयते ह्यन्नं घर्षमानं श्रयो यशः । तद्धर्मास्तान्छयं वा । “सत्यश्चिन्न श्रयस्तनाः” “मत्तं दधामि श्रयसे दिवे दिवे (ऋ० सं० १, २, ३३, २)” — “अभिश्चय ऋग्यन्तः (ऋ० सं० ४, ७, ६, ३)” — इति च निगमाः । “उप प्रयोभिरागतम् (ऋ० सं० १, १, २, ४)” — इत्यादिषु निदकग्रीकायां स्कन्धनामिना प्रय इत्यन्नना-
मेत्युच्यते । तथाच ‘अक्षिति श्रयः (ऋ० सं० १, ३, २०, ४)’ —
इत्यादिनिगमेषु घेदमात्रे, ‘श्रय इत्यन्ननाम’ — इति स्पष्टमुच्यते ।
निदकग्रीकायान्तूमयया (निद० १०, ३) । अतः प्रयःश्रयः-
शब्दयोः उभयोः एव अन्ननामत्वं स्पष्टम् । तत्रैकतमस्य पाठो विद्व-
द्भिर्निर्णीयताम् ॥

(६) पृश्नः । ‘पृची सम्पर्क (द० प०)’ । औणादिके किपि
घातोः कुणागमः । सम्पर्कं हि तज्ज्ञातुमिः । पृश्नतिदानार्थ इति
वा (अदा० आ०) । “वायो तर प्र पृश्नती (ऋ० सं० १, १, ३,
३)” — इत्यादी माघवेनोक्तम् । तत्र किपि बाहुल्यकाङ्क्षलोपः ।
दीयते ह्यन्नमर्थिन्यः । “त्रिः पृश्नो अस्मे अक्षये पिन्यंतम् ।

(ऋ० सं० १, ३, ४, ४)”—इत्यत्रः स्कन्दस्वामिभाष्यम् ‘पृश्ना
 धन्ननामैतन् पठन्ति । “पृश्नो भरन्त धाम् (ऋ० सं० ४, ४, १२,
 ३)”—इत्यादिषु बहुवचनान्तस्य सामानाधिकरण्यदर्शनात् बहु-
 वचनान्तं द्रष्टव्यम्—इति । “अग्निं विश्वा अमि पृश्नः सवन्ते
 (ऋ० सं० १, ५, १६, २)”—“पृश्नो बहवमग्निना (ऋ० सं० १, ४,
 २, ६)”—इति च निगमौ । “त्यंशश्चो मारुतं पृश्न ईशिषे (ऋ०
 सं० २, ५, १८, १)”—इत्यादौ तु पष्ठ्येकवचनान्तमपि दृश्यते ॥

(६) पितुः । ‘पा रक्षणे (अदा० प०)’ । ‘कमिमनिजनि-
 मायागापाद्विम्यध (उ० १, ७०)’—इति तु प्रत्ययो बाहुलकादि-
 कारः । रक्षितार्थं ह्यन्नम् । प्यायतेर्बाहुलकात् तुप्रत्ययो धातोः
 विभावध । “पितुं नु स्तौयम् (ऋ० सं० २, ५, ६, १)”—
 प्रमन्दिने पितुमर्चना घयः (ऋ० सं० १, ७, १२, १)”—इति
 निगमौ ॥

(७) घयः । ‘घी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु (अदा० प०)’ ।
 असुन् । गत्यादिसर्वोऽप्यर्थोऽन्नानुगुणः कारकमेवेन । ‘घय
 गती (भू० भा०)’—इत्यस्मादसुन् वा । “दृष्टस्मे घय इन्द्रो
 दधाति (ऋ० सं० २, १, १०, २)”—“परि प्रंसमो मन पां घयो
 गातघ (ऋ० सं० ५, ५, १६, ४)”—इति च निगमौ ॥

केचिदस्य स्वाने “सुतः” इति पठन्ति । तत्र ‘धृम् प्राणि-
 प्रसवे (अदा० भा०)’ । ‘तातघातलातसुत’—इत्यादिना कप्रत्ययः
 पूर्वो ह्रस्वत्यञ्च निपादयते । स्यते घृष्ट्या । “आदित्याज्ञापते
 इष्टिर्घृष्टेरन्नं तता प्रजाः”—इति हि स्मृतिः (मनुः ३, ७६) । यद्वा,

‘सुपु गतो (भू० प०)’—इत्येतद्विषयं निपातनम् । निगमोऽन्वे-
षणीयः ॥

(८) सिनम् । ‘पिप् यन्धवे (स्वा० कृया० उ०)’ । ‘इण्-
सिन्द्वादोऽङ्गुलिभ्यो नक् (उ० ३, २)’ । ‘सिनाति भूतानि’—इति
भाष्यम् । ‘सिनाति यन्नाति श्रुधा चिनस्यन्ति भूतानि धारयति’
—इति स्कन्दसामी । सीयते अनेनेति धा । अन्नेन हि मृत्यादयो
पश्यन्ते । ‘येन स्नासितं भरथः स येभ्यः (ऋ० सं० ३, ४, ६, १)’
—इति निगमः ॥

(९) अघः । ‘अत्र रक्षणगतिप्रीतितृप्त्यधगमप्रवेशश्रवणस्या-
ग्यसामप्यपावनक्रियेऽडादीप्पराप्पगालिङ्गनर्हिसादानमागट्टद्विषु
(भू० प०)’ । असृग् । घात्यर्ग्यु योगः स्याद्गीकर्त्तव्यः । ‘अथत्
ब्रह्मण्यवसागमम्’—‘अग्निर्गिरोऽवसा येतु धातिम् (ऋ० सं० १,
५, २५, ४)’—इति निगमो ॥

(१०) ह्रु । ‘ह्रु ह्रु शब्दे (ऋ० प०)’—‘क्षि निघासगत्योः
(तु० प०)’ । ‘जलेऽहस्या ङङ् (उ० १, ३२)’—इति विधीय-
मानो ङित्कुप्रत्ययः आहुलकादाभ्यामपि भवति । क्षुयते शब्दस्ते
स्तोत्रभिः स्तूयते द्व्यतात्वाद्गन् संज्ञादिभिः गुणवत्तया धा
लोके, निवसत्यनेन धा । “त्वं घात्रस्य क्षुमतो रायईशोपे (ऋ०
सं० २, ५, १८, ५)”—“आ तू न इन्द्र क्षुमन्तम् (ऋ० सं० ६,
५, ३७, १)”—इति च निगमो ॥

(११) घासि । ‘प्लुषिशुदिकुपिभ्यः ङित् (उ० ३, १५१)’
—इति आहुलकात् घासोऽपि भवति, आहुलकादेव इत्थं न

भवति । दीयतेऽर्थिभ्यो धारयति प्राणान् घ । ऽधिदेत्सर मा
तनयाय धासिम् (ऋ० सं० १, ५, १, ३)”—अत्र ‘धासि-
रन्ननाम इह तु पयस आसन्नकारणत्वात् गोषु प्रत्युक्तः’—इति
स्कन्दस्यामी ॥

(१२) इरा । व्याख्यातं नदीनामसु (१ अ० १३ ख० ३५) ॥

(१३) इला । ईड्यते दीप्यते भुक्तेन जाठरोऽग्निः, क्षिप्यते
उदरे, स्वपत्यनेन भुक्तेन न हि युभुक्षितस्य निद्रारित । “तस्मा
इलां सवीरा मा यजामहे (ऋ० सं० १, ३, २०, ४)”—इति
निगमः ॥

(१४) इप् । ‘इप् इच्छायात् (तु० प०)’ । औणादिकः
क्विप् । इप्यत इति । षड्धा, ‘इप् कर्त्ता (दि० प०)’ क्विप् ।
वेदे प्राचुर्येण दर्शनाद् द्विदतीयैकवचनान्तम् । “इप् एतोऽहम्
आमर (ऋ० सं० ३, ८, २२, १)”—“अभिना यज्यरीरिपः
(ऋ० सं० १, १, ५, १)”—इति च निगमौ ॥

(१५) ऊर्क । ‘ऊर्गित्यधनाम । ऊर्जयतीति सतः, पक्
सुप्रवृत्तमिति घा (निघ० ३, ८)”—इति भाष्यम् । ‘ऊर्जयति’
प्रयलति प्राणयति श्लघन्तं प्राणघन्तं घा करोतीत्यर्थः । ‘पकमिति
घा’ पक्शब्दस्य पकारलोपं हरथा वृत्तं घट्टस्य वकारस्योरि
हने कणागमे चोर्गिति भवति । ‘सुप्रवृत्तमिति घा’ एव
प्राप्दलोपे हने, संयोगादिलोपे हने, वकारस्योपरि रुफि ऊर्ध्वे
च हने ऊर्गिति भवति । सुप्रवृत्तं हि तद्वयति मृदुरथात्—
इति स्कन्दस्यामिप्रत्ययः । ‘ऊर्जति प्राग्गने जीयनेऽनया’—इति

च कृते ऊर्गिति भवति । सुष्टिर्दं हि तदुभवति मृदुत्वात्—इति
स्वन्दस्वामिग्रन्थः । ‘ऊर्ज्यते प्राण्यते जीव्यतेऽनया’—इति
भट्टभास्करमिश्रः । अत्र ‘ऊर्ज्वलप्राणनयोः (चु० प०)’ इत्यसादेव
करणे क्तिप् । “यंस्ति त्मनमूर्जं न विश्वघ क्षरथ्यै (ऋ० सं०
१, ५, ५, ३)”—इति निगमः ॥

(१६) रसः । व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ३५) ।
“महे यत् पित्र ईं रसः दिवे कः (ऋ० सं० १, ५, १५, ५)”—
इति निगमः ॥

(१७) स्वधा । स्वशब्दे उपपदे दधातेः (जु० उ०) ‘गेहे कः
(३, १, १४४)’—इति कप्रत्ययी बाहुलकाद् भवति । स्वैभ्यो
दीयते स्वस्मिन् धीयते वा, स्येन धनेन धीयते वा । “विश्या हि
माया अवसि स्वधा घः (ऋ० सं० ४, ८, २४, १)”—“आदह
स्वधामनु (ऋ० सं० १, १, ११, ४)”—इति च निगमो ॥

(१८) अर्कः ।

(१९) क्षत्र । व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ३) ।
क्षुभ्रिघर्त्तनादिके स्वकार्ये स्मिरं भवति, स्मिरो भवत्यनेन भोक्तेति
घा, “अहमधमधमदन्तमसि (सा० सं० आ० १, ६)”—इति
श्रुतिः । माघचपक्षे क्षदिग्रन्थार्थः (सौ०), अश्वते युमुक्षितैः ।
“स्वादु क्षन्नापो घसतो स्योनरुत्”—इति निगमः ॥

(२०) नमः । ‘जीञ् प्राण्ये (भू० उ०)’ । ‘अर्त्तिस्तुसुहृ-
सुवृक्षिभुभायाचापदिधक्षिनीम्यो मन् (उ० १, १३७)’ । नमयति
सुगतिं दातारं, नीयते देहयात्रा अनेनेति वा ॥

“नेमा”—इति नकारान्तं केचित् पठन्ति । तदा बाहुलकाद-
भिधानलक्षणादुवा नकारस्येत्सञ्ज्ञाया अभावः । एवमेवास्ति
सूत्रे वृत्तिकारेणोक्तम् । यदुवा, मंनिनि रूपसिद्धिः । निगम-
दर्शनाभिर्णयः ।

(२१) ससम् । ‘सस स्वप्ने (अ० प०)’ । ‘पुंसि सञ्ज्ञायां
घः प्रायेण (उ० ४, ११८) । स्वपन्त्यनेन भुक्तेन, न हि क्षुधित-
स्यातिनेशः स्त । “ससेन चिद्विषमदायावहो यसु (ऋ० सं० १,
४, ६, ३)”—इति निगमः ॥

(२२) नमः । ‘णमु ग्रहत्ये (भू० प०)’ । असुन् । उपनतं
जातमाश्रेभ्यो भूतेभ्यः पूर्वजन्मदृतकर्मवशात्, नम्यते देवतात्वात्,
नमन्त्यनेन हेतुना तद्व्यस्तः प्रयोजनस्य न हेतुत्येन विद्यता । “प्र
यो महं महि नमो अरच्यम् (ऋ० सं० १, ५, १, २)”—“य ना
यो अग्निं नमसा (ऋ० सं० ५, २, २१, १)”—इति च निगमौ ॥

(२३) आयुः । अननं प्राणनमस्ति । “पाहि सवमिदं विद्यायुः
(ऋ० सं० १, २, २२, ३)”—इति निगमः ॥

(२४) मृता । व्याख्यातमुपोनामसु (१ अ० ८ त्र० १४) ।
सुष्टु मयन्ति क्षुत्प्रसुतान् अभ्यर्चते या तर्पिभिः । यदुवा, शोभना
नरः सुगरः ‘अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)’—इति दीर्घः, मृता
तापते विस्मर्यन्ते पुण्येन, ‘अन्येषामपि दृश्यते (६, २, १३७)
—इति दीर्घः । या टाप् । “पुरुर्जाये जरते मृतावान् (ऋ० सं०
१, ४, २५, ७)”—“मग्निता मृतापती (ऋ० सं० १, २, ४,
३)”—इति च निगमौ ॥

(२५) ब्रह्म । 'तुहि वृद्धि वृद्धौ (भू० प०)' 'वृ' हेर्नलोपश्च (उ० ४, १४१)—इति मनिर् । 'परिवृद्धं भवति सर्वप्राणिभिः । सर्वदा भुज्यमानमप्यनुपेक्षीयमाणत्वात्, स्वभावंतो वा परिवृद्धं सर्वस्य जगतो भरणत्, घट्टन्तेऽनेन भूतानीति वा 'जातान्यन्तेन घट्टन्ते (तै० उ० २, २)"—इति श्रुतिः । "उप ब्रह्माणि वाचतः (ऋ० सं० १, १, ५५, ५)"—इति च निगमः ॥

- (२६) चर्चः । 'चर्च दीप्तौ (भू० आ०)' । असुन् । दीप्तिकरं ह्यन्नं शरीरादेः । "तमा संसृज चर्चसा (ऋ० सं० १, २, १२, ३)"—"सं माने चर्चसा सृज (ऋ० सं० १, २, १२, ४)"—"आयुग सह चर्चसा (ऋ० सं० ८, ३, २७, ४)"—इति निगमाः ॥

(२७) कीलालम् । 'फल गती (प०)' चौरादिकः, 'कील यन्धने (भू० प०)' 'कील खण्डने' । कील यन्धने इति व्युत्पत्तौ सिनवदर्थः । कील खण्डने इति तु सुच्छेदमित्यर्थः । अपि वा कीला जाटराग्नेर्ज्वाला, तां लाति 'कर्मण्यण् (३, २, १)' । "कीलालपे सोमपृष्टाय वेधसे (ऋ० सं० ८, ४, २२, ४)"—इति निगमः ॥

(२८) यशः । व्याख्यातमुदकनामसु (१अ० १२ ख० ५५) । यशो यशोर्दीप्त्यर्थात् । कीर्त्तिकरं चेति माधयः । तदा चर्चस्वदर्थः । "यशोन पक्वं मधुगोप्यन्तरा (ऋ० सं० ८, ६, २, ५)"—"तुविद्युन्न यशम्बता (ऋ० सं० ३, १, १६, ६)"—इति निगमौ ॥

इत्यष्टाविंशतिरध्यायानि ॥ ७ ॥

आवयति (१) । भवति (२) । वभस्ति (३) ।
वेति (४) । वेवेष्टि (५) । अविष्यन् (६) ।
वप्सति (७) । भसथः (८) । वब्धाम् (९) ।
ह्वरति (१०) । इति दशात्तिकर्माणः ॥८॥

(१) आवयति । आङ्पूर्वात् वेते. (अदा० प०) 'यङुल
छन्दसि (२, ४, ७१)'—इति शपो लुगभाषः । यद्वा,
विञ् तन्तुसन्नानि (३०) भूवादिः, अनेकार्थत्वात् धातु-
नामत्रात्तिकर्मत्वम् । एयमन्येष्वपि द्रष्टव्यम् । “आ तु नः
स वयति गव्यमण्व्यम् (ऋ० स० ६, २, २, १०)”—
इति निगमः ॥

(२) भवति । ‘भर्ध हिंसायाम्’ भूवादिः परस्मैपदी ।
“पृष्ण्यग्निरनुयाति भर्ध न (ऋ० स० ४, ५, ८, २)”—
“तेन सुभर्तुः शतवत सहस्रम् (ऋ० सं० ८, ५, २०, ५)”—इति
निगमो ॥

(३) वभस्ति । ‘भस भर्त्सनदीप्त्योः’ जुहोत्यादिः परस्मै-
पदी । “हरी श्यान्धांसि वप्सता (ऋ० सं० १, २, २६, २)”
—इति निगमः ॥

(४) वेवेष्टि । ‘विप्ल व्याप्तौ (जु० उ०)’ । ‘जुहोत्या-
दिभ्यः ण्लु (२, ४, ७१)’ । “स्यतेदयोपधातिधि ज्योतिष्टया
पग्विवेष्टि”—“यदा त्वाः अतिथयः परिवेष्टि”—“मस्तः

परिवेष्टारः”—इति च निगमाः । - प्रयोजकव्यापारे प्रयुक्तत्वात्
निरूपणीयम् ॥

(५) वेति । घी गत्यादौ अदादिः परस्मैपदी । “वीतं
पात पयस उच्चियायाः (ऋ० सं० २, २, २३, ४)”—इति
निगमः ॥

(६) अविप्यन् । अवसेर्धत्तमाने व्यत्ययेन लृट्, लृटः सङ् ।
“दृष्यविप्यन्तसेषु तिष्ठति (ऋ० सं० १, ४, २३, २)”—इति
निगमः । अत्र च ‘अविप्यन्नस्तिकर्मा भक्षयन्नित्यर्थः’—इति
स्कन्दस्वार्मा । तस्मादविष्ठादिति पाठो न युक्तः ॥

(७) यप्सति । भसेः प्रथमपुण्ये बहुवचने ‘घसिभसोर्हलि
च (६, ४, १००)’—इत्युपधालोपे रूपम् । “वद्विर्चनानि यप्सति
(ऋ० सं० ६, ३, २६, ३)”—इति निगमः ॥

(८) भसथः । भसेर्लटि थसि ‘यद्गुलं छन्दसि (७, ४, ७६)’
—इति शप. श्चुर्न भवति । “न देवा भसथध्वन (ऋ० सं० ४,
८, २५, ४)”—इति निगमः ॥

(९) यञ्याम् । भसेर्लटि तसस्तामि श्चो द्विर्चनान्तत्वा-
नित्यत्वात् उपधालोपः प्राप्नोति छान्दसत्वान्न, ‘घसिभसोर्हलि
च (६, ४, १००)’—इत्युपधालोपः । ‘धि च (८, २, २५)’—
इत्यादिसूत्रेषु सिचो लोप इति पक्षे सकारलोपश्छान्दसः. सकार-
मात्रलोप इति पक्षे ‘भल्लोभलि (८, १, १६)’—इति सलोपः,
भस्त्वज्जश्त्वे । यञ्यामिति पृथग्भाटे प्रयोजनं मृग्यम् । “यञ्धा
ते हरीधाना”—इति निगमः ॥ -

(१०) हरति । ह, कीटिल्ये भूवादि. परस्मैपदी । “अपा-
मतिष्ठद्वरुणहरन्तम. (ऋ० सं० १, ४, १८, ५)” — “उप हरे
यदुपरा अपिन्वन (ऋ० सं० १, ५, २, १)” — इति निगमौ ॥

इति दशात्तिकर्माण. ॥ ८ ॥

ओजः (१) । वाजः (२) । पाजः (३) ।
शवः (४) । तरः (५) । तवः (६) । त्वक्षः (७) ।
शद्वर्धः (८) । वाधः (९) । नृमृणम् (१०) ।
तविपी (११) । शुष्मम् (१२) । शुष्णम् (१३) ।
शूपम् (१४) । दक्षः (१५) । वोढु (१६) ।
घ्यौलम् (१७) । सहः (१८) । यहः (१९) ।
वधः (२०) । वर्गः (२१) । वृजनम् (२२) ।
वृक् (२३) । मज्मना (२४) । पौंस्यानि (२५) ।
धर्णसिः (२६) । द्रविणम् (२७) । स्यन्द्रासः
(२८) । शम्बरम् (२९) । इत्यष्टाविंशतिर्वलना-
मानि ॥६॥

(१) ओज । व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० २२ ए० ४३) ।
उज्जन्त्यनेन, यल्यत्सन्निधौ हि शृजपो मयन्ति भीत्या, न्यग्भाव-

यत्यनेन वा शत्रून् । घर्द्धतेऽनेन पेष्यर्थादि, घर्द्धते ध्यायामादिना ।
इमावर्थान्तराद्यपि वृद्ध्यर्थेषु योद्धव्यौ । 'उर्वधिकम्'—इति
माधयः । हिंस्यन्तेऽनेन शत्रवो वा । 'उपेर्जुद् च'—इति श्रीभो-
जदेव । असुनि गुणः । ओषति दहति शत्रून् । "ओजसो
जातमुतमन्य'पनम् (ऋ० सं० ८, ३, ४, ३)"—'वसनि जाते
जनमान ओजसा (ऋ० सं० ६, ७, ३, ३)"—इति निगमौ ॥

(२) पाज् । व्याख्यातमचनामसु (२ अ० ७ ए० २) ।
गच्छत्यनेन शत्रून् प्रति जिगीषवः । गम्यतेऽधिगम्यते ध्याया-
मादिना यत्नेन । इमावर्थाद्युत्तराद्यपि गत्यर्थेषु योद्धव्यौ । 'पाजो
यलं, पाजयते' प्रेरणार्थात्—इति माधयः । अनेन शत्रून् प्रेरयति
विद्राययतीति । "पन्थाजेषु भूपथ (ऋ० सं० ३, १, १२, ४)"
—इति निगमः ॥

पाज् । 'पा रक्षणे (अदा० प०)' । 'पातेर्जुद् च'—
इत्यसुन् । यत्नेन हिंस्यते सर्वम् । "कृणुष्व पाज् प्रसिति न
पृथ्वीम् (ऋ० सं० ३, ४, २३, १)"—इति निगमः । "समि-
द्धस्य रशददर्शि पाजः (ऋ० सं० ३, ८, १२, २)"—इत्यत्रै
स्कन्दस्वामिना 'पाजो यलम्'—इत्येतावदेवोक्तं न तु यलनामेति
पाजशब्दे तु 'परिधाजेषु भूपथ. (ऋ० सं० ३, १, १०, ३)"—
इत्यत्र यलनामेतदित्युक्तम्, 'अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनम्,
(ऋ० सं० १, ५, ७, १)"—इत्यत्र 'अत्यं न वाजं हयनस्यदं
रथम् (ऋ० सं० १, ४, ११, १)"—इत्यादौ च ऋक्भाष्ये
पाजशब्दोपरि 'अपि यलनाम्'—इत्युच्यते । अतो पाजपाज-

शब्दयोरुभयोरपि बलनामत्त्वं स्पष्टम्, तत्रैकतमस्य पाठो
चिद्वचद्विरधीयताम् ॥

(३) शयः । व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ४१) ।

“मा भेम शयसस्पते (ऋ० सं० १, १, २१, २)”—इति निगमः ॥

(४) तर । ‘तृ-प्लवनतरणयोः (भू० प०)’ । असुन् ।

तरत्यनेन आपदम् । ‘यावत्तरो मधवन् यावदोजः (ऋ० सं० १,
३, ३, २)”—इति निगमः ॥

(५) तवः । तवतिर्घधार्यः, असुन् । “अपादमिन्द्र तवसा

जघन्थ (ऋ० सं० ३, २, २, ३)”—“योगे योगे तवस्तम् (ऋ०
सं० १, २, २६, २)”—इति च निगमौ ॥

(६) त्यक्षः । ‘तक्षू तनूफरणे (भू० प०)’ । असुन् ।

तनूकियन्ते तेन शत्रवः । “स प्र रिको त्यक्षसा शमो दिघश्च
(ऋ० सं० १, ७, १०, ५)”—इति निगमः ॥

(७) शर्दः । ‘शर्दतिरहस्ताहार्यः’—इति स्कन्दस्यामी,

असुन् । शत्रुजयादायनेन उत्साहितत्वात् । “भन्नाजिशर्दो
मस्तोयवर्णसम् (ऋ० सं० ४, ३, १५, ६)”—इति निगमः ॥

(८) धाधः । ‘धाधृ विलोडने (भू० आ०)’ ‘अफर्त्तरि च

कार्त्ते सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १६)”—इति घञ् । धाध्यतेऽनेन
शत्रवः । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(९) नृम्णम् । ‘नृम्णं नृन् नतम् (निय० ११, ६)”—इति

भाष्यम् । ‘नृन् शत्रुभूतान् प्रति नमन्ति, ण्यर्थो वा नमिः, नमयति
प्रह्लाकरोति’—इति स्कन्दस्यामी । ‘इन्द्रनृम्णं दि ते श.घः

(॥ अ० सं० १, ५, २६, ३)—इत्यत्र । ऋक्माप्यम्—‘यसाञ्छु-
भूतानां मनुष्याणामपि नमनकरणं तच्च यत्नम्’—इति । स एष
तत्र पृथोदरादित्वेन नृनमनशब्दस्य चर्णलोपादौ नृमृणमिति
द्रष्टव्यम् । “अथो नृमृणं च रोदसी सपर्यतः (अ० सं० ८, १,
२, १)”—“मद्विधयस्तुयिनृमृणम् (अ० सं० १, ३, २७, १)”—
इति च निगमौ ॥

(१०) तयिपी । तयिः सौत्रो घातुर्चुड्यर्थः । तवेष्टिपन्-
प्रत्ययः । टि१घात् डीप् । “छप्णा रजांसि तयिपी दधानः
(अ० सं० १, ३, ६, ४)”—“युष्माकमस्तु तयिपी पनीयसी
(अ० सं० १, ३, १८, २)”—इति निगमौ ॥

(११) शुष्मम् । ‘शुष शोषणे (दि० प्र०)’ । ‘अविसिचि-
सिशुयिम्यः कित् (उ० १, १४१)’—इति मनप्रत्ययः । शुष्यत्यने-
नारिः । ‘शुषिः प्रीणनार्थः’—इति माधवः । प्रियं हि यत्नम् ।
‘शुष्ममिति यत्ननाम, शोषयतीति सतः (निरु० २, २४)’—इति
भाष्यम् । ‘परस्परसांयोगिकमपि यत्नं चिशोषयति उपमेयतीत्यर्थः’
—इति स्कन्दसामी । तत्र शोषयतेर्मनिन् ‘घट्टलमन्यत्रापि
सप्रज्ञाच्छन्दसोः’—इति लुक् । “शुष्मा इन्द्रमवाता अद्भुतप्लवः
(अ० सं० १, ४, १२, ४)”—“यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम्
(अ० सं० २, ६, ७, १)”—इति निगमौ ॥

(१२) शुष्णम् ।

(१३) शूषम् । ‘शुष शोषणे (दि० प्र०)’ । ‘पूषमुपकलुष
कारुणशैलूपादयः’—इत्यादिप्रहणात् ‘उपः प्रत्यूपादयोऽपि भवन्ति’

—इति दण्डनाथवृत्तिः । उपप्रत्ययष्टिलोपश्च निपात्यते शुष्मवदर्थः । —“इन्द्राय शूषः मर्चति (ऋ० सं० १, १, १८, ५)” —इतमः सत्त्वमि योह शूषैः (ऋ० सं० ३, ३, १३, २)” —इति निगमौ ॥

(१४) दक्षः । ‘दक्ष शैघ्ये च (भू० आ०)’ अकाराद्वृद्धौ । ‘दक्ष गतिर्हिंसनयोः (बु० घ० प०)’ । ‘दक्षतिस्तसाहार्यः’ —इति स्कन्दस्वामी । अमुन् । शत्रुविजये क्षिप्रो भवत्यनेन, हिंस्यन्ते घातेन शत्रवः, प्रोत्साहितो वा भवति शत्रुविजये । ‘मित्रं ह्ये पूतदक्षम् (ऋ० सं० १, १, ४, २)’ —इति भाष्ये स्कन्दस्वामी — ‘दक्ष इति सफारान्तं यल्लनाम’ । अकारान्तमपि तस्यैवमर्थान्तरे द्रष्टव्यम् । “जज्ञाना पूतदक्षसा (ऋ० सं० १, २, ८, ४)” —इति निगमः ॥

(१५) घीलः । घील्यति संस्तम्भकर्मा । ‘भृमृशीतृचरि-
त्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उ० १, ७)’ —इति उपप्रत्ययो
घाहुलकादक्षादपि भवति । संस्तम्भो दृढो भवति अनेन,
संस्तम्भ्यन्तेऽनेन शत्रव इति वा । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(१६) च्योत्नम् । ‘च्युङ्गतो (भू० आ०)’ । अन्तर्णोत्तण्यर्थो
घा । च्यवन्ति च्यावयन्ति शत्रून्नेन राज्यात् । “प्रच्योत्नेन
मघया सत्यराधाः (ऋ० सं० ८, १, ८, ६)” —इति निगमः ॥

(१७) सहः । ‘पह मर्षणे (भू० आ०)’ छन्दस्यभिभवार्यः ।
अमुन् । सहत्यनेन शत्रून् । “ये सहांसि सहसा सहन्ते (ऋ०
सं० ५, १, ८, ४)” —इति निगमः ॥

(१८) यद्वाः । व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १६ ख० ४३) ।

प्राप्यने आह्वयते चा अनेन शत्रुः । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(१९) यद्वाः । 'हने' हिसागत्योः (मू० प०) । 'हनश्च घघः

(३, ३, ७६)'—इत्यप् । 'हन्यतेऽनेन शत्रुः । निगमोऽन्वेपणीयः ।

(२०) घर्गः (२१) घृजनं । (२२) घृक् । 'घृजी घर्जने

(ह० प०) । 'घर्ज्' । 'कृपृवृजिमन्दिनिधाभ्यः वयुः (उ० २,

७६)' 'किप् च (३, २, ७६)' । घर्ज्यन्तेऽनेन प्राणैः । "जरयन्ती

घृजनं यददीयते (ऋ० सं० १, ४, ३, ५)" — "प्रतीचीनं घृजनं

वोदस्ये गिरा (ऋ० सं० ४, २, २३, १)" — इति च निगमौ ॥

माधयन्तु—'मध्योदात्तन्तु घृजनं घर्जते यलयुद्धयोः । "घृजने न

घृजिनानत्सम्पिपेय (ऋ० सं० ३, २, १६, १)" — "त्यं शुष्णं घृजने

पृष्ठ आर्णौ (ऋ० सं० १, ५, ४, ३)" — "जरयन्ती घृजनं (ऋ० सं०

१, ४, ३, ५)" 'तु पर्जते उपट्टये'—इति । तदन्वेपणीयो निगमौ ॥

(२३) मज्जना । तु मरुजी शुद्धौ (तु० प०) । औणादिकौ

मनिन (उ० ४, १४०) । 'मलां जश् भ्रशि (८, ४, ५३)' चुत्वम्,

चूर्तीयैकयवनम् । मज्जयति शत्रून् । "नामा पृथिव्या भुवनस्य

मज्जना (ऋ० सं० २, २, १२, ४)" — "स इमहानि समिथानि

मज्जना (ऋ० सं० १, ४, १६, ५)" — "यि रोदसी मज्जना पाधते

शयः (ऋ० सं० १, ४, १०, ५)" — इति निगमः । निगमेषु तृती-

यैकयवनान्तस्य प्राणशो दर्शनान् तदन्तः पठितः ॥

(२४) पौस्यानि । 'पु' सि भमिचर्द्धने (प०) चुपदि । अज्या-

दयश्च (उ० ४, १०८)" — इति यत्प्रत्ययान्तेषु निपातिनेषु द्रष्टव्यः ।

“पौंस्यानि नियुतः सञ्चुरिन्द्रम् (ऋ० सं० ४, ७, ८, ३)” —
 “यस्मिन् विश्वानि पौंस्या (ऋ० सं० १, १, १०, ४)” — “महत्तदस्य
 पौंस्यम् (ऋ० सं० १, ५, ३०, ५)” — इति निगमाः ॥

(२५) घर्णसि । ‘धुञ् घारणे (भू० उ०)’ । “सानसिघर्णमिष
 र्णसि (उ० ४, १०४)” — इत्यसिप्रत्ययो नुमागमोऽपि निपात्यते
 गुणः । ध्रियतेऽनेन राज्यादि । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२६) द्रघिणम् । द्रु गतौ (भू० ष०) । ‘दृदक्षिम्यामिनिन्
 (उ० २, ५२)’ । “सनो ददातु द्रघिणम्” — इति निगमः ॥

(२७) स्यन्द्रास । ‘स्यदि किञ्चिच्चलने (भू० आ०) ।
 ‘अन्ध्रान्ध्रसिलिन्ध्रेध्रपुंङ्गतीघ्रशीघ्रगोरेन्द्राभद्रस्यन्द्रकुलीरादयः’ इति
 रन्प्रत्ययान्तो निपात्यते । तस्मात् जसेरसुक् (७, १, ५०) ।
 स्यन्दतेऽनेन शत्रूक् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२८) शम्बरम् । ध्यात्वातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ७६) ।
 संध्रियतेऽनेन शत्रुः, संवृणोति वा तत्संघत भाष्यम् । शम्भन्मुपद्र-
 घाणामुत्कृष्टं च युद्धादौ, शम्भेतेन्द्रेणादीयते वा । यलाधि-
 वेधताहीन्द्रः । ‘या च का च चलहृतिरिन्द्रकर्मैव तत् (निर०
 ७, १०)’ — इति भाष्यम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इत्यष्टाविंशतिर्यलनामानि ॥६॥

मघम् (१) । रेक्णः (२) । रिक्थम् (३) ।
 वेदः (४) । वरिवः (५) । श्वात्रम् (६) ।
 रत्नम् (७) । रयिः (८) । क्षत्रम् (९) । भगः (१०) ।

मीव्वहुम् (११) । गयः (१२) । द्युम्नम् (१३) ।
इन्द्रियम् (१४) । वसु (१५) । रायः (१६) ।
राधः (१७) । भोजनम् (१८) । तना (१९) ।
नृम्णम् (२०) । चन्धुः (२१) । मेधा (२२) ।
यशः (२३) । ब्रह्म (२४) । द्रविणम् (२५) ।
श्रवः (२६) । वृत्रम् (२७) । वृतम् (२८) ।
इत्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥१०॥

(१) मघम् । महतिर्दानकमां (ऋ० ३, २०, १०) । 'घप्रर्थे कविधानम् (३, ३, ५८ घा०)'—इत्यत्र परिगणितस्य प्रायिकत्वात् कप्रत्यये पृषोदरादित्वात् लोपो हकारस्य घकारश्च । दीयतेऽर्थिभ्यः । "तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम् (ऋ० सं० ७, २, ३३, ५)" —"यदिन्द्र दक्षिणा मघोनी (ऋ० सं० २, ६, ६, ६)"—इति निगमौ ॥

(२) रेवणः । 'रिचिर् चिरेवने (ऋ० उ०)' । 'रिचेर्धने घिश्च (उ० ४, १६४)'—इत्यसुन, नुडागमो गुणश्च, घित्त्वात् 'चजोः कुघिण्यतोः (७, ३, ५२)'—इति कुत्वम् । रेवण इति धननाम, रिच्यते प्रयतः (निरु० ३, २)—इति भाष्यम् । रिच्यते अघतिष्ठने प्रयतः स्त्रियमाणस्य धनं धनिना सह न स्त्रियत इत्यर्थः । 'रेवणो धनं ारचेः प्रेरणार्थात्'—इति माधवः । 'प्रेर्यतेऽनेन दत्तेन

भृत्यादिः कर्मसु । “स्पाहं यद्रेक्कणः परमं घनोपि तत् (ऋ० सं० १, २, ३४, ४)”—“परिपद्यं ह्यरणस्य रेक्कणः (ऋ० सं० ५, २, ६, २)”—इति च निगमौ ॥

(३) रिक्थम् । रिक्थेः (ऋ० उ०) ‘पातृतुदिवचिरिचिलि-
चिभ्यस्थक् (उ० २, ६)’—इति थक् । पूर्ववद्बर्थः । “न जामये
नान्यो रिक्थमारैक् (ऋ० सं० ३, २, ५, २)”—इति निगमः ॥

(४) वेदः । ‘विद्वल् लामे (अद्वा० प०)’ । असुन् । विद-
न्त्येतन्, लभ्यते घाऽनेन धर्मादिः । “होतारं विश्ववेदसम्
(ऋ० सं० १, १, २२, १)”—इति निगमः ॥

(५) धरिषः । वृष् धरणे (स्वा० उ०) अस्माद् यद्बलुग-
स्तात् असुनि यादुलकादिलोपः । भृशं त्रियते, धरिषसो
हेतुत्वाद्वा । धरिषः ‘धित्तं घन्धुर्ययः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् (२, १३, ६)’—इति
मनुः । “युधा देवेभ्यो धरिवध्वकर्थ (ऋ० सं० १, ४, २०, ५)”
—“अंहो राजन् धरिषः पूरये कः (ऋ० सं० १, ५, ५, २)”
—इति निगमौ ॥

(६) आशुशब्दः । आशुशब्दः उपपदे ‘अत सातम्यगमने (भू०
प०)’—इत्यस्मात् आदित्यश्चिदसि’—इति हृन्प्रत्ययः, पृषोदगा,
दित्येन आशुशब्दश्च व्युत्पत्स्यते, यणादेशसवर्णदीर्घौ । आशु
अतति आशु गच्छति, चञ्चलं हि धनम् । निगमोऽन्वेपर्णाय ॥

(७) रताम् । ‘रमु क्रीडायाम् (भू० आ०)’ ‘रमेस्त च
(उ० ३, १२)’—इति अप्रत्ययः तकारश्चान्तादेशः रमणीयं हि

तत् । 'रमतेऽस्मिन्'—इति क्षीरस्थामी । 'वित्ते, रमस्व बहु
मन्यमानः'—इति श्रुतिः । "घा रत्नं महि स्थूरं बृहन्तम् (ऋ०
सं० ४, ६, ८, ५)"—होतारं रत्नघातमम् (ऋ० सं० १, १, १,
१)"—इति निगमो ॥

(८) रयिः । व्याख्यातमुदकनामसु (१म० १२ख० ७३) । गम्यते
प्राप्यते पुण्येन गच्छत्यनेन वृत्तिं भोगसाधनत्वात्, यशो वाऽऽ-
दत्ते, दीयतेऽर्थिभ्य इति वा । "अग्निना रयिमश्नवत् (ऋ० सं०
१, १, १, ३)"—इति निगमः ॥

(९) क्षत्रम् । व्याख्यातमुदकनामसु (१म० १२ख० ४५) । पूर्व-
जन्मसुकृतघनेन तद्वति स्थिरं भवति, गृह्यते उपभोगसाधनत्वात्,
हिनस्ति दास्यम् । गतापि शब्दवदर्थः । । क्षतात् पापात्
प्राप्यते । क्षत्रशब्दात् प्राप्यतेऽप्युदरादिरवात् क्षत्रम् । धनैरेव
पापं नरा निस्तरन्तीत्युच्यते । "न हि ते क्षत्रं न सहो न मन्युम्
(ऋ० सं० १, २, १, १)"—"सुक्ष्मासो यिषादसः (ऋ० सं०
१, १, ३६, ५)"—इति च निगमो ॥

(१०) भगः । 'भज सेवायाम् (भू० उ०)' । 'पुंलि सङ्गायां
घः प्रायेण (३, ३, ११८)' 'चजोः कुप्रिण्यतोः (७, ३, ५२)' ।
अभ्यते सेव्यते भोगार्थिभिः । यद्वा सेव्यतेऽनेन हेतुना तद्वान् ।
भगशब्दः पुंलिङ्गो धनवचनः । "शिक्षास्तोतृभ्यो मातिभ्रमगो नः
(ऋ० सं० २, ६, ६, ६)"—"यद्वित्त—सोभगः"—इति निगमो ॥

(११) मीचबहुम् । 'मिह सेवने (भू० प०)' । 'दत्तचत्वर्यपु-
त्यदलोपदीर्घः, व्यहकारमापद्य । सिच्यतेऽर्थिभ्यो दातृभिः ।

‘सहस्रमीव्हुहुमशिवानमा इत्यत्र । भट्टभास्करमिश्रभाष्येऽपि मीव्हु इति धनं नाम’—इति दृश्यते । ततो निघृत्य उकारान्त-निगमदर्शनाभावात् अकारान्तनिगमदर्शनात् उकारान्ताकारान्तद्वयोरपि स्वीकारोऽस्माकम् । “रुद्रस्य ये मीव्हुपः सन्ति पुत्राः (ऋ० सं० ५, १, ७, ३)”—“तां आ रुद्रस्य मीव्हुपः (ऋ० सं० ५, ४, २८, ५)”—इत्यादौ निर्वाहकृष्टत्वात् “मीव्हुम्”—इति षष्ठितत्त्वमिति केचिदाहुः । अन्ये तु “मीव्हः”—इति सकारान्तमपि । तेषां मीव्हांसमिति निर्वाहः । उभयेषामपि “सहस्रमीव्हः (ऋ० सं० १, ७, ३४, ५)”—इत्यकारान्तस्य पाठोऽपेक्षणीयः । यदुभयस्तु निर्णयः ॥

(१२) गयः । व्याख्यातमपत्यनामसु (०अ० २८० ८) । इहापि तदर्थः । गीयते स्तूयते होतृभिः । “अपक्षदाशुपेगयम् (ऋ० सं० १, ५, २१, २)”—इति निगमः ॥

(१३) घुस्रम् । ‘घुस्रसुस्रनिघ्न’—इत्यादिना ‘घुत दीप्तौ (भू० आ०)’—इत्यस्मात् नप्रत्ययो मकारध्वान्तादेशो निपात्यते । तेन तदुवाच । दीप्यते घुस्रम् । ‘घु अभिगमने (अदा० ५०)’—इति शीरस्वामी । अत्र धातोर्मंगागमो निपात्यते । “घुस्रं सहस्रसातमम् (ऋ० सं० १, १, १८, ३)”—“घुस्रायाजेभिरागतम् ।”—इति च निगमौ ॥

(१४) इन्द्रियम् । ‘इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रहृष्टमिन्द्रखृष्टमिन्द्र-
जुष्टमिन्द्रदत्तमिति पा (५, ३, ६३)’—इति घप्रत्ययान्तमन्तोदात्तं निपात्यते । इन्द्रः—‘इदि परमैश्वर्ये (भू० ५०)’ परमैश्वर्ययुक्तः

उच्यते । इन्द्रस्य लिङ्गम् । धनेन हि ऐश्वर्य्ययुक्त इति व्यज्यते ।
अत्र पष्ठी, समर्थात्, लिङ्गार्थे घम् । यद्वा, इन्द्रेण दृष्टम्
इन्द्रियम् । यद्वा, इन्द्र आत्मा, तत्कृतेन शुभाशुभेन कर्मणा सृष्टम् ।
इन्द्रजुष्टं वा, आत्मना सेवितम्, तद्गुहारेण भोगोत्पत्तेः । इन्द्र-
दत्तं वा, इन्द्रेण पूर्वकर्मणा वा अस्त्युपदत्तम् । सृष्टजुष्टदत्तार्थेषु
तृतीया समर्थात् । “दक्षिणं पादमचनेनिजेऽसिनाप्रा इन्द्रियं
दद्यामि (ये० ब्रा० ८, ५, ४)”—इति निगमः ।

(१५) घसुः । रात्रिनामसु “घसी”—इत्यत्र (६६ पृ०)
व्याख्यातम् । घस्ते आच्छादयति तिरोभावयति दाद्विद्यम् । “अहं
भुयं घसुनः पूर्व्यस्पतिः (ऋ० सं० ८, १, ५, १)”—इति निगमः ॥

(१६) रायः । ‘रा दाने (अदा० प०)’ । ‘रातेर्दः (उ० २,
६२)’ । जस् । दीयतेऽर्थिभ्यः, तदेव प्राप्यते वा पूर्वकृतेन
पुण्येन । “अनामृणः कुचिदादस्य रायः (ऋ० सं० १, ३, १, १)”—
इति निगमः ॥

(१७) राघः । ‘राघ साध संसिद्धौ (स्वा० प०)’ । असुन ।
‘राध्नुषन्ति साध्नुषन्ति धर्मादीन् पुरुषार्थान्’—इति स्कन्दस्वामी ।
राध्यतेऽनेन धर्मादिरिति वा । राधिर्हि सायोंऽपि । दिनस्ति
दाद्विद्यम् । “राघ इन्द्र घरेण्यम् (ऋ० सं० १, १, १७, ५)”—
“राघस्तन्नो पिद्वत्सऽउमयहस्त्यामर (ऋ० सं० ४, २, १०,
१)”—इति निगमो ॥

(१८) भोजनम् । ‘भुज पाठनाभ्यवहारयोः (र० प०)’ ।
ल्युट् ‘ल्युट्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)’—इति । यद्वा, अभि-

मतार्थे भवति भुज्यते तद्वहिः, भुज्यन्तेऽनेन विपया इति वा,
पालयतेऽनेन वा । “शत्रूयतामा भरा भोजनानि (ऋ० सं० ३, ८,
१८, ५)” — “मा नः प्रिया भोजनानि ॥ मोषीः (ऋ० सं०
१, ७, १६, ३)” — इति निगमौ ॥

(१६) तना । ‘तनु विस्तारै (त० प०)’ । पचाद्यच् (३, १,
१३४) । तनोति विस्तारयति त्रिवर्गसाधनं हि धनम् । तृतीयै-
कघचनस्य ‘सुपां सुलुक् (७, १, ३६)’ — इत्याकारः । “विद्वयन्ते
तना गिरा (ऋ० सं० ६, ३, २५, १)” — “आ घो मधू तनाय
कम् (ऋ० सं० १, ३, १६, २)” — इति निगमौ ॥

(२०) नृम्णम् । व्याख्यातं यल्लनामसु (२३२ पृ०) । नमति
प्रह्वीकरोत्यर्थिभ्यस्तद्वपस्तु । “हस्ते दधानो नृम्णा विभ्वानि
(ऋ० सं० १, ५, ११, २)” — इति निगमः ॥

(२१) यन्धुः । ‘यन्ध यन्धने (य्या० प०)’ । “भृस्वृजिहि-
त्रप्यसिषसिहनिक्त्रिदियन्धिमतिभ्यश्च” — इति उप्रत्ययः । यध्ना-
त्यनेन भृत्यादीन् । यद्वा, यन्धुरिय यन्धुः । “अयन्धुना सुध्र-
घसोपजग्मुषः (ऋ० सं० १, ४, १६, ४)” — इति निगमः ॥

(२२) मेघा । ‘मिधृ मेधृ सङ्गमे च (भू० उ०)’ चकारान्
हिंसामेधयोश्च । ‘मिधिः सङ्गस्यर्थः’ — इति माधयः । घम् ।
सङ्गच्छतेऽनेन सयं तदुपता, दिम्यते वा तदुषान् चौरादिभिः ‘मन्ति
चेवार्थकारणात्’ — इति मदाभारतम् । यदुषा, मतो धीयते
अर्जयितव्यं रक्षितव्यं दातव्यमिति घनपता युद्धो घनं धाप्यते ।
तत्र मतिशब्द उपपदे धातोः ‘घप्रर्थं कविधानम् (३, ३ ५८ पा०)’

—इति कः, पृषोदरादित्यात् (६, ३, १०६) मतिशब्दस्य मेभावः ।
“मेधाकारं विदधस्य प्रसाधनम् (ऋ० सं० ८, ४, २१, ३)” —
इति निगमः ॥

(२३) यशः । व्याख्यातमघनामसु (२२७ पृ०) । “उत
त्या मे यशसाश्चेतनायै (ऋ० सं० २, १, १, ४)” —इति निगमः ॥

(२४) ब्रह्म । व्याख्यातमघनामसु (२२८ पृ०) । घर्हन्ते-
ऽनेन धर्मादयः, बृंहकं वा भोगानाम् । “अस्माकं ब्रह्म पृतनासु
सह्या (ऋ० सं० २, २, २२, ७)” —इति निगमः ॥

(२५) द्रविणम् । व्याख्यातं चलनामसु (२३६ पृ०) ।
रयिषदर्थः । “त आ यजन्त द्रविणां समस्मै” —इति
निगमः ॥

(२६) अथः । व्याख्यातमघनामसु (२२१ पृ०) । “अस्मै
पृथुभ्रयो बृहत् (ऋ० सं० १, १, १८, २)” —“बृहच्छ्रया असुरो
यर्हणावृतः (ऋ० सं० १, ४, १७, ५)” —इति निगमौ ॥

(२७) बृत्रम् । व्याख्यातं मेघनामसु (६० पृ०) । आच्छाद-
यति द्वायिद्र्यम्, आच्छाद्यते वा राजतः करादिभयात् । गत्यर्थे
रयिषदर्थः । बृद्धौ ब्रह्मवदर्थः । “बृत्रं पुरुकुदसाय रन्धीः (ऋ०
सं० २, ४, १६, २)” —इति निगमः । अत्र स्कन्दस्वामिना ‘बृत्रं
घननाम’ —इति व्याख्यातत्वात् केषुचित् कोशेषु दृश्यमानमपि
“चित्तम्” —इति ॥ पठनीयम् ॥

(२८) वृतम् । ‘वृङ् सम्प्रक्तौ (क्रया० प०)’ । ‘दुतनिभ्यां
दीर्घश्च वा (३० ३, ८७)’ —इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्

कप्रत्ययः । सम्मज्यते सर्वैः । “वृत्तञ्चयः सद्गुरिर्विश्वारितः
(ऋ० सं० २, ६, २७, ३)”—इति निगमः ॥

इत्यष्टाविंशतिरेव घननामानि ॥ १० ॥

अह्न्या (१) । उह्या (२) । उह्रिया (३) ।
अही (४) । मही (५) । अदितिः (६) ।
इला (७) । जगती (८) । शकरी (९) । इति
नव गो (मातृ) नामानि ॥ ११ ॥

अह्न्या । ‘अहन्तव्या भवतीत्यघघ्रीति वा (निघ० ११,
४३)’—इति भाष्यम् । अघस्य दुर्मिक्षादेहंश्री वा अहातव्या ।
अघ शब्दे नञि वा उपपदे हन्तेः ‘अघ्यादयश्च (उ० ४, १०८)’
—इति घत्प्रत्ययात्तं निपात्यते । “नहि मे अह्न्या (ऋ०
सं० ६, ७, १२, ४)”—“अदि तृणमाग्नये विश्वहानी (ऋ० सं०
२, ३, २१, ५)”—इति निगमौ ॥

(२) उह्या । व्याख्यातं रश्मिनामसु (१५५ पृ०) । घलति
क्षीरादि हविरस्याम् । ‘उह्रियेति गोनामोत्स्राविणोऽस्यां
भोगा उह्रिति च’—इति (निघ० ४, १६) भाष्यम् । ‘उत्-
स्राविणोऽस्यां भोगास्ते उह्र्यर्धं स्रवन्ति गच्छन्ति क्षीरदधिनप-
नीतप्रमेण’—इति स्कन्दस्यार्मा । “मयोभूर्वातो भमिघातृन्नाः
(ऋ० सं० ८, ८, २७, १)”—“उह्यः पितेव जारयायि यज्ञैः
(ऋ० सं० ४, ५, १४, ४)”—इति च निगमौ ॥

(३) उस्त्रिया । उस्त्रशब्दात् पृषोदरादित्वेन स्वार्थे घः ।
अर्थः पूर्ववत् “अचित्र उस्त्रिया अनु (ऋ० सं० १, १, ११, ५)”
—“समुस्त्रियामिर्वाचशन्त नरः (ऋ० सं० १, ५, १, ३)”—
इति च निगमो ॥

(४) अही । अहिशब्दो व्याख्यातो मेघनामसु (८७ पृ०) ।
'हृदिकारात् : (४, १, ४५ वा०)'—इति डीप् । गम्यतेऽनया
क्षीरादिद्वयिः, गम्यते दत्तया पुण्यम्, अ'हति शृङ्गादिना मनु-
ष्यान्, न हन्तव्या घा । निगमोऽन्वेषणीयः । “ईक्षेण्यासो अहो ३
नचायवः (ऋ० सं० ७, ३, २, ३)”—इति भाष्यं द्रष्टव्यम् ॥

(५) मही, (६) अदितिः, (७) इला । व्याख्यातानि पृथि-
वीनामसु (१४ पृ०, ३२ पृ०, ३३ पृ०) । तत्र यनेः क्तिनि, 'यतिस्यति
(४, ७, ४०)'—इतीत्ये दितिः, नप्समासः । इत्यदितिशब्दस्य
व्युत्पत्तिः । मह्यते पूज्यते सर्वदेवतात्मकत्वात् उपमोगसाधन-
त्वाद्वा । महान्तेऽनया देवाः पय आदीनां द्रवियां तदायत्त-
त्वात् । “दैयाश्च यामिर्यजते वदाति च”—इति श्रुतिः । पुनः
पुनः दुह्यमानापि न क्षीयते । न यति, अखण्डनीया घा ।
ईड्यते स्तूयते देवतात्वात् ईष्यते घा चारक्षया । गम्यते तद-
र्थिमिरिति घा । “महीनां पयोऽसि (य० वा० सं० ४, ३)”—
इति, “अदित एहि सरस्वत्येहि (य० वा० सं० ३८, २)”—
इति, “मिमिक्षा समिलाभिरा (ऋ० सं० १, ४, ५, ६)”—
“इडे रन्ते ह्ये काम्ये (य० वा० सं० ८, ४३)”—इति च
निगमाः ॥

(८) जगती । मनुष्यनामसु “जगतः”—इत्यत्र व्याख्यातम् (२०० पृ०) । शतृ । “उगितश्च (४, १, ६)”—इति ङीप् । गम्यते तदर्थमिति । जगत्या छन्दसा आहार्यत्वाद् अत्राहार्याहरणयोरभेदेन वा जगती । “जागता हि पशवो जगती हि ताम्राहरत्”—इति हि ग्राह्यणम् । “जागताः पशवः (ऐ० ब्रा० ४, १, ३)”—इति च । “समोपधयोरसेन स रेवतीर्जगतीभिः”—इति निगमः ॥

(९) शकरी । व्याख्यातं याहुनामसु (२०७ पृ०) । शक्नोति क्षीरादिप्रदानेन सद्बुधस्तं प्रीणयितुं स्पर्शनेन वा पापमपनेतुम् । शकरीशब्दसम्यग्धादभेदेन वा शकरी । “पशवो वै शक्यः पशून्पाचयिष्यते”—इति ध्रुतिः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इति नव गो (मातृ) नामानि ॥ १६ ॥

रेलते (१) । हेलते (२) । भामते (३) । हृणीयते (४) । भ्रीणाति (५) । भ्रपति (६) । दोधति (७) । वनुष्यति (८) । कम्पते (९) । भोजते (१०) । इति दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥ १२ ॥

(१) रेलते । अयं नैरुक्तो धातुः । “अरेलता मनसा देवानां पतेत्”—इति निगमः ॥

(२) हेलते । ‘दिङ् अनादरे क्रोधे च’ भूयादिरात्मनेपदो । “अहेलमानोररिषां अजाश्च (ऋ० सं० २, २, २, ४)”—

“अहेलमानो परणोह चोधि (ऋ० सं० १, २, १५, १)” — इति निगमौ ॥

(३) भामते । ‘भाम क्रोधे’ भूवादिरात्मनेपदी । “देव जुष्टोच्यते भामिनेगोः (ऋ० सं० १, ५, २५, १)” — “स्वयम्भू-
र्भामो अभिमातिपाहः (ऋ० सं० ८, ३, १८, ४)” — इति
निगमौ ॥

(४) हुणीयते । ‘हुणीङ् रोये वैमनस्ये च’ कण्ड्यादिः ।
“पुनः प्रायच्छद्दहुणीगमानः (ऋ० सं० ८, ६, ७, २)” — हुणीय-
मानो अथ हिमदैयेः (ऋ० सं० ३, ८, १५, २)” — इति
निगमौ ॥

(५) घ्रीणाति । ‘घ्री भये’ कृयादिः परस्मैपदी । अनेका-
र्थत्वात् कृध्यतिकर्मा । पचमुत्तरत्रापि । “एनः कृष्यन्तमसुरं
घ्रीणन्ति (ऋ० सं० २, ७, १०, २)” — इति निगमः ॥

(६) श्रेषति । ‘श्रेषु घटने’ भूवादिः स्वरितेत् । निगमोऽ-
न्वेषणीयः ॥

(७) दोधति । नैस्तो घातुः । “इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः (ऋ०
सं० १, ५, २६, ५)” — इति निगमः ॥

(८) वनुष्यति । ‘वनुष्यतिर्दन्तिकर्मा (निरु० ५, २)” —
इत्यत्र स्वन्वस्वामी — ‘वनोतेः कण्ड्यादिप्रक्षेपात् ययप्रत्ययः, तत्स-
न्नियोगेन च वनुभावो द्रष्टव्यः’ — इति । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(९) कम्पते । ‘कपि चलने’ भूवादिरात्मनेपदी । निगमो-
ऽन्वेषणीयः ॥

(१०) भोजते । ‘भुज कौटिल्ये’ तुदादिः परस्मैपदी ।
 ‘छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)’—इत्यार्द्धधातुकत्वात् गुणः ।
 व्यत्ययेनात्मनेपदम् । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

इति दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥ १२ ॥

हेलः (१) । हरः (२) । घृणिः (३) । त्यजः
 (४) । भामः (५) । राहः (६) । ह्वरः (७) ।
 तपुषी (८) । जूर्णिः (९) । मन्युः (१०) ।
 व्यथिः (११) । इत्येकादशः क्रोधनामानि ॥ १३ ॥

(१) हेलः । हेलतेः भाषे असुन् । “वैषस्य हेलोऽवयासि
 सीष्ठाः (ऋ० सं० ३, ४, १२, ४)”—इति निगमः ॥

(२) हरः । ‘हृज् हरणे (भू० उ०)’ असुन् । हरति हृत्या-
 हृत्यविवेकं, हियते चाऽनेन पुरुषः स्वयशम्, दुर्जयोऽन्तरः शत्रुः
 क्रोधः । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(३) घृणिः । ज्वलन्नामसु व्याख्यातम् (१७६ पृ०) ।
 क्षरत्यनेन स्वेदादिः, दीप्यतेऽनेन पा, क्रुद्धोऽग्निरिषि ज्वलति हि
 प्रसिद्धः । “आघृणे संसचावहे (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)—
 इति निगमः । ‘भां हृणानस्य (ऋ० सं० १, २, १६, २)—
 इत्यत्र भाष्ये’—हृणिरिति क्रोधनामसु पाठात् हरति क्रोधार्थोऽपि
 गम्यते’—इति स्कन्दसामी, तच्च कथमिति विचिन्त्यम् ॥

(४) त्यजः । 'त्यज हानौ (भू० प०)' । असुन् । त्यज्यते सत्पुरुषैः, त्यज्यन्तेऽनेन प्राणा इति घा, त्यज्यते घा स्वधर्मः । "क्रुद्धः पापं किञ्च कुर्यात् क्रुद्धो हन्यात् गुरुनपि । क्रुद्धः पश्यया घाञ्चा नरः साधूनपि क्षिपेत्"—इति हि महाभारतम् । "महश्चिदसि त्यजसो परुता (ऋ० सं० २, ४, ८, १)" — "किं देवेषु त्यज एनश्चकथं (ऋ० सं० ८, ३, १४, ६)" — इति निगमौ ।

(५) भामः । भामतेभाघे घञ् । यद्वा 'भा दीतौ (अदा० प०)' । 'अस्तिस्तुसुहृदृक्षिभुमायापापदियक्षिर्नाभ्यो मन् (उ० १, १३७)' — इति मन् । दीप्यते सेन तद्वान् । "देवजुषोच्यते भामिते गीः (ऋ० सं० १, ५, २५, १)" — "स्वयम्भूर्भामो अभिमातिपाहः (ऋ० सं० ८, ३, १८, ४)" — इति निगमौ ॥

(६) एहः । 'हन हिंसागत्योः (अदा० प०)' असुन् । 'नञि हन एह च (उ० ४, २१८), — इति नञ्युपपदे विधीयमान एहादेशो घादुलकात् नञ्विनापि भवति । "अनेहसस्ते हरिषो अभिष्टौ (प्र० सं० ८, १, ३०, २)" — इति निगमः ॥

(७) हरः । 'हृ कौटिल्ये (भू० प०)' अस्तिकर्मा च । असुन् । हरति कुटिलो मयत्यनेन अस्ति घा ।

(८) तपुषी ।

(९) जूर्णिः । जूर्णिर्जयतेर्चा द्रवतेर्चा जीर्यतेर्चा — इति भाष्यम् (नि० ६, ४,) । गच्छत्यनेन दुःखं, लोकगर्हं च हिनस्ति परान् घा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१०) मन्युः । 'मन ज्ञाने (तना० आ०)' । 'यजिम-
निशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् (उ० ३, १८)'—इति युच् ।
वाहुलकादनादेशाभावात् । शायते त्याज्यत्वेन । यद्वा, मन्यते-
दीप्तिकर्मणो युच् । "दीप्यतेऽनेन तद्वान् । न हि ते क्षत्रं न
सहो न मन्युम् । (ऋ० सं० १, २, १४, १)"—"आ
हृणानस्य मन्यवः (ऋ० सं० १, २, १६, २)"—इति
निगमौ ॥

(११) व्यथिः । 'व्यथ भयचलनयोः (भू० आ०)' । 'इन्
सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इति इन् । विभेत्यस्मात् सज्जनः,
चलति घानेन स्वधर्मात् । "पतत्रिभिरधमैरव्यथिभिः (ऋ० सं०
५, ५, १६, ७)"—"अग्ने माकिण्ये व्यधिरा दधर्षीत् (ऋ० सं०
३, ४, २३, ३)"—इति च निगमौ ॥

इत्येकादश प्रोधनामानि ॥ १३ ॥

वर्तते (१) । अयते (२) । लोटते (३) ।
लोठते (४) । स्यन्दते (५) । कसति (६) ।
सर्पति (७) । स्यमति (८) । स्रवति (९) ।
स्वंसति (१०) । अव्रति (११) । श्रोतति (१२) ।
ध्वंसति (१३) । वेनति (१४) । मार्ष्टि (१५) ।
भुरण्यति (१६) । शवति (१७) । कालयति (१८) ।

पेलयति (१६) । कण्टति (२०) । पिस्यति (२१) ।
 विस्यति (२२) । मिस्यति (२३) । प्रवते (२४) ।
 प्लवते (२५) । व्यवते (२६) । कवते (२७) ।
 गवते (२८) । नवते (२९) । क्षोदति (३०) ।
 नक्षति (३१) । सक्षति (३२) । म्यक्षति (३३) ।
 सचति (३४) । ऋच्छति (३५) । तुरीयति (३६) ।
 चतति (३७) । अतति (३८) । गाति (३९) ।
 इयक्षति (४०) । सश्चति (४१) । त्सरति (४२) ।
 रंहति (४३) । यतते (४४) । भ्रमति (४५) ।
 ध्रजति (४६) । रजति (४७) । लजति (४८) ।
 क्षियति (४९) । धमति (५०) । मिनाति (५१) ।
 ऋण्वति (५२) । ऋणोति (५३) । स्वरति (५४) ।
 सिसर्ति (५५) । विषिष्टि (५६) । योषिष्टि (५७) ।
 रिणाति (५८) । रोयते (५९) । रेजति (६०) ।
 दध्यति (६१) । दभ्नोति (६२) । युध्यति (६३) ।
 धन्वति (६४) । अरुपति (६५) । आर्यति (६६) ।

सीयते (६७) । तकति (६८) । दीयति (६९) ।
 ईपति (७०) । फणति (७१) । हनति (७२) ।
 अर्दति (७३) । मर्दति (७४) । ससृते (७५) ।
 नसते (७६) । ह्य्यति (७७) । इयत्ति (७८) ।
 इर्रो (७९) । ईङ्गते (८०) । जयति (८१) ।
 श्वात्रति (८२) । गन्ति (८३) । आगनीगन्ति (८४) ।
 जङ्गन्ति (८५) । जिन्वति (८६) । जसति (८७) ।
 गमति (८८) । ध्रति (८९) । ध्राति (९०) ।
 ध्रयति (९१) । वहते (९२) । रथर्यति (९३) ।
 जेहते (९४) । प्वःकति (९५) । क्षम्पति (९६) ।
 प्साति (९७) । वाति (९८) । याति (९९) ।
 इपति (१००) । द्राति (१०१) । द्रूलति (१०२) ।
 एजति (१०३) । जमति (१०४) । जवति
 (१०५) । वञ्चति (१०६) । अनिति (१०७) ।
 पवते (१०८) । हन्ति (१०९) । सेधति (११०) ।
 अगन् (१११) । अजगन् (११२) । जिगाति

(११३) । पतति (११४) । इन्वति (११५) ।
 द्रमति (११६) । द्रवति (११७) । वेति (११८) ।
 हन्तात् (११९) । एति (१२०) । जगायात् (१२१) ।
 अयथुः (१२२) इति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः ॥

अत्र पतते इत्यादीनां गत्यर्थानां गतिकर्मकत्वं स्कन्दस्या-
 मिना प्रतिपादितम् । अनेकार्थत्वाद्वा गतिकर्मत्वम् । एष्यप्र-
 दर्शितनिगमानां निगमा अन्वेषणीयाः । अनुकषिकरणानां
 भूयादित्वं शेषम्, अनुक्तौ परस्मैपदित्वञ्च ॥

(१) पतते । 'धृत् पतने (भू०)' आत्मनेपदी ॥

(२) अयते । (१) लोटते । (४) लोटते ॥

(५) स्पन्दते । 'स्पन्दु प्रस्रवणे (भू०)' । आत्मनेपदी ।

"स्पन्दन्तां कुल्या चिपिताः पुरस्तान् (ऋ० सं० ४, ४, २८, ३)"

—इति निगमः ॥

(६) कसति । 'कस गती (अदा० प०)' ।

(७) सर्पति । 'सृष्ट गती (भू० प०)' । "नमो अस्तु सर्पभ्यः"

—"अहिर्न जूणांमति सर्पति त्वचम् (ऋ० सं० ७, ३, २०, ४)"

—इति निगमौ ॥

(८) स्पमति ।

(९) स्रवति । 'सृष्ट गती (भू० प०)' । "अवधवेदघशंसो

घतरम् (ऋ० सं० २, १, १७, १)" —इति निगमः ॥

(१०) संसते । 'संसु अवसंसने (भू० प०)' आत्मनेपदी ।
 "जातेन जातमति स प्र ससृते (ऋ० सं० २, ७, ४, १)"—इति
 निगमः । 'ससतिरन्तर्णीतण्यर्थः'—इति हरदत्तः ॥

(११) अवति । 'अव रक्षणगत्यादौ (भू० प०)' "प्राचन्
 घाणीः पुरुहूतं धमन्तीः (ऋ० सं० ३, २, २, ५)"—"तं
 घेदग्निवृधावति (ऋ० सं० ६, ५, २६, ४)"—इति निगमौ ॥

(१२) ध्योतति । 'ध्योतिरक्षरणे (भू० प०)' । "ध्योतस्ति ते
 यसो स्तोकाः (ऋ० सं० ३, १, २१, ५)"—इति निगमः ॥

(१३) ध्वंसति ।

(१४) घेनति । नैरुक्तघातुः । "आ प्र द्रव हरियो मा वि
 घेनः (ऋ० सं० ४, १, २६, २)"—"नासत्या मा वि घेनतम्
 (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)"—इति निगमौ ॥

(१५) मार्षि । 'मृज शुद्धौ' अदादिः । "मृगो न भीमः
 (ऋ० सं० २, २, २४, २)"—"उ रावन्तरिक्षो मर्जयन्त (ऋ०
 सं० ५, ४, ६, ३)"—इति निगमौ ॥

(१६) भुरण्यति । 'भुरण धारणपोषणयोः' कण्ड्यादिः ।
 "भुरण्यन्तं जनां अनु (ऋ० सं० १, ४, ८, १)"—"शुचिर्वीं
 स्तोमो भुरणावर्जगः (ऋ० सं० ७, ७, २२, १)"—इति च
 निगमौ ॥

(१७) शयति । 'शय गती' । 'शु गती—इति स्कन्दम्यामी,
 "मा भेम शयसस्पने (ऋ० सं० १, १, २१, २)"—इति
 निगमः ॥

(२७) कचते । 'कुङ् गन्तिशोषणयोः (भू० आ०)' । "नीची-
नवारं घरुणः कवन्धम् (ऋ० सं० ४, ४, ३०, ३.)"—इति
निगमः । 'कचतेर्गतिकर्मणः कवन्धमुदकम्'—इति स्कन्द-
स्वामी ॥

(२८) गचते ।

(२९) नचते । 'णु स्तुर्वी' अदादिः (प०) । 'यहुलं
छन्दसि (२, ४, ७५)"—इति शपो छुगभायः, आत्मनोपयन्तु
व्यत्ययेन । 'प्रधेनय उदप्रुतो नचन्त (ऋ० सं० ५, ४, ६, १)"—
इति निगमः ॥

(३०) क्षोदति । क्षुदिद् सम्प्रेषणे' दधादिः, रचरितेत् ।
व्यत्ययेन शप् । "क्षोदन्त आपो रिणते पत्नानि (ऋ० सं० ४,
३, २३, ६)"—इति निगमः ॥

(३१) नक्षति । 'नक्ष गती (भू० प०)' । "शफच्युतोरेणु-
नक्षन् घाम् (ऋ० सं० १, ३, ३, ४)"—इति निगमः ॥

(३२) लक्षति । 'पच समपाये' स्वरितेन् (भू०) । 'सिप्
यहुलं लिटि (३, १, ३४)' 'लिटोऽडाटो (३, ४, ६४)' । नैरुक्तधातु-
र्षा । "लक्ष्यादेव प्र णस्तुरः (ऋ० सं० १, ३, २४, १)"—इति
स्कन्दस्वामी ॥

(३३) म्यक्षति । म्यक्षेर्गतिकर्मणो रूपम्—इति स्कन्दस्वामी ॥

(३४) सचति । सच समपाये (भू० उ०) । "अचिउप्त-
पत्राः सचन्ताम् (ऋ० सं० १, २, ६, १)"—"अग्निं पिपा
अग्निं पृष्टः सचन्ते (ऋ० सं० १, ५, १६, २)"—इति

निगमौ । 'सचत्पृच्छतीति गतिकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्द-
स्वामी ॥

(३५) ऋच्छति । 'ऋ गतिप्रापणयोः (ऋ० प०)' । 'पात्राध्मा
(७, ३, ७८)'—इत्यादिसूत्रेण ऋच्छादेशः । "वाचा स्तेनं शरय
ऋच्छन्तु (ऋ० सं० ८, ४, ७, ५)"—इति निगमः ॥

(३६) तुरीयति । नैस्तथातुः ॥

(३७) चतति । 'चते याचने' खरितेत् । "दूराद्दूरमची-
चतम्"—इति निगमः । 'चततिर्गत्यर्थे च'—इति भट्टभास्कर-
मिश्रः ॥

(३८) अतति । 'अत सातत्यगमने' । "अपमु ते समतसि
(ऋ० सं० १, २, २८, ४)"—इति निगमः ॥

(३९) गति । 'गाङ्गातो (अदा० आ०)' । व्यत्ययेन
परस्मैपदी । "निर्यत्—पूतेव स्वधितिः धुचिर्गात् (ऋ० सं० ५,
२, ४, ४)"—इति निगमः ॥

(४०) इयक्षति । 'यज पूजायाम्' तुदादिरात्मनेपदी ।
व्यत्ययेन परस्मैपदम् । 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—
इति हि आर्द्धधातुकत्वात् णिलोपः । यजेः सनि घा रूपम्,
अभ्यासस्य सग्नसारणं व्यत्ययेन । "कचिमियक्षति प्रयज्यः
(ऋ० सं० ४, ८, ५, ४)"—इति निगमः । 'गतिकर्मा'—इति
हरदत्तः ॥

(४१) सधति । सचतेरेव छान्दसः शकार उपजनः ।
"असधन्ती भूरिधारे पयस्वती (ऋ० सं० ५, १, १४, २)"—

ऋजीपिणं वृषणं सञ्चतः श्रिये (ऋ० सं० १, ५, ८, २)"—इति निगमौ ॥

(४२) त्सरति । 'त्सर छद्मगतौ (भू० प०)' । "अमि त्सरन्ति धेनुमिः (ऋ० सं० ५, ७, १८, १)"—अवत्सरत् स्पृशत्यधिकित्वात् (ऋ० सं० १, ५, १५, ५)"—इति निगमौ ॥

(४३) रंहति । रहि गतौ (भू० प०)' । "सहस्रसाः शतसा बस्य रंहिः (ऋ० सं० ८, ८, ३६, ३)"—"पुतेहरिभ्यां वृषमो रथो हिपः (ऋ० सं० १, ४, १७, ३)"—इति निगमौ । 'रथो रंहतेर्गतिकर्मणः (निरु० ६, ११)"—इति भाष्यम् ॥

(४४) यतते । 'यती प्रयत्ने' आत्मनेपदम् (भू०) । "हंसा इव धेनिशौ यतन्ते (ऋ० सं० २, ३, १२, ५)"—"मित्रं न यातयज्जनम् (ऋ० सं० ६, ७, ११, २)"—इति निगमौ ॥

(४५) भ्रमति । 'भ्रमु चलने (भू० प०)' । "भ्रमिरस्पृति-
ष्टमर्यानाम्"—इति निगमः ॥

(४६) ध्रजति । 'ध्रज ध्रजि गतौ' (भू० प०) "ध्राजिरेकस्य विद्वशे न रूपम् (ऋ० सं० २, ३, २२, ४)"—"अहिधुंनिर्घात इव ध्रजीमान् (ऋ० सं० १, ५, २७, १)"—इति निगमौ ॥

(४७) रजति । (४८) लजति । (४९) क्षियति ॥

(५०) धमति । 'धमिः सौत्रः'—इति स्कन्दस्वामी । यद्वा, 'ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः (भू० प०)' । 'पाघाध्मास्था (७, ३, ७८)'—इत्यादिना धमादेशः । "प्राघन्यानीः पुरुहृतं धमन्तीः

(ऋ० सं० ३, २, २, ५)"—निःपीमदुभ्यो धमथो निःश्वस्थात्
(ऋ० सं० ४, १, ३०, ४)"—इति निगमो ॥

(५१) मीनाति । 'मीञ् हिंसायाम्' । मीनातेर्निगमे (७, ३,
८१)"—इति ह्रस्वः । "मिनोति"—इति पाठान्तर्म् । तत्र 'दु
मिञ् क्षेपणे' स्तादिः । "सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्धम् (ऋ० सं० २,
८, ६, ३)"—इति निगमः । 'मीनातेरेतद्रूपम्, सर्वेणापि लोके
नायगन्तुमशक्यम्'—इति हरदत्तः ॥

(५२) ऋण्यति । 'ऋचि रचि गतौ (भू० प०)' । 'इदितोनुम्
धातोः (७, १, ५८)' 'रयेर्मतौ बहुलम् (६, १, ३४ चा०)'—इति
बहुलवचनात् सम्प्रसारणम् । "व्यनुगन् चार्था देव ऋण्यति-
(ऋ० सं० १, ४, २३, ३)"—इति निगमः । 'ऋण्यतिर्गतिकर्मा,
अन्तर्णीतण्यर्थः । विधिधं गमयति—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

(५३) ऋणोति । 'ऋण गतौ' तनादिः स्वरितेत् । सञ्ज्ञा-
पूर्वको विधिरनित्यः—इति लघूपधगुणान्नायः । "अमिठ्ठण्णेन
रजस्ता दामृणोति (ऋ० सं० १, ३, ७, ४)" "ऋणो रपो अन-
घघाणां (ऋ० सं० २, ४, १६, २)"—इति निगमो । उभयोरपि
'ऋणोतिर्गतिकर्मा'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

(५४) स्वरति 'म्' शब्दोपतापयोः । "हरो इन्द्र प्रतष्ठम्
अमिस्वर (ऋ० सं० ६, १, १२, २)"—इति निगमः ॥ अत्र
'गतिकर्मा'—इत्युक्तं स्कन्दस्वामिना । "अनियेयं विद्याभि
स्वरन्ति (ऋ० सं० २, ३, १८, १)" इत्यादौ 'गतिकर्मव्यपटितोऽपि
गत्यर्थः' इत्युक्तम् ॥

(५५) सिंसर्त्ति । 'ऋ सृ गती' जुहोत्यादिः । 'अर्त्तिपि-
पर्योश्च (७, ४, ७७)' बहुलं छन्दसि (७, ४, ७८)—इति अभ्या-
सस्येत्यम् । "प्र वाहवा सिंसर्त्तं जीवसे न (ऋ० सं० ५, ५, ४,
५)"—इति निगमः ।

(५६) विपिष्टि । 'विप्ल व्याप्तौ' जुहोत्यादिः (७०) । लेटि
'सिष्यबहुलं लेटि (३, १, ३४)' । "अग्ने संधेपिपौरयिम् (ऋ० सं०
६, ५, २६, १)"—इति निगमः । 'समन्तात् प्रापय'—इति भट्ट-
भास्करमिश्रः ।

(५७) योषिष्टि । 'युष हिंसायाम् (ऋ० ५०)' । लेटि सिपि
व्यत्ययेन गुणः ॥

(५८) रिराति । 'री गतिरेषणयोः' क्यादिः स्वादिश्च ।
"ऋघायमाणो निरिराति शत्रून् (ऋ० सं० १, ४, २६ ३)"—
"लोपासुद्रा वृषणं नीरिराति (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)"—इति
निगमौ ॥

(५९) रीयते । 'रीङ् श्रघणे' दिघादिः । "एदु निम्नं न
रीयते (ऋ० सं० १, २, २८, २)"—इति निगमः । 'रीयते रेजतीति
गतिकर्मसु पाठात् गत्यर्थः'—इति स्कन्दस्यामिभाष्यम् ॥

(६०) रेजति । निरुक्तधातुः । "हव्यो नय इषवान् मन्म रेजति
(ऋ० सं० २, १, १७, १)"—'चलति गच्छतीत्यर्थः'—इति
स्कन्दस्वामी ॥

(६१) दध्यति । 'दघ पालने' स्वादिः । व्यत्ययेन श्यन् । "पश्चा-
दघा यो अघस्य घाता (ऋ० सं० २, ८, ४, ५)"—इति च निगमः ॥

(६२) दम्नोति । ‘दम्नु दम्ने’ स्यादिः ॥

(६३) युध्यति । ‘युध सम्प्रहारे’ दिघादिरात्मनेपदी, व्यत्ययेन परस्मैपदी ॥

(६४) धन्यति । ‘रिवि रवि घवि गत्यर्थाः (भू० प०)’ । “परि सोम प्रधन्वा स्वस्तये (ऋ० सं० ७, २, ३३, ५)” — “न यस्य घायापृथिवी न धम्य (ऋ० सं० ८, ४, १५, १)” — इति निगमौ ॥

(६५) अरुपति । नैरुक्धातुः । “वि धूममग्ने अरुपं मियेध्य (ऋ० सं० १, ३, ६, ४)” — स्यसारः श्याधी मरुपीमजुपन् (ऋ० सं० १, ५, १५, १)” — “प्रतीची रग्नेररुपीरजानन् (ऋ० सं० १, ५, १८, १०)” — इत्यादिषु स्फन्द्रस्यामिभाष्यम्-‘अरुपतिर्गतिकर्मा’ — इति दृष्टम् । “युञ्जन्ति ग्रध्नमरुपं चरन्तम् (ऋ० सं० १, १, ११, १)” — इत्यादौ द्वित्रयोः प्रदेशयोः ‘अरुप्यतिर्गतिकर्माः’ — इत्यपि । उभयथा दृष्टमपि, यद्गुपु प्रदेशेषु दर्शनात् अरुपतीति पाठो युक्तः ।

(६६) आर्यति । “मामार्यन्ति वृतेन कर्त्वे न च (ऋ० सं० ८, १, ५, ३)” — “तमिन्व्योत्नैरायन्ति (ऋ० सं० ६, १, २१, ६)” — इति निगमौ ॥

(६७) सीयते । ‘पिङ् बन्धने’ स्यादिः क्यन्दिश्च । व्यत्ययेन श्यन् । “डीयते” — इति पाठान्तरम् । तदा ‘डीङ् चिदायसां गतौ’ दिघादिः । निगमदर्शनाभिर्णयः ॥

(६८) तक्कति । ‘तक्क हसने (भू० प०)’ “यः शूरसातापरितक्म्ये धने (ऋ० सं० १, २, ३३, १)” — अन्योन्यान्मत्सर्गप्रतक्ते” इति निगमौ ॥

(६६) दीयति । 'दीश् क्षये' दिवादिः । व्यत्ययेन परस्मै-
पदम् । "श्येनो न दीतवन्वेति पाथः (ऋ० सं० ५, ५, ५, ५)"
इति निगमः ॥

(७०) ईयति । "ईय गतिर्हिंसादानेषु" आत्मनेपदी, व्यत्ययेन
परस्मैपदम् । "उत्तानो गा ईयते वृष्ण्यावतः (ऋ० सं० ४, ४, २७,
२)"—इति निगमः । बहुषु 'ईयतीति गतिकर्मसु पाठात्'—इति
स्कन्दस्वामी ॥

(७१) फणति । 'फण गती' । "ययामङ्गुलं स्पन्त्यापनीफणत्
(ऋ० सं० ३, ७, १४, ४)"—इति निगमः ।

(७२) हनति । 'हन हिंसागत्योः' अदादिः । 'बहुलं छन्दसि
(२, ४, ७३)'—इति शपो लुग् न भवति । "सं यद्धनन्त
मन्युभिर्जनासः (ऋ० सं० ५, ४, २६, २)"—इति निगमः ।

(७३) अर्दति । 'अर्द गती यावने च' ॥

(७४) मर्दति । 'मृदू मर्दने' । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ॥

(७५) सख्यते । 'अ स गती' जुहोत्यादिः परस्मैपदीः ।
व्यत्ययेनात्मनेपदम् । पृथोदरादित्यात् (६, ३, १०६) अभ्यासस्य-
रुगागमः । "प्रसख्यति दीर्घमायुः प्रयशे (ऋ० सं० ३, १, १, १,
—"जातेन जात मति स प्रसख्यते (ऋ० सं० २, ७, ४, १)"—इति
निगमो ॥

(७६) नसते । 'नस कौटिल्ये' आत्मनेपदी । "अशीभ्यां ते
नासिकाभ्याम् (ऋ० सं० ८, ८, २१, १)"—इति निगमः ॥

(७७) दयति । 'दय गति कान्त्योः' ।

(७८) इयत्ति । 'अ स गतो' जुहोत्यादिः । 'अत्तिपिप-
त्त्योश्च (७, ४, ७७)' । "कृषीर्यिर्त्त्योजसा (अ० सं० १, १, १४,
३)" —इति निगमः ॥

(७९) ईत्ति । 'ईर गतो' कम्पनेच' अदादिरात्मनेपदी ।
"मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते (अ० सं० ७, २, २२, १)" —इति
निगमः ॥

(८०) ईङ्गते । 'ईङ्गि गतो' (भू०) आत्मनेपदी । "य ईङ्गयन्ति
पर्यतान् (अ० सं० १, १, ३७ २)" —इति निगमः । अत्र 'ईङ्गति-
र्गतिकर्मा' —इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

(८१) जयति । (८२) श्वायति । एतो नैरुक्तधानू ॥

(८३) गन्ति । 'गल् गतो' (भू० प०) । व्यत्ययेन शपो
लुप् । "अङ्गिरोमिरागहि यङ्गियेभिः (अ० सं० ७, ६, १४, ५)"
—निगमः ॥

(८४) आगमीगन्ति । 'गल् गतो' (भू० प०) । दाधर्त्ति-
दर्घर्त्ति (७, ४, ६५) इत्यादिना आङ्पूर्वस्य गमेलेदि अभ्यासस्य
द्युत्वाभायो नोपागमश्च निपात्यते । यङ्लुगन्ताढा लङि निपात-
नाद्रूपसिद्धिः । "घङ्गयन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णम् (अ० सं० ५,
१, १६, ३)" —इति निगमः ॥

(८५) जङ्गति । गमेर्यङ्लुकि 'नुगतोऽनुनासिकागतस्य (७,
४, ८५)' —इति नुकि च रूपम् । "प्रातर्मशू धियायसुर्जगम्यात्
(अ० सं० १, ४, २४, ४)" —इत्यत्र 'जङ्गन्तेर्गतिकर्मण एतद्रूपम्-
—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ।

(८६) जिन्यति । 'इचि जिचि धिचि ग्रीणनार्थाः (भू० प०)' ॥

(८७) जसति । 'जसु मोक्षणे' दिवादिः (प०) । व्यत्ययेन शप् ॥

(८८) गमति । गम्ल् गतो (भू० प०) । लेट् । लेटोऽडाटो (३, ४, ६४)' । बाहुलकात् 'सिब्यहुलं लेटि (३, १, ३४)'—इति सिप् न भवति । यद्वा, 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते'—इति छत्वाभावः । "त आगमन्तु त इह भुचन्तु (ऋ० सं० ४, ८, ५, १)"—इति निगमः ॥

(८९) ध्रति । (९०) ध्राति । (९१) ध्रयति । त्रयोऽपि निरुक्ताः ॥

(९२) घहते । 'घह प्रापणे' (भू० उ०) स्वरितेत् । "यैश्चानरं मातरिष्वा परावतः (ऋ० सं० ४, ५, १०, ४)"—इत्यत्र 'परापूर्वस्य घहतैर्गतिकर्मणः परावच्छब्दः'—इति स्कन्दस्यामी ॥

(९३) रथर्यति । निरुक्तधातुः । 'रंहतेर्वा रथो रंहणं गमनम् इच्छतीति पचि रथीयतीति प्राप्ते रेफउपजन' ईडाभावश्च पृषोदरादित्यात् (६, ३, १०६)'—इति स्कन्दस्यामी । "एष दियो रथर्यति (ऋ० सं० ६, ७, २०, ५)"—इति निगमः । माधवभाष्यं द्रष्टव्यम् ॥

(९४) जेहते । 'चिह जेह घाह प्रपधे' आत्मनेपदी । "ये तातृपुर्द्वेभ्रा जेहमाना (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)"—इति निगमः । 'ओ हाङ् गताचित्यस्य रूपम्,—इति स्कन्दस्यामी ॥

(६५) प्यःकति । (६६) क्षुम्पति । (६७) प्साति ।
(६८) घाति । (६९) याति ॥

(१००) इपति । 'इप गतो' दिघादिः (प०) । व्यत्ययेन
शः । "तत्रासम्भ्यमिपचः शर्म यंसन् (ऋ० सं० ५, १, २१, २)" —इति निगमः ॥ 'इपुरिपतेर्गेतिकर्मणः (६, १८)'—इति
निरुक्तम् ॥

(१०१) द्रांति । 'द्रा कुत्सितायां गतो' अदादिः (प्र०) ।
"वैसू यवौ मतयो दस ददुः (ऋ० सं० १, ५, ३, १)" —इति
निगमः ॥

(१०२) द्रुलति । नैदक्तधातुः ॥

(१०३) एजति । 'एजृ कल्पने (भू० प०)' । "यूथेन
युष्णिरेजति (ऋ० सं० १, १, १६, २)" —"यथा समुद्र एजति
(ऋ० सं० ४, ४, २, ४)" —इति निगमौ ।

(१०४) जमति । 'जमु भदने (भू० प०)' । "न जामये
ज्ञान्योरिक्थ्य मारैक् (ऋ० सं० ३, २, ५, २)" —इति निगमः ।
'जामिर्जमतेर्गेतिकर्मणः'—इति स्कन्दस्यामी ॥

(१०५) जयति । 'जु गतो'—इति क्षीरस्वामी । "न पातघ
इन्द्र जुजुर्त्तु नः"—"चिपाद् शुतुद्रौ पयसा जयेते (ऋ० सं० ३, २,
१२, १)" —इति निगमौ ॥

(१०६) घञ्जति । 'घञ्जु गतो (भू० प०)' । "नमो घञ्जने
परिपञ्जते (य० घा० सं० १६, २१)" —इति निगमः ॥

(१०७) अनिति । 'श्वस प्राणने, अन च (अदा० प०)' ।
 “अत्र मातर्यात्वनिति”—इति निगमः । “अनितिर्गतिकर्मा—
 इति माधयः ॥

(१०८) पवते । 'पृञ् पवने' । “नेन्द्रादृते पवते धाम
 किञ्चन (ऋ० सं० ७, २, २२, १)” — “सुकं संशाप पविमिन्द्र
 तिगमम्”—इति निगमौ ॥

(१०९) हन्ति । 'हन हिंसागत्योः' अदादिः (प०) । “नि
 येन सृष्टिहृत्यया (ऋ० सं० १, १, १५, २)” — आस्य षञ्
 मधिसानौ जघान (ऋ० सं० १, २, ३७, २)” — इति
 निगमौ ॥

(११०) सेधति । 'पिधु गत्याम् (भू० प०)' । “सेधत द्वेपो
 भवतं सचा भुया (ऋ० सं० १, ३, ५, ५)” — इति निगमः ॥

(१११) अगन् । 'गम्लु गती (भू० प०)' । लुङि तिपि
 ल्लेः 'मन्त्रे घस (२, ४, ८०)' — इति लुकि, “इतध (३, ४,
 ६७)” — ‘संयोगान्तलोपः (८, २, २३)’ ‘भोभोधातोः (८, २,
 ६४)’ — इति मकारस्य नकारः । “यदामागन् प्रथमजा ऋतस्य
 (ऋ० सं० २, ३, २१, २)” — इति निगमः ॥

(११२) अजगन् । गमेर्लुङि 'यहुलं छन्दसि (२, ४ ७३)’ —
 इति शपः श्लुः । पूर्ववन्नत्यम् (८, २, ६४) । “यन्मातृरजगन्नपः
 (ऋ० सं० ३, १, ५, २)” — इति निगमः ॥

(११३) जिगाति । 'गा स्तुती (अदा० प०)' । छन्दसि
 जुहोत्यादिः । ‘अर्त्तिपिपर्योश्च (७, ४, ७७)’ ‘यहुलं छन्दसि

(७, ४, ७८) —इति अभ्यासस्येत्यम् । “चेना जिगाति दाशुपे
(अ० सं० १, १, ३, २)” —इति निगमः । ‘जगतीति पाठा-
न्तरम्’ —इति स्कन्दस्वामिमाष्यम् ॥

(११४) पतति । ‘पत्स्व गती (भू० प०)’ । “गोमिः सन्नद्धा
पतति प्रसूता (अ० सं० ५, १, २१, १)” —इति निगमः ॥

(११५) इत्यति । ‘इषि गती (भू० प०)’ । “द्विर्धाहारी
पृहतीर्षियमिन्या (य० घा० सं० २६, ३०)” —इति निगमः ॥

(११६) द्रमति । ‘द्रम हम्म मीमृ गती (भू० प०)’ । “प्र
चन्द्रमास्तिरस्ते धीर्धमायुः (अ० सं० ८, ३, २३, ४)” —इति
निगमः । ‘चन्द्रमाध्यायं द्रमति’ —इति माष्यम् (मि० ११, ५) ।
‘द्रमतिर्गतिर्यमा’ —इति स्कन्दस्वामी ॥

(११७) द्रपति । ‘द्रु द्रु गती (भू० प०)’ । “यथा नटः
सं य पि च द्रपन्ति (अ० सं० ५, १, २१, १)” —इति
निगमः ॥

(११८) पेति । ‘पी गतिप्रजननकान्त्यशनरादनेषु’ भदादिः ।
“यपामी पां याधते पेति सूर्यम्” —“यद् ॥ येत्पोदती (अ०
सं० १, ४, ४, १)” —इति निगमः ॥

(११९) द्यन्ताम् । ‘हन्तेर्लोष्टि तातट्टि रूपम् । “द्यन्तान्” —
इति केचिन् पठन्ति । तत्र ‘ह्य गती (भू० प०)’ —इत्यस्य
तातट्टि तत्कार उपजनः ॥

(१२०) पति । ‘इ गती’ भदादिः (प०) । “विचायशाय-
न्यमा नतमेति (अ० सं० १, २, १४, ५)” —इति निगमः ॥

(१२१) जगायात् । “गा स्तुतो” जुहोत्यादिः (५०) ।
 लिङि ‘छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)—इत्यार्द्धधातुकत्वेन ई
 हल्यघोः (६, ४, ११३)’—इतीत्वं न भवति । “स्वाशितः
 पुनरस्तं जगायात् (ऋ० सं० ७, ७, २०, १)”—इति निगमः ॥

(१२२) अयधुः । दिवतोऽयुच् (३, ३, ८६)’—इति घाह्ल-
 कादयस्तेरयुच् भवति ॥

इति द्वाविंशतं गतिकर्माणः ॥ १४ ॥

नु (१) । मक्षु (२) । द्रवत् (३) । ओषम्
 (४) । जोराः (५) । जूर्णीः (६) । शूर्ताः (७) ।
 शूघनासः (८) । शीभम् (९) । तृपु (१०) ।
 तूयम् (११) । तूर्णिः (१२) । अजिरम् (१३) ।
 भुरण्युः (१४) । शु (१५) । आशु (१६) ।
 प्राशुः (१७) । तूतुजिः (१८) । तूतुजानः
 (१९) । तुज्यमानासः (२०) । अज्राः (२१) ।
 साचिवित् (२२) । द्युगत् (२३) । ताजत्
 (२४) । तरणिः (२५) । वातरंहा (२६) । इति
 षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि ॥ १५ ॥

‘क्षिप्रनामान्युत्तराणि’ पञ्चविंशतिः (निरु० ३, ६)—इत्यत्र
भाष्ये ‘गुणस्य चैतानीति क्षिप्रस्य तद्वतो वा नामधेयानि । तथाच
पश्यति ‘भुरण्युः’ ‘शकुनिः’—इति स्कन्दस्वामी । गुणश्च चिरका-
लविशिष्टा स्यल्पकालविशिष्टा वा क्रिया । तत्कर्त्तरि कर्तुरल्पका-
लविशिष्टस्य तथाविधक्रियाकर्त्तृत्वाल्पक्रियाहारकम् । तत्र
‘मक्ष्’ ‘कृणुहि’ इत्यादिषु क्रियाविशेषेण वा क्रियारूपस्तद्वान् ।
निरुपगुणनामधेयोदाहरणानि पुनरन्येषणीयानि । केचित्तु यद्यपि
गुणशब्दो व्यचछेदकमात्रयचनतया हात्र कर्त्तृविशेषभूतक्रिया-
लक्षणा व्यचछेदकविशेषे यत्तन्ते निरुपगुणमात्रयाचिनि
गम्यादी लभ्या, तथापि सत्त्वशब्दस्य इव्यवचनस्ये स्थारस्यात्
क्रियायाद्वाद्भ्यत्वात् क्रियाया इव द्रव्यस्यापि नामधेयानि—
इत्याहुः । इदानीं क्रियाविशेषणानि गुणनामधेयोदाहरणानि
‘जीराः’ ‘अजिरम्’ इत्यादीनि ॥

(१) नु । निपातोऽयम् । “इन्द्रस्य नु धीर्याणि प्रवीचम्
(ऋ० सं १, २, ३६, १)”—इति निगमः ॥

(२) मक्ष् । ‘डु मस्जी शुद्धौ (तु० प०)’ । ‘मस्जीपोपुक्’
इति भोजसूत्रेण पुक्प्रत्ययः । संयोगादिलोपः । अन्तर्णीतण्य-
यंध्र मस्जी । क्रियायाः वापनो वा मज्जयति चिरकालमिति ।
“मभ्र कृणुहि गोजितो नः”—इति निगमः ॥

(३) द्रपन् । ‘दुगती (भू० प०)’ । ‘संभत्तृप्पद्वेदन् (उ० २,
७६)’—इति यादुलकान् अतिप्रत्ययान्नो निपात्यते । द्रपत्यनेन ।
“द्रपत्पाणी शुभम्पती (ऋ० सं० १, १, ५, १)”—इति निगमः ॥

(४) ओषम् । निपातोऽयम् । “ओषमित् पृथिवीमहम् (ऋ० सं० ८, ६, २७, ४)” —“ओषः पात्रं न शोचिषा (ऋ० सं० २, ४, १८, ३)—इति निगमौ । ‘अन्तोदात्तो निपातः स्यादाख्याने चाद्युदात्तता’—इति हि माधवः ॥

(५) जीराः । जवतिर्गतिकर्मा । ‘जीरी च (उ० २, २५)’ —इति ईकप्रत्यय ईकारध्वान्तादेशः । जस् । “जीरा अजिरशोचिषः (ऋ० सं० ७, २, ११, ५)” —“जीरं दूतममर्त्यम् (ऋ० सं० १, ३, ३०, ११)”—इति निगमौ ॥

(६) जूर्णिः । व्याख्यातं क्रोधनामसु (२४६ पृ०) । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(७) शूर्त्ताः । ‘तातयातसुत’—इत्यादि भोजसूत्रे आविशब्देन शृणात्यस्मात् कप्रत्ययान्तो निपात्यते । शृणाति फललाभम् । “त्यया शूर्त्ता पहमाना अपत्यम् (ऋ० सं० २, ४, १७, १)” —इति निगमः । ‘शूर्त्ताः क्षिप्रास्त्वरमाणाः’—इति भट्टभास्करमिश्राः ॥

(८) शूघनासः । सु शब्दे उपपदे हन्तेः ‘युच् घटुलम् (उ० २, ७४)’—इति युचि घाटुलकात् कृत्वं णिलोपश्च निपात्यते दीर्घश्च । शीघ्रमागच्छत्यनेन क्रियाफलम् । तस्मात् जसोऽसुक् । “सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासः (य० घा० सं० १७, ६५)”—इति निगमः । ‘शूघनासः क्षिप्रगमनाः’—इत्युपटः ॥

(९) शीमम् । ‘शीम कत्यने (भू० आ०)’ । घञ् । शीम्यतेऽनेन तदुद्यान् । “प्रयात शीमनाशुभिः (ऋ० सं० १, ३, १४, ४)”

—“आचक्षणाः पूणध्वं यात शीमम् (ऋ० सं० ३, २, १४, २)”
—इति निगमो ॥

(१०) तृ० । ‘अि त्वरा सम्भ्रमे (भू० आ०) । ‘मस्जीयो-
पुक्’—इति बाहुलकात् पुक्प्रत्ययो धातोस्तुमावश्च । तत्त्यनेन
‘फललाममद्य, त्यस्तेऽनेन फलमागन्तुम् । “तृप्यविप्यघ्नतसेपु
तिष्ठति (ऋ० सं० १, ४, २, २)”—“तृर्ष्यामनुप्रसिति वृणानः
(ऋ० सं० ३, ४, २३, १)”—इति निगमो ॥

(११) तूयम् । व्याख्यातमुदफनामसु (१४४ पृ०) । चर्द्धते-
ऽनेन तद्वन्तः श्रुत्याः । “आपित्ये नः प्रापित्ये तूयमा गहि (ऋ०
सं० ५, ७, ३०, ३)”—इति निगमः ॥

(१२) तूर्णिः । ‘अि त्वरा सम्भ्रमे’ । ‘यदिधिध्रुयुद्गुलाहा-
स्यरिभ्यो निम् (उ० ४, ५१)’—इति निम्प्रत्ययः । त्यस्तेऽनेन
फलमागन्तुम् । “अणो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानम् (ऋ० सं० ८, ४,
११, १)”—“सुतमा गन्त तूर्णयः (ऋ० सं० १, १, ६, २)”—
इति निगमो ॥

(१३) अजिरम् । अज गतिश्लेषणयोः (भू० प०) । ‘अजिर-
शिशिरशिथिलधिरस्फिरस्फिरविरादिराः (१, ५३)’—इति किर-
त्यत्यपो जिमावश्च निपात्यते । शिषति फल्गोत्पत्तिमाद्यम् ।
“त्वा मालने अजिरं दत्थाय (ऋ० सं० ५, २, १४, २)”—इति
निगमः ॥

(१४) भुरण्युः । भुरण्यतिर्गोतिकर्मा । ‘भृगध्वाद्यश्च (उ०
१, ३६)’—इति क्युप्रत्ययः । “येना पावक चक्षुसा भुरण्यं (ऋ०

सं० १, ४, ८, १)”—इत्यत्र स्कन्दस्वामिना 'भुरण्यतिः शीघ्र-
करणार्थे'—इति प्रतिपादितम् । तत्र 'भुरण्यशब्दस्य शीघ्र-
विशिष्टगमनादिक्रियाकर्त्तरि सत्त्वन्येव वृत्तिः । “श्रोणान्नुपस्था-
द्विघं भुरण्युः (ऋ० सं० १, ५, १२, १)”—इति निगमः ॥
'भुरण्यतेर्गतिकर्मण इदं, क्षिप्रनाम वा'—इति स्कन्दस्वामि-
भाष्यम् ॥

(१५) शुः । निपातः । “ध्वानं घस्तो योधयितारमवधीत्
(ऋ० सं० २, ३, ६, ३)”—इति निगमः । 'शु आशुगामी'—
इति निरुक्तम् (६, १) ॥

(१६) आशुः । 'अशु व्याप्तौ' । 'रुचापाजिमिस्वदिसाध्यशुभ्य
उण् (उ० १, १)' । व्याप्नोत्यनेन नरवैलक्षण्येन व्याप्तव्यम् ।
'आशु इदं क्षिप्रनाम क्षिप्रगामी'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् । आशु
इति च शब्दस्वरूपापेक्षया नपुंसकनिर्देशः । तेन आशु इति
निपातः, आशुरिति सत्त्वघाची च उभयमपि पठितं भवति ।
तथा च स्कन्दस्वामी “समाशुमाशवे भर (ऋ० सं० १, १, ८, २)”—
इत्यत्र ऋग्भाष्ये 'आशुमिति क्षिप्रनामैतत्'—इति । 'आशु
इति ॥ इति च क्षिप्रनामनी भवतः'—इति (निरु० ६, १) ।
निर्विचक्षयोपन्यास इति चेन् ? न, निपातत्वादिति चोक्तत्वात् ।
“त्यमन्ते द्युमिसमाशुशुशुणिः (ऋ० सं० २, ५, १७, १)”—इति
निगमः ॥

(१७) प्राशुः । 'सत्यवाच्याशुशुशु'—इति भाष्ये प्रकर्षा-
र्थोऽतिरिक्तः । 'हस्तो हन्तेः प्राशुर्हन्ते (निरु० १, ७)'—इति

भाष्ये 'प्राशुः क्षिप्रः'—इति स्वन्दस्वामी । "सुप्राप्यः प्राशुपालेय
धीरः (ऋ० सं० ३, ६, १४, १)" —इति निगमः ॥

(१८) तूतुजिः । 'तुजि हिंसायाम् (भू० प०)' । 'किं
किनोः प्रकरणे'—इत्यर्थे 'छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्'—इति
किन्प्रत्ययः । लिङ्चद्वाचात् द्विर्वचनम् । "तुजादीनां दीर्घोऽभ्या-
सस्य (६, १, ७)" —इति दीर्घः । तूर्णवदर्थः । 'आयुक्षाता
मश्विना तूतुजि रथम् (ऋ० सं० ७, ८, ७, १)" —इति निगमः ॥

(१९) तूतुजानः । तोजतेर्लिटि कानजादेशः । "इन्द्रा याहि
तूतुजानः (ऋ० सं० १, १, ५, ६)" —इति निगमः । 'क्षिप्रार्थे
स्वर आदित् अन्तोदात्तः तुगर्थस्तूतुजानो महे . मतः'—इति
माधवः ॥

(२०) तुज्यमानासः । तोजतेरेय कर्मणि लिटि शानच् ।
"तुज्यमानास आचिषुः (ऋ० सं० १, १, २१, ५)" —इति
निगमः ॥

(२१) अज्जाः । अजतेः 'स्फापितञ्चिञ्चि (उ० २, १२)—
इत्यादिना रक् । 'वाहुलकादाद्धधातुके चिकल्प इप्यते'—इति
चैकल्पिकत्वात् वीभाषाभावः । अजिरवदर्थः । "धौर्न भूर्मि
गिर्यो नाज्जान् (ऋ० सं० ८, १, २२, ३)" —इति निगमः ।
'अज्जान् सत्वरान् शीघ्रान्'—इति भट्टभास्करमिश्रः ॥

(२२) सार्चाचित् । (२३) धुगत् । (२४) ताजत् । त्रयो
निपाताः । सार्चाविदित्यस्य निगमोऽन्वेषणीयः ॥ "अतस्त्या
गीर्मिर्द्युगदिन्द्रकेशिमिः (ऋ० सं० ६, ६, ३६, ४)" —इति

निगमः । अत्र माधवस्तु—‘द्युगत् दीप्तिं धुलोकां गच्छ हरिभिः’
—इति चैतद्वाक्ये उक्तवान् । ‘तुतुजानः तरणिः द्युगत्’—इति
क्षिप्रनामसु द्युगच्छद्स्तेनाप्यपाठि ॥ “ताजत्—माच्छति”—
“ताजत्—प्रमीयते”—इति निगमौ ॥

(२१) तरणिः । तरतेः ‘अस्ति सुधृधम्यश्यवितृभ्योऽनिः (उ०
२, १५)’—इत्यनिप्रत्ययः । तृप्यदर्थः । “विष्णो शमी तरणि-
त्वेन वाघतः (ऋ० सं० १, ७, ३०, ३)”—“तरणिर्विभ्यदर्शतः
(ऋ० सं० १, ४, ७, ॥)”—इति निगमौ ॥

(२६) घातरंहा । ‘वा गतिगन्धनयोः (अदा० प०)’ । ‘हसि-
मृगिण्यामिदमिल्लूधूरिभ्यस्तन् (उ० ३, ८४)’—इति तन् । ‘सु-
क्रीडायाम् (भू० आ०)’ ‘रमेश्च [येने] (उ० ४, २०८)’—
इत्यस्तुन् हुगागमश्च । घातवत् रंहो यस्य सः । “घातरंहसो”
दिथ्यासो अत्याः (ऋ० सं० २, ४, २५, २)”—इति निगमः ॥

इति पड्विंशतिः क्षिप्रनामानि ॥ १५ ॥

तलित् (१) । आसात् (२) । अम्बरम्
(३) । तुर्वशे (४) । अस्तर्माके (५) । आके
(६) । उपाके (७) । अवाके (८) । अन्तमा-
नाम् (९) । अवमे (१०) । उपमे (११) । इत्ये-
कादशान्तिकनामानि ॥ १६ ॥

(१) तलित् । 'तड आवाते' चुरादिः । 'ताडेरिलुक् चं (उ० १, ६५)'—इतीतिप्रत्ययः । "दूरे चित् सन्तलिदिवाति रोचसे (ऋ० सं० १, ६, ३१, २)" —या नो ददे तलितो य अरातयः (ऋ० सं० २, ६, ३०, ४)" —इति निगमी ॥

(२) आसात् । 'आस उपपेशने (अदा० आ०)' । 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)' । अन्तिक् आसते । "आ न इन्द्रो दूरादान आसात् (ऋ० सं० ३, ६, ३, १)" —"स नो दूरा-
चासाद्या (ऋ० सं० १, २, २२, ३)" —इति निगमी । 'आसादि-
त्यन्तिकनाम'—इति स्कन्दस्यामिभाष्यम् । "आसादासेः"—इति
माधयः ॥

(३) अम्यरम् । 'कुदरादयश्च'—इत्यरन्प्रत्ययो मुगागमश्च
निपात्यते । प्राप्यते हासश्चम् । "यन्नासत्या परावति यद्वा स्यो
अध्यम्यरे (ऋ० सं० ५, ८, २७, ४)" —इति निगमः । स्कन्द-
स्यामिव्यतिरिक्तभाष्यकारमते । स्कन्दस्यामी तु 'अन्तरिक्षनाम'
—इति ॥

(४) तुर्घशे । व्याख्यातं मनुष्यनामसु (११८ पृ०) ॥ तृणं
व्याप्यते अन्तिकम् । "यन्नासत्या परावति यद्वा स्यो अधि तुर्घशे
(अ० सं० १, ४, २, २)" —इति निगमः ॥

(५) अस्तमीके । अस्तंशब्दे उपपदे मातेः 'अलीकादयश्च (उ०
सं० ४, २५)" —इति घीकन्प्रत्ययो घातोर्लोपश्च निपात्यते । अस्तं
प्राप्यते अस्मिन् अन्तिकस्थं हि नाशयते । "सचस्य नः पराक आ
सचसास्तमीक आ (ऋ० सं० २, १, १७, ४)" —इति निगमः ॥

(६) आके । (७) उपाके । (८) अर्वाके । आङ्ङुपार्व-
च्छन्देषूपपदैषु क्रामतेः 'चलाकादयश्च (उ० ४, १४)'—इति आक-
प्रत्ययो धातोर्लोपश्च निपात्यते । अर्वाक् गन्ता । आक्रम्यते
उपक्रम्यते गन्तुमिः । क्रम्यते च ह्यासन्नम् । “आके नियासो
अहमिर्द्वियुतः (ऋ० सं० ३, ७, २१, ६)” — “सिन्धोरुर्मा
उपाकऽभा (ऋ० सं० १, २, २३, १)” — “यन्नासत्या पराके अर्वाके
अस्ति भेषजम् (ऋ० सं० ७, ८, ३२, ५)” — इति निगमाः ॥

(९) अन्तमानाम् । अन्तिकशब्दात्तमपि 'तमोदश्च'—इति
तादिलोपः । अन्तिकतममन्तिमम् । “अथातै अन्तमानाम् (ऋ०
सं० १, १, ७, ३)” — “शिक्षा षस्यो अन्तमस्य (ऋ० सं० १, २,
२२, ५)” — इति निगमौ । आयुदात्तमन्तिकम्, अन्तोदात्तन्तु
सृतीयाबहुवचनम्, “अतो षयमन्तमेभिर्युजानाः (ऋ० सं० २,
३, २४, ५)” — इति माधवः ॥

(१०) अवमे । 'अघ रक्षणादिषु (भू० प०)' । 'अघेश्व
घा' इति मप्रत्ययः । गम्यते ह्यासन्नम् । “अस्मै चह्नामवमाय
सख्ये (ऋ० सं० २, ७, २४, २)” — “मध्यमस्यामवमस्यामुत स्यः
(ऋ० सं० १, ७, २७, ५)” — इति निगमौ ॥

(११) उपमे । उपपूर्वात् मिनातेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २,
१०१)'—इति डः । उपच्छिद्यते ह्यन्तिकम् । “उपमे रोचने दिवः
(ऋ० सं० ६, ६, १, ४)” — “अस्माद्दुत्यमुपमं स्वर्गाम् (ऋ०
सं० १, ४, २७, ३)—इति निगमौ ॥

इत्येकादशान्तिकनामानि ॥१६॥

रणः (१) । त्रिवाक् (२) । विश्वादः (३) ।
 नदनुः (४) । भरे (५) । आक्रन्दे (६) ।
 आहवे (७) । आजौ (८) । पृतनाज्यम् (९) ।
 अभीके (१०) । समीके (११) । ममसत्यम्
 (१२) । नेमधिता (१३) । सङ्गाः (१४) ।
 समितिः (१५) । समनम् । (१६) मीढ्वहे
 (१७) । पृतनाः (१८) । स्पृधः (१९) । मृधः
 (२०) । पृत्सु (२१) । समत्सु (२२) । समर्ये
 (२३) । समरणे (२४) । समोहे (२५) ।
 समिथे (२६) । सङ्घे (२७) । सङ्घे (२८) ।
 संयुगे (२९) । सङ्घथे (३०) । सङ्घमे (३१) ।
 घृत्रतूर्ये (३२) । पृक्षे (३३) । आणौ (३४) ।
 शूरसातौ (३५) । वाजसातौ (३६) ।
 समनीके (३७) । खले (३८) । खजे (३९) ।
 पौंस्ये (४०) । महाधने (४१) । वाजे (४२) ।
 अज्म (४३) । सद्म (४४) । संयत् (४५) ।

संवतः (४६) । 'इति षट्चत्वारिंशत् संग्राम-
नामानि ॥१७॥

(१) रणः । 'अण रण कण शब्दार्थाः (भू० प०)' ।
'वशिरण्योरुपसंख्यानम् (३, ३, ८५ वा०)'—इत्यप् । 'रणन्ति
दुन्दुभयोऽत्र योधा वा परस्परं' शब्दायन्ते । यदुवा, रमतेः
'सालासालास्थूणावीणाः (३० २, १३)'—इत्यादिना नप्रत्ययो
मकारलोपश्च निपात्यते । रमणीयो हि संग्रामो विचित्रकर्माधि-
ष्ठानत्वात् । "मरुत्वा इन्द्र वृषभो रणाय (ऋ० सं० ३, ३,
११, १)"—इति निगमः ॥

(२) विद्यान् । विविधा विरुद्धा धावो यत्र योधानाम् ।
"हयन्त उ रवा हव्यं विद्यान्नि (ऋ० सं० ५, ३, १४, २)"—इति
निगमः ॥

(३) पिशादः । 'त्यद् स्थैर्यं हिंसायाञ्च (भू० प०)' ।
विशिष्टं स्थैर्यमत्र शूराणां हिंसनं वा । "तं पिशादे सखि
मद्य श्रुतं नरम् । (ऋ० सं० ७, ८, १४, ४)"—इति निगमः ॥

(४) नदनुः । 'णद् अध्यक्ते शब्दे (भू० प०)' । 'अनुद्
नदश्च (३० ३, ४६)'—इति चानुद्ग्रत्ययः । "यदा कृणोवि
नदनुं समुद्दसि (ऋ० सं० ६, २, ३, ४)"—इति निगमः ॥

(५) भरे । 'डु भृञ् धारणपोषणयोः (जु० ३०)' ।
'नन्दिप्रहिपचादिभ्यः (३, १, १३४)' तत्र गणपाठः—
'पच-यच-यप-यद-रुप-तज-भराः'—इति । विभक्तिं पोषयति

सुभटानां धैर्यं यशो वा । यद्वा, 'पुंसि सत्रज्ञायां घः (३, ३, ११८)' । विघ्नत्यनेन जयलक्ष्मीं योधाः । उभयत्रापि पृषोदरा-
देराकृतिगणत्वादाय दान्तत्पम् । यद्वा, 'भृ भर्त्सने' क्यादिः
स्वादिश्च । भर्त्स्यन्ते हि तत्र शत्रवः । हरतेर्वा भः ।
हियन्ते हि यत्र योद्धृणामार्युपि धनानि च । 'हृप्रहोर्भृच्छ-
न्दसि (३, १, ८४ वा०)' । "असिन् भरे नृतमं घाजसाती
(ऋ० सं० ३, २, ४, ७)" — "अनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु
(ऋ० सं० ३, ७, ११, ५)" — इति निगमी ।

(६) आक्रन्दे । 'कदि कदि कृदि आह्वाने रोदने च (भू०
आ०)' । क्रन्दन्त्याह्वयन्तेऽन्योन्यमत्र, स्वन्ति घानेन यन्धु-
घिनाशहेतुत्वात् । निगमोऽन्वेयणीयः ॥

(७) आहवे । 'हेञ् स्पर्द्धायाम् (भू० उ०)' । 'आङि
युद्धे (३, ३, ७३)' — इत्यप् । 'बहुलं • छन्दसि (६, १,
३४)' — इति सम्प्रसारणञ्च । आह्वयन्तेऽत्र परस्परं स्पर्द्धया
योधाः । "न कश्चन सहत आह्वेषु (ऋ० सं० ४, ७, ३०,
१)" — इति निगमः ॥

(८) आजौ । 'अज गतिक्षेपणयोः (भू० प०)' । अज्य-
तिभ्याञ्च (उ० ४, १२७)' — इति इण्प्रत्ययः । बाहुलकाद्
पीभावामाघः । अजन्ति गच्छन्त्यत्र विजयधियं योद्धारः,
कातराः परामघं घा । एवमर्थो गत्यर्थेषु द्रष्टव्यः । क्षिप्यन्ते
शस्त्राणि क्षिपन्त्याक्षिपन्ति घान्योन्यं धीर्यातारतम्यात् । "तेन
घाजं सनिपदस्त्रिजौ (ऋ० सं० ८, ३, ७, ४)" — इति निगमः ॥

(६) पृतनाज्यम् । पृतनाशब्दोपपदादज्ञतेश्च अभ्यादि-
त्वात् (उ० ४, १०८) यत्प्रत्ययः । पृतनानां सेनानामजनं
यत्र । “गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु (ऋ० सं० ८, ५, २१, ३)”
—इति निगमः ॥

(१०) अभीके । अभिपूर्वादेतेः ‘अलीकादयश्च (उ० ४,
२५)’—इतीकप्रत्ययो धातोलोपश्च निपात्यते । यद्वा, न विद्यते
भीर्येषां ते अभीकाः । अभीकैः क्रियमाणत्वात् अभीकमित्यु-
च्यते । “पाहि धन्निवो दुस्तितादभीके (ऋ० सं० १, ८, २६,
४)”—इति निगमः ॥

(११) समीके । संपूर्वोऽत्र एतिः । अभीकचत् । निग-
मोऽन्येषणीयः ॥

(१२) ममसत्यम् । मम सत्यं जयः इति योद्धृणां
धाक्यविषयत्यात्ममसत्यमित्याचक्षते । पृषोदरादिः । “त्वां
जना ममसत्येधिन्द्र (ऋ० सं० ७, ८, २२, ४)”—इति निगमः ॥

(१३) नेमधिता । ‘सुधितवसुधितनेमधितधिष्यधिपीय च
(७, ४, ४५)’—इति नेमपूर्वाद्भातेः सप्रत्यये इत्थमिडागमो वा
निपात्यते । नेमशब्दो दानपर्यायः । सप्तम्येकचचनस्याकारादेशः
(७, १, ३६) । “इन्द्रधरो नेमधिता हवन्ते (ऋ० सं० ५, ३, ११, १)”
—“विदन्मत्तो नेमधिता चिकित्वान् (ऋ० सं० १, ५, १७, ४)”
—“नेमधिता न पौष्ट्या (ऋ० सं० ८, ४, २८, १३)”—इति निगमाः ॥

(१४) सङ्काः । सचनेर्गतिकर्मणः बाहुल्यकादङ्गप्रत्ययष्टिलो-
पश्च । यद्वा, संपूर्वात् किरतेः कृन्ततेर्वा ‘अन्येष्वपि दृश्यते (३,

२, १०१)”—इति डः । सङ्कीर्त्यन्तेऽत्र योद्धारः, सम्पक् वृत्त्यन्ते छिद्यन्ते आयुधैर्चा । “इषुधिः सङ्का पृतनाश्च सर्वाः (अ० सं० ५, १, १६, ५)”—इति निगमः ।

(१५) समितिः । सम्पूर्णादेतेः चिन् । “राजानः समिताधिव (अ० सं० ८, ५, ६, १)”—इति निगमः ॥

(१६) समनम् । सम एव अपैकल्ये (भू० प०) । समन्ति विबलया भवन्त्यस्मिन् शूराः । “ज्या इयं समने पारयन्ती (अ० सं० ५, १, १६, ३)”—इति “यि या सृजति समनं (अ० सं० १, ४, ४, १)”—इति च निगमौ ॥

(१७) मीव्यहे । “मीव्यहम्”—इति धननामसु व्याख्यातञ्च (२३६ पृ०) । मीव्यहार्यत्वात् संग्रामोऽपि मीव्यहम् । यद्वा, मीव्यहमस्मिन्नस्तीति ‘लुगफारेकाररेफाश्च (४, ४, १२८ पा० २)’—इति मत्वर्थीयस्य लुक् । “प्रघने”—इत्यपठितमपि संग्राम-नाम । प्रकीर्णान्यस्मिन्निति आभरणरूपेण चूडामणिकटकपि-क्षेपान् । “स्वर्माव्यहे नरा आजा हयन्ते (अ० सं० १, ५, ५, १)”—इति निगमः । ‘स्वर्माव्यहे । स्वरित्युदकनाम । उदकार्ये संग्रामे आर्जो अन्यस्मिन्नपि संग्रामे’—इति स्वल्दस्यामिभाष्यम् । “स जामिभिर्व्यत्समजातिमीव्यहे (अ० सं० १, ७, १०, १)”—इति च ॥

(१८) पृतनाः । ‘पृङ् व्यायामे (नु० आ०)’ ‘पृपूतां रित्’—इति तनन्प्रत्ययः । व्याप्रियन्तेऽत्र योद्धारः । “रणाय निघ्नन् पृतनासु शत्रून्”—इति निगमः ।

(१६) स्पृधः । स्पर्द्धं सङ्घर्षं (भू० आ०) । किञ्चिच्चिप्रच्छि
 (३, २, १७८ घा०)—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिप्रसिद्धिः (३,
 २, १७८ भा०)'—इत्युक्तेः क्तिप् । पृषोदरादित्वात् रेफस्य
 ऋकारोऽलोपश्च । शसि स्पृधः । स्पर्द्धन्तेऽत्र परस्परं योद्धारः ।
 “जयेम संयुधि स्पृधः (ऋ० सं० १, १, १५ ३)”—इति निगमः ।
 स्पृध इति संग्रामनाम, तत्करोति (३, १, २५ घा० २)—इति
 णिजन्तात् क्तिप्, संग्रामकारिण इत्यर्थः—इति स्कन्दस्यामि-
 भाष्यम् ।

(२०) मृधः । ‘अमर्द्धन्ता सोमपेयाय देवा (ऋ० सं० ३, १,
 २५, ४)’—‘मिहो न पातममृधम् (ऋ० सं० ३, १४, १)’—इत्यादौ
 ‘मृधिर्हिसार्थः’—इति स्कन्दस्यामिभाष्यम् । तत्र पूर्ववत् क्तिप्
 शस् । “अयं सुतः सुमज्जमा मृधस्कः (ऋ० सं० २, ६, २१, ४)”—
 “घिन इन्द्र मृधो जहि (ऋ० सं० ८, ८, १०, ४)”—इति निगमौ ॥
 (२१) पृत्सु । पृतनाशब्दश्च संग्रामनामसु पठितोऽपि
 ‘नासिकापृतनासानूर्ना नत्पृत्स्नवो घाच्याः (६, १, ६ ३ घा०)
 —इति पृदादेशे विकृतत्वात् पुनः पाठः । “यमग्रे पृत्सु मत्तर्षम्
 (ऋ० सं० १, २, २३, २)”—इति निगमः ।

(२२) समत्सु । सम्पूर्वादत्तेः क्तिप् समाश्रयन्ति योऽधृणामा-
 युं पि । सम्पूर्वान्मदी हर्षे इत्यस्माद्वा क्तिपि समो मलोपः ।
 संहृष्यन्ति तत्र सुभटाः । “समत्सु त्वा हवामहे (ऋ० सं०
 ५, ८, ३६, ३)”—“घन्यना तीव्राः समदो जयेम (ऋ० सं० ५, १,
 १६, २)”—इति निगमौ ।

(२३) समर्थे । मर्यशब्दो मनुष्यनामसु व्याख्यातः (१६६ पृ०) । मर्यैः मरणधर्मिभिः सह वरति, सहशब्दस्य सभावः । “मास्मै-
तादृगपगूहः समर्थे (ऋ० सं० ७, ७, १६, ४)” — “तयस्यधाच
इयमासमर्थे (ऋ० सं० १, ५, ७, १)” — इति निगमौ ॥

(२४) समरणे । सम्पूर्वात् ‘ऋ ख गती (भू० प०)’ — इत्य-
स्मात् ल्युट् । “मां घृताः समरणे हयन्ते (ऋ० सं० ३, ७, १७,
५)” — इति निगमः ॥

(२५) समोहे । ‘उहिर् दुहिर् अर्धने (भू० प०)’ । नभ्रपूर्वा-
दुद्देश्यम् । सम्यगुहान्ते अर्धन्तेऽत्र मिथो योजनारः । ‘अधिगय
ओहम् (ऋ० सं० १, ४, २७, १)’ — इत्याद्यां घहेदिदं कृपमिति
स्फुन्दस्यस्मी । स च सम्पूर्वाद्धहेर्घञि पृगेदरादित्यात् सम्प्रसारणे
लघूपधगुणः । समुहान्तेऽत्र एधादिता सुमन्त्राः, सुमन्त्रैर्वा कथयामि ।
“समोहे वा य आशत (ऋ० सं० १, १, १६, १)” — इति
निगमः । ‘अन्तोदात्तं संश्रामनाम, मध्योदात्तं णमुलन्तम्’ —
इति माधयः । “इयन्ति रेणं मघवा समोहम् (ऋ० सं० ३,
५, २३, ३)” — इति णमुलन्तम् ।

(२६) समिधे । सम्पूर्वादेतेः ‘सर्माणः (उ० २, १०)’ — इति
घञ् । “यदन्यरुणः समिधे यभूय (ऋ० सं० ५, ६, २५, ६)” —
“स इन्महानि समिधानि मज्मना (ऋ० सं० १, ४, १६, ५)” —
इति निगमौ ॥

(२७) सह्ये । सम्पूर्वात् चक्षिडः ‘अन्येष्वपि दृश्यते (३, २,
१० १)” — इति डः, ‘घटुलं सभ्रगाच्छन्दसां (२, ४, ५३ पा०)’

—इति ख्यात्रादेशः, पृषोदरादित्वाद्यकारलोपः । सम्पूर्वश्चक्षिर्य-
जर्जनार्थः । सञ्चक्ष्यते कातरैः । यद्वा, सम्पूर्वात् अश्रोतेः 'डिच्च'
—इति स्रप्रत्ययः, ढिलोपेन घातुलोपः । समश्नुषतेऽस्मिन्न-
न्योन्यं योद्धारः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२८) सङ्गे । सम्पूर्वाद्गु गमेर्डेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २,
१०१)"—इति डः, पूर्ववद् वा । "सङ्गे समत्सु वृत्रहा (ऋ०
सं० ८, ७, २१, १)"—इति निगमः ॥

(२९) संयुगे । 'युजिर् योगे (६० उ०)' । यञ् उक्थादिषु
युग शब्दस्य पाठात् निपातनादगुणत्वम्, 'विशेषेऽसौ निपातन-
मिष्यते, कालविशेषे रथाद्युपकरणे च'—इति वृत्तिः । सङ्गता
रथयुगा पस्मिन् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३०) सङ्गथे । सम्पूर्वात् 'गूथ यूथ प्रोथ वृष्टादयः'—इति
थप्रत्ययान्तो निपात्यते । "आ ये वामस्य सङ्गथे (ऋ० सं०
२, ८, ६, ५)"—इति निगमः ॥

(३१) सङ्गमे । सम्पूर्वाद्गु गमेः 'ग्रहवृहनिश्चिगमश्च (३, ३,
'५८)'—इत्यप् । "जैत्रं यन्ते अनुमदाम सङ्गमे (ऋ० सं० १,
७, १४, ३)"—इति निगमः ॥

(३२) वृत्ततूर्ये । वृत्रशब्दो मेघनाम, अत्रासुरः शत्रुवचनः ।
मेघनामसु व्याख्यातः (६० पृ०) 'तुरि गतित्त्वरर्हसयोः (दि०
आ०) अन्त्यादित्वात् (उ० ४, १०८) । वृत्रतूर्यतेऽनेनास्मिन्
चा । " इन्द्रो वृणीत वृत्रतूर्ये"—"यूपमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये"
—इति निगमो ॥

(३३) पृष्ठे । 'पृथ्वी सम्पर्कं (६० प०)' । स्रुवृश्चिरुत्पृथ्विभ्यः कित् (उ० ३, ६२) — इतिवाहुल्कात् सप्रत्ययो भवति । सम्पृचन्तेऽस्मिन् परस्परं योद्धारः । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(३४) आणी । 'अण रण क्वण शब्दार्थाः (भू० प०)' । 'अपिशिचिपलिघसिजम्यणिपनिभ्य इण्' । रणवदर्थः । "त्वं शुष्णं घृजने पृक्ष आणी (ऋ० सं० १, ५, ४३)" — इति निगमः । 'आणी इति संग्रामनाम' — इति स्कन्धस्वामिभाष्यम् ।

(३५) शूरसार्तो । 'शु गर्तो (सीघ्रः)' — इत्यस्मात् 'शुसिन्निर्मीनां दीर्घश्च (उ० २, २४)' — इति रन्प्रत्ययः । 'वणु दाने (त० उ०)' । 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च (३, ३, ६७)' — इति सनोतेः 'जनसनखनाम् (३, ४, ४२)' — इत्यात्थे हृत्ते खरो निपात्यते । स्यतेर्वा 'यतिस्यति (७, ४, ४०)' — इतीत्याभायश्च । शूराणां सातिः वेतनादानं मरणं वा येन । "यः शूरसाता परितक्म्ये (ऋ० सं० १, २, ३३, १)" — इति निगमः ॥

(३६) घाजसार्तो । घाजोऽन्नं दीयते येन । "घृधे च नो भयर्तं घाजसार्तो (ऋ० सं० १, ३, ५, ६)" — इति निगमः ॥

(३७) समनीके । 'अन प्राणने (अदा० प०)' । अनिः, हृपिभ्यां कित् (उ० ४, १७) — इति ईकन्प्रत्ययः । अनित्यनीकम् । यद्वा, नञ्पूर्वाग्रयतेः 'पिपीलिकादयश्च (उ० ४, २५)' — इति निपात्यते । न नीयते न चाल्यते अनीकम् सेनाविशेषः । सङ्गतान्यनीकानि यस्मिन् । "भोजः शत्रन् त्समनीकेष जिता (ऋ० सं० ८, ६, ४, ५)" — इति निगमः ॥

(३८) खले । 'खज मन्ये (भू० प०)' । पुंसि सञ्ज्ञायां
 घः (३, ३, ११८)' । व्यत्ययेन जकारस्य लकारः । मन्यन्ते
 हि योद्धारस्तत्र । 'खल सञ्चलने (भू० प०)'—इत्यस्माद्वा
 घः । व्यत्ययेन सकारलोपः । खलन्ति तत्र कातराः । "खले
 न पर्पान् प्रति हन्मि भूरि (ऋ० सं० ८, १६, २)"—इति
 निगमः ॥

(३९) खजे । 'खज मन्ये (भू० प०)' । पूर्ववत् साध्योऽ-
 र्थश्च । "कर्मन् कर्मञ्छतमूतिः खजङ्कुरः (ऋ० सं० १, ७,
 १५, १)"—इति निगमः ॥

(४०) पौंस्ये । बलनामसु व्याख्यातम् (२३५ पृ०)' ।
 अमिवर्द्धतेऽनेन । निगमोऽभ्येपणीयः ॥

(४१) महाधने । 'मह पूजायाम् (भू० प०)' । 'वर्त्तमाने
 पूषद्वयुहन्महजगच्छतृचच्च (उ० २, २७)'—इति निपातनम् ।
 घचिः प्रीणनार्थः (भू० प०) । इदित्वान्नुम् । पचाधच् ।
 घकारलोपः, इकारस्याकारश्चपूपोदरादित्वात् । धिनोतीति धनम्
 प्रीणयेतीति संग्रामो यद्द्वारा । महत्त्वात्सी धनञ्च महाधनम् ।
 'महद्वनमर्थोऽनेनेति वा । "इन्द्रं वयं महाधने (ऋ० सं० १, १,
 १३ ५)"—"नास्य घर्त्ता तस्तु महाधने (ऋ० सं० १, ३, २१
 ३)"—इति निगमौ ॥

(४२) घाजे । घाजशब्दो व्याख्यातो बलनामसु (२३१ पृ०) ।
 "इन्द्रं घाजेषु नो अब (ऋ० सं० १, १, १३, ४)"—"तं त्या
 घाजेषु घाजिनम् (ऋ० सं० १, १, ८, ३)"—इति निगमौ ।

(४३) अज्म । अज गति क्षेपणयोः (भू० प०) । मनिन् ।
“अग्निर्नादीदेच्चित इद्धो अज्मन्ना (ऋ० सं० १, ७, १६, २)”
—इति निगमः । ‘यत्तृहे युद्धे घा’—इति माधवः ॥

(४४) सद्गम । सदेमनिन् । अवसाद्यन्तेऽत्र प्राणितः ।
निगमोऽन्येषणीयः ॥

(४५) संयत् । सम्पूर्णाद् यमेर्यतेर्घा औणादिकः क्तिप् ।
यमेरुनासिकलोपः तुगागमः । संयतन्ते संयच्छन्ति हयादीन् ।
“इलान्नः संयतं करत् (ऋ० सं० ५, ७, २, २)” । ‘संयत्
संग्रामः’—इति हरदत्तः । “भासंयत मिन्द्रणः स्वस्तिम्
(ऋ० सं० ४, ६, १४, ५)” —इत्यत्र ‘संयतं युद्धम्’—इति
माधवः ॥

(४६) संयतः । सम्पूर्णाद् यनैः सम्पदादित्वात् क्तिप्, अनुना-
सिकलोपे तुगागमः । संयननीयो हि शूरैः संग्रामः । “परस्या
अधि संयतः (ऋ० सं० ६, ५, २६, ५)” —“संयतो नयजातस्तु
तुर्यात् (ऋ० सं० ४, १, ७, ३)” —इति निगमो ॥

इति पट्चत्वारिंशत् संग्रामनामानि ॥ १७ ॥

इन्वति (१) । नक्षति (२) । आक्षाणः

(३) । आनट् (४) । आपट् (५) । आपानः (६) ।

अंशत् (७) । नशत् (८) । आनशे (९) ।

अश्नुतः (१०) । इति दश व्याप्तिकर्माणः ॥ १८ ॥

(१) इन्वति । अत्र वधकर्मसु ऐश्वर्य्यकर्मसु च अनेकार्य-
त्वादिगतिकर्मादावुक्तमनुसन्धेयम् । 'इवि व्याप्तौ (भू० प०)' ।
“सधीनां योगमिन्वति (ऋ० सं० १, १, ३५, २)” —इति निगमः ।

(२) नक्षति । 'नक्ष रक्ष गतौ (भू० प०)' । नक्षद्वाभंततुर्दि-
पर्वतेष्टाम् (ऋ० सं० ४, ६, १३, २) —“वृद्धस्य चिद्वर्द्धतो ग्रामि-
नक्षत (ऋ० सं० १, ४, १०, ४)” —इति निगमो । इन्वति नक्ष-
तीति व्याप्तिकर्मसु पठितस्य इकार आगम ईछान्दसः —इति-
स्कन्दस्यामिभाष्यम् ।

(३) आक्षाणः । अश्नोतेर्लटि शानच् । 'सिन्वहुलं लेटि
(३, १, ३४)' —इति बाहुलकात् सिपि, उपधादीर्घश्च, प्रश्नादिपत्ये
'पठो कः सि (८, २, ४१)' आदेशः प्रत्यययोः (८, ३, ५६) णत्वम् ।
आक्षाणे शूर वज्रिवः (ऋ० सं० ७, ७, ८, १) —इति निगमः ।
भाष्यं द्रष्टव्यम् ॥

(४) आनद् । 'जश अदर्शने (दि० प०)' । लुङि च्लेः 'मन्त्रे
घसङ्घरणश (२, ४, ८०), —इति लुक् । संयोगान्तलोपे (८, २,
२३), प्रश्नादिपत्ये (८, २, ३६), जश्त्वम् । 'छन्दस्यपि दृश्यते
(६, ४, ७३), —इति आङ्गगमः । “किमिच्छन्ती सरमा प्रेक्षमा-
नद् (ऋ० सं० ८, ६, ५, १)” —“धर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानद् (ऋ०
सं० ८, २, ६६, १)” —इति निगमो ॥ यद्वा अश्नोतेर्लटि पश्ये
व्यत्ययेन पशो लुक्, प्रश्नादिना पत्यम्, 'मलांजशोऽन्ते (८, २,
३६)' 'घाऽयसाने (६, ४, ५६)' । “उपांशुना समममृततयमानद्
(ऋ० सं० ३, ८, १०, १) —इति निगमाः ॥

(५) आष्ट । अश्नोतेर्लुङि आत्मनेपदप्रथमपुरुषैकवचनम् ।
“आष्ट मविदार्थगाधम्”—इति निगमः

(६) आपानः । ‘आप्ल व्याप्तौ (स्वा० प०)’ शानच् । अन्तर्ते-
र्यधकर्मणः ‘तद्रूपम्’ इति स्कन्दस्वामी । “आपानासो विवस्वतः
(ऋ० सं० ६, ७, ३४, ५)” —इति निगमः । भाष्यं द्रष्टव्यम्
(निरु० ३, १०) ॥

(७) अशत् । अश्नोतेर्न्यत्ययेन लङि च्लेः पूर्वयत् लुक् ।
‘बहुलं छन्दस्यमाङ्ग्योगेऽपि (६, ४, ७५)’ —इत्यङ्भावः । निग-
मोऽन्वेषणीयः ॥

(८) नशत् । नश्यतेर्लेटि ‘लेटोऽडाटो (३, ४, ६४)’ ‘इतश्च
लोपः परस्मैपदेषु (३, ४, ■■)’ । “स धीतये ते नशत्”—“न
विः शयांसि ते नशन् (ऋ० सं० ६, ५, २, ३)” —इति निगमौ ॥

(९) आनशे । अश्नोतेर्लेटि रूपम् । “न किः स्वय आनशे
(ऋ० सं० १, ६, ६, १)” —इति निगमः ॥

(१०) अश्नुते । “अतततनूर्नतद्रामो अश्नुते (ऋ० सं० ७,
३, ८, १)” —“व्यश्नुहि तर्पया काममेवाम् (ऋ० सं० १, ४, १८,
४)” —इति निगमौ ॥

इति दश व्याप्तिकर्मणः ॥ १८ ॥

दम्नोति (१) । श्रथति (२) । ध्वरति (३) ।
धूर्वति (४) । वृणक्ति (५) । वृश्चति (६) ।
कृण्वति (७) । कृन्तति (८) । श्वसिति (९) ।

नभते (१०) । अर्दयति (११) । स्तृणाति (१२) ।
 स्नेहयति (१३) । यातयति (१४) । स्फुरति
 (१५) । स्फुलति (१६) । निवपन्तु (१७) ।
 अवतिरति (१८) । वियातः (१९) । आतिरत्
 (२०) । तलित् । (२१) । आखण्डल (२२) ।
 द्रूणाति (२३) । रमूणाति (२४) । शृणाति
 (२५) । शम्नाति (२६) । तृणेव्हि (२७) ।
 ताव्हि (२८) । नितोशते (२९) । निवर्हयति
 (३०) । मिनाति (३१) । मिनोति (३२) ।
 धमति (३३) । इति त्रयस्त्रिंशत् वधकर्माणः ॥१६॥

ध्यातिकर्मसु शाकपूणेतिरिक्ता एव “विष्याकः”—“उद-
 व्यचाः”—“विम्रे”—इति स्कन्दसामी ॥

(१) दम्नोति । “दम्भु दम्भे” स्वादिः (५०) । “न त्वा
 केता आ दम्भु घन्ति भूर्णयः (ऋ० सं० १, ४, २०, २)” —इति
 निगमः ॥

(२) अथति । अथ त्रय मय हिंसायाम् (भू० प०) । अथदु
 धृद्रमुत सनोति घाजम् (४, ८, २७ १) —“नय पुरो नयति च
 अघिष्टम् (ऋ० सं० ५, ६, २३, ५)” —इति निगमौ ।

(३) ध्वरति ।

(४) धूर्वति । 'तुर्व धुर्व दुर्व थुर्व हिंसार्थाः (भू० प०)' ।
'उपधायाञ्च (८, २, ७८)'—इति दीर्घः । "धूरसि धूर्व धूर्वन्तं
धूर्व (प० षा० सं० १, ८)"—इति निगमः ॥

(५) वृणक्ति । वृजी वर्जने रुधादिः । "नि चक्रेण रथ्या
दुण्पदा वृणक् (ऋ० सं० १, ४, १६, ४)"—इति निगमः ॥

(६) वृश्चति । 'ग्रश्च छेदने' तुदादिः । ग्रहिज्या (६, १, १६)
—इत्यादिना सम्प्रसारणम् । 'वृश्चा मध्यं ग्रह्यग्रं शृणीहि (ऋ०
सं० ३, २, ४, २)"—"विषृश्च घञ्णे वृश्चमिन्द्रः (ऋ० सं० १, ४,
२८, ५)"—इति निगमौ ॥

(७) रुण्वति । 'रुचि हिंसाकरणयोः (भू० प०)' व्यत्ययेन
'घ्रिन्विहृण्वोरच (३, १, ८०)'—इत्येतन्न भवति ॥

(८) रुन्तति । 'रुती छेदने (पा०)' तुदादिः । 'शेमुचा-
दीनाम् (७, १, ५६)' । "वि द्रुस्यू र्योनाचरुतो वृथापाद् (ऋ० सं०
१, ५, ४, ४)"—इति निगमः ॥

(९) श्वसिति ॥

(१०) नभते । 'णभ तुभ हिंसायाम्' (भू०) आत्मनेपद्री ।
"नभन्ता गन्यके समे (ऋ० सं० ६, ३, २२, १)"—इति निगमः ॥

(११) अर्दयति । 'अर्द हिंसायाम्' (भू० प०) आधृषीयः ।
"वृत्रं विपर्वमर्दयत् (ऋ० सं० २, ५, ६, १)"—इति निगमः ॥

(१२) स्तृणाति । 'स्तृन् आच्छादने' ऋधादिः रुधादिः । 'कटु
चृत्रमोऽ अस्तृतम् (ऋ० सं० ६, ४, ४६, ५)"—इति निगमः ॥

(१३) स्नेहयति । 'ष्णिह स्नेहने' चुरादिः । “यः स्नीहि-
तीषु पूर्व्यः (ऋ० सं० १, ५, २१, २)”—इति निगमः । ‘स्नेह
यतिर्वधकर्म’—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१४) यातयति । ‘यति निकारोपस्कारयोः’ चुरादिः । “अया-
तयन्त क्षितयो नघाघाः (ऋ० सं० १, ३, २, १)”—इति निगमः ॥

(१५) स्फुरति । (१६) स्फुलति । ‘स्फुर स्फुरणे’ ‘स्फुल
सञ्चलने’ तुदादिः, कुटादिः । “पदा भ्रुम्पमिव स्फुरत् (ऋ० सं०
१, ६, ६, ३)”—“आर्त्तो इमे विस्फुरन्ती अमित्रान् (ऋ० सं०
५, १, १६, ४)”—इति निगमः । ‘स्फुरतीति वधकर्मसु पाठात्’
—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१७) निघपन्तु । ‘टु घष घीजसन्ताने (भू० उ०)’—इत्य-
स्मात् लोट् । “अन्यन्ते अस्मन्निघपन्तु सेनाः (ऋ० सं० २, ७,
१८, १)”—इति निगमः ॥

(१८) अघतिरति । तस्तेर्लट् ‘बहुल छन्दसि (७, ४, ७८)’
—इतीत्यम् । “अघातिरज्योतिषाग्निस्तमांसि (ऋ० सं० ४,
५, ११, १)”—“यदिन्द्र शारदीरघातिरः (ऋ० सं० २, १, २०, ४)”—
इति निगमः ॥

(१९) चियातः । ‘तत्र चियात इत्येतद् चियातयन इति
चियातयेति घा (निरु० ३, १०)’—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी
तस्य समाधिमर्थं व्याचष्टे—‘चिपूर्वस्य यातयतेर्चा ये प्रत्यये
चियातय इति भवति धारयः पारयः इतिचत् । तस्य सम्बोधनम्
चियातयेति । चियातयितरिति घा पाठान्तरम्—इति । धारय-

पास्येति दृष्टान्तप्रदर्शनेन 'व्यत्ययो बहुलम् (३, १, ८५)'—इति
अस्मादपि 'अनुपसर्गाल्लिप्पचिन्द (३, १, १३८)'—इति सूत्रेण
शप्रत्यय इति दर्शयति ॥

(२०) आतिरत् । आङपूर्वात्तरत्तेर्लङ् पूर्ववत् इत्यम् । “इन्द्रः
पूर्भिरातिरत् दासमर्कः”—इति निगमः ॥

(२१) तलित् । अन्तिकनामसु व्याख्यातम् (२७५ पृ०) ॥

(२२) आखण्डल । 'खड खडि कडि भेदे (५०)'
चुरादिः । अस्मादाङ्पूर्वात् 'मङ्गेरलच् (३० ५, ७२)'—इति
याहुलकादलच् । “आखण्डल प्रह्वयसे (अ० सं० ६, १, २४,
२)”—इति निगमः ॥

(२३) दृणाति । 'दृ हिंसायाम्, क्रयादिः । “तृप्वी मनु
प्रसिति दृणानः (अ० सं० ३, ४, २३, १)”’—इति निगमः ॥

(२४) रम्णाति । 'रम् क्रीडायाम्' भूवादिरात्मनेपदी,
व्यत्ययेन श्ना, परस्मैपदम् ॥

(२५) शृणाति । 'शृ हिंसायाम्' क्रयादिः प्यादिश्च । “शृणाति
धीलुरुजति स्थिराणि (अ० सं० ८, ४, १५, २)”—इति निगमः ॥

(२६) शस्नाति । 'शम् उपशमे' दिवादिः । व्यत्ययेन श्ना
“शिशिरं जीवनायकम् (नि० १, १०)”—इति निगमः । 'शिशिरं
शृणातेः शस्नातेर्वा’—इति निरुक्तम् (१, १०) । 'शस्नातेः
हिंसार्थस्य’—इति स्कन्दस्वामी ॥

(२७) तृणेव्यहि । 'तृहि हिंसायाम्' रुधादिः । लटि तिपि
एकारमाद्यः । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(२८) ताव्वहि । 'तड् आघाते' चुरादिः । लण्मध्यमः ।
पृषोदरादित्वात् रूपसिद्धिः । "वि शूत्रन्ताव्वहि वि मृधो
नुदस्य (ऋ० सं० ८, ८, ३८, २)"—इति निगमः ॥

(३६) नितोशते । तोशते नैरुक्तो धातुः । "मन्दी मदाय
तोशते (ऋ० सं० ७, ५, १३, ४)"—"इन्दुरिन्द्राय तोशते नितोशते
(ऋ० सं० ७, ५, २१, ११)"—"सुनासीरा हविषा तोशमानाः"—
इति निगमाः ॥

(३०) निवर्हयति । 'वर्हि हिंसायाम्' चुरादिः, निपूर्वः ।
"वर्हिष्यते नि सहस्राणि वर्हयः (ऋ० सं० १, ४, १६, १)"—इति
निगमः ॥

(३१) मिनाति, (३२) मिनोति (३३) धमति । गतिकर्मसु
व्याख्याताः (२५६ पृ०) । "न ता मिनन्ति मायिनो न धीराः
(ऋ० सं० ३, ४, १, १)"—"न मिनन्ति वेधसः"—"उशिग्भ्यो
नामिमीत घर्णाम् (ऋ० सं० २, ५, २४, ५)"—इति मिनातेर्नि-
गमाः । अत्र 'मिनातिर्वधकर्मा'—इति स्कन्दस्यामी । "घाया
घर्णं घरत आमिनाने (ऋ० सं० १, ८, १, २)"—"उत
द्वियर्हो अमिनः सहोमिः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)"—इति
मिनोतेर्निगमो । अनयोः, 'मिनोतिर्वधकर्मा'—इति इत एव ।
"वि सगरश्मिरधमत्तमांसि (ऋ० सं० ३, ७, २६, ४)"—इति
निगमः ॥

इति त्रयस्त्रिंशत्तु घधकर्माणः ॥ १६ ॥

दिद्युत् (१) । नेमिः (२) । हेतिः (३) ।
 नमः (४) । पविः (५) । सूकः (६) । वृकः (७) ।
 वधः (८) । वज्रः (९) । अर्कः (१०) । कुत्सः (११) ।
 कुलिशः (१२) । तुजः (१३) । तिग्मम् (१४) ।
 मेनिः (१५) । स्वधितिः (१६) । सायकः (१७) ।
 परशुः (१८) । इत्यष्टादश वज्रनामानि ॥ २० ॥

(१) दिद्युत् । 'द्युतर्दीर्घा (भू० भा०)' । द्युतिगमिजुहोतीनां
 द्वे च (३, २, १०८ पा० २)—इति क्विपि द्वित्ये, 'द्युतिस्पाप्योः
 सम्प्रसारणम् (७, ४, ६४)' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् ।
 द्योतते उड्यल्लत्थाम् । द्यतेर्षा क्विपि पृथोदगदित्यात्
 रूपसिद्धिः । द्यति शत्रून् । "अस्तुर्न दिद्युत्त्वेण प्रतीका (ऋ०
 सं० १, ५, १०४)"—"यत्रा द्यो दिद्युद्रदति (ऋ० सं० २, ४,
 २, १)"—"या ते दिद्युद्वमृष्य (ऋ० सं० ५, ४, १३, ३)"—
 इति निगमः ।

(२) नेमिः । नयतेः 'नियोमिः (उ० ४, ४३)'—इति मि
 प्रत्ययः । नयति शत्रून् पिनाशं, नीयन्तेऽनेन वा पेट्यर्ष्यात् ।
 यद्वा, णमु प्रहृत्वे (भू० प०) । उत्सर्गाच्छन्दसि गमादिभ्यो-
 दर्शनान् (३, २, १०१ भा०)—इति क्विप्रत्ययः । लिङ्यदभाषाद्
 द्विर्घचने 'अत एकादशमभ्येऽनादेशादेर्लिङि (६, ४, १२०)' अन्तर्जो-

तृण्यर्थो नमिः । नमयति शत्रून् । “अरिष्टनेर्मि पृतनाजमाशुम्
(ऋ० सं० ८, ८, ३६, १)”—इति निगमः ॥

(३) हेतिः । हन्तेर्हिनोतेर्घा ‘ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकी-
र्त्तयश्च (३, ३, ६७)’—इति किनि हन्तेर्नकारस्येत्वम्, हिनोतेर्गु-
णश्च निपात्यते । हन्यन्तेऽनेन शङ्खः, गम्यतेऽनेन जयः, यद्ध्यते
वैश्यर्यम् । “ब्रह्माद्विषे तपुषि हेतिमस्य (ऋ० सं० ३, २, ४, २)”
—इति निगमः ॥

(४) नमः । नमतेरसुन् । नेमिचदर्धः । निगमोऽन्येप-
णीयः ।

(५) पधिः । पधतिर्गतिकर्मा । ‘अथ इः (३० ४, १३४)’ ।
गन्ता शत्रून् गम्यतेऽनेन यश इति च । “सुकं संशाय पधिमिन्द्र
तिगमम् (ऋ० सं० ८, ८, ३८, २)’—इति निगमः । सुकतिगम-
शब्दावत्र क्रियाशब्दौ ।

(६) सुकः । ‘सु गतो (भू० प०)’ । सुभूभूषुषिमुषिभ्यः
फक् (३० ३, ३६)—इति कप्रत्ययः । दर्शितनिगमः (ऋ० सं०
८, ८, ३८, २) ॥

(७) वृकः । ‘वृक आदाने (भू० धा०)’ इगुपधलक्षणः
कः (३, १, ६२५) । आदत्ते शत्रुप्राणान् । वृणक्तेर्घा के
पृषोदरादित्यात् (६, ३, १०६) रूपसिद्धिः । हेतिषदर्धः ।
निगमोऽन्येपणीयः ॥

(८) घघः । ‘जनिवध्योश्च (७, ३, ३५)’—इति घृद्धिप्रति-
षेधः । हेतिषदर्धः । “वृत्रस्य यद् भृष्टिमता घघेन (ऋ० सं०

१, ४, १४, ५)”—“इन्द्रो अस्या अचवधर्जमार (ऋ० सं० १, २, ३७, ४)”—इति निगमो ॥

(६) घञः । ‘घञ गतो (भू० प०)’ । ऋज्जेन्द्र (८० २, २७)”—इत्यादिना रज्प्रत्ययान्तो निपात्यते । यद्वा, वृणक्तेर्हेतु-
मण्यगतात् रक्, गुणे, प्राप्तस्य रेफस्य लोपः । घर्जयति प्राणैः
शत्रून् । अन्ये घर्जयतिमेव विनारार्थमाहुः विनाशयति शत्रून् ।
त्यष्टास्मै घञं स्वयन्ततश्चः (ऋ० सं० १, २, ३६, २)”—इति
निगमः ॥

(१०) अर्कः । ‘अर्च पूजायाम्’ (भू० प०) । ‘हृदाधारा-
निकलिभ्यः कः (३० ३, ३८)”—इति कप्रत्ययः । ‘चोः कुः
(८, २, ३०) । “इन्द्रः पूर्वमिदातिरह्दासमर्कः (ऋ० सं० ३, २, १५, १)”—इति निगमः ॥

(११) कुत्सः । कुन्तनेः । ‘स्तुवृश्चिहृत्पृषिम्यः कित् (३०
३, ६३)’—इति सप्रत्ययः । कुन्तनेरकारस्य याहुलकादुत्पम् ।
कुन्तति शत्रून् । यद्वा, ‘कुत्स शेषणे’ चुरादिरात्मनेपदी । घञ् ।
कुत्सयत्यनेन शत्रून् । “सद्यो दस्यून् प्रमृण कुत्सयेन । (ऋ०
सं० ३, ५, १६, २)”—इति निगमः । यकार उपजनः ॥

(१२) कुन्तिशः । ‘कुलपर्वतान् श्यति पञ्चच्छेदेन तनूकरोति’
—इति स्पन्दम्यामी । क्षारस्वामी—कुलशब्दउपपदे श्यनेः
‘आतोऽनुपसर्गं कः (३, २, ३)’ शृणोदरादित्यान् अकारम्येकारः ।
यद्वा, कुलशब्दोपपदादन्तर्णोत्तण्यर्थात् ‘शङ्ख शतने (भू० तु०
प०)’—इत्यस्यान् ‘अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)’—इति ३,

पूर्ववदिकारः । मेघस्यान्तं पर्वतस्य घा समुच्छिताः प्रदेशाः
कुल्लानीय, तेषां शातनात् । “स्कन्धासीव कुलिशेनाविवृक्णाहिः
(अ० सं० १, २, ३६, ५)”—इति निगमः ॥

(१३) तुजः । तुजेः पचाद्यच् । हेतिचदर्धः । निगमो-
ऽन्येपणीयः ॥

(१४) तिग्मम् । ‘तिज निशाने’ चुरादिः । ‘युजिरचितिजां
कुञ्ज (उ० १, १४३)’—इति मक्प्रत्ययः कुत्पञ्च । तिज्यते
तीक्ष्णीक्रियते । ‘तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः तीक्ष्ण इहायुधं
योध्वारमुत्साहयति तिग्मशातनः’—इति माधयः । “धि तिग्मेन
वृषमेणा पुरोभेत् (अ० सं० १, ३, ३, ३)”—इति निगमः ।

(१५) मेनिः । मन्यतेः कान्तिकर्मणः ‘उत्सर्गतश्छन्दसि
गमादिभ्यो दर्शनात् (३, २, १७१ भा०)’—इति क्प्रत्ययः ।
नैमिषन् प्रक्रिया । काम्यते हि आयुधम् । यद्वा, ‘मिन्
हिंसायाम् (अ० ३०)’ ‘वीज्याःघरिभ्यः (उ० ४, ४८)’—
यादुलकात् निप्रत्ययः । हेतिचदर्धः । निगमोऽन्येपणीयः ॥

(१६) स्वधितिः । स्वशब्दोपपदात् ‘धि धारणे (तु० ५०)’
इत्यस्मात् चित् । स्व्यं धनं धीयतेऽनेन । “न स्वधितिर्यनन्यति
(अ० सं० ६, ७, १२, ४)”—इति निगमः ॥

(१७) सायः । ‘पोऽन्तकर्मणि (दि० ५०)’ । ण्युलिङ्गो
‘आतो युष् चिण्णृतोः (७, ३, ३३)’ । शत्रूणामन्तकः ।
‘पिन् धन्यते (अ० ३०)’—इत्यस्मात् ण्युल् । यद्वाति
स्थिरीकरोति सद्धम् ऐश्वर्यादि । “पुराविषं सायकेना हिरण्यम्

(ऋ० सं० ८, १, ५, ५)"—"न सायकस्य चिकित्ते जनासः (ऋ० सं० ३, ३, २३, ३)"—इति निगमो ॥

(१८) परशुः । 'ऋ हिंसायाम् (क्या० प०)' । 'आहपरयोः खनिशृम्भां डिञ्च (उ० १, ३२)'—इति कुप्रत्ययः । डिस्माटि-
लोपः । 'परान् शृणातीति परशुः'—इति दण्डनाथवृत्तिः ।
'परान् पयतीति परशुः'—इति क्षीरस्वामी । तत्र शृगव्यादिपातु
(उ० १, ३६) कुः । "शिशीते नम परशु स्वायसम् (ऋ० सं० ८, १,
१४, ३)"—अभीहु शक्रः परशुर्यघायनम् (ऋ० सं० ५, ७, ६, ४)"
—इति निगमो ॥

इत्यष्टादश वज्रनामानि ॥ २० ॥

इरज्यति (१) । पत्यते (२) । क्षयति (३) ।

राजति (४) । इति चत्वार ऐश्वर्य्यकर्माणः ॥ २१ ॥

(१) इरज्यति । कण्ठ्यादिः । "य एकश्चर्पणी बसूनामिरज्यति
(ऋ० सं० १, १, १४, ४)"—"महो नृमूणस्य धर्मणामिरज्यसि
(ऋ० सं० १, ४, १६, ३)"—इति निगमो ॥

(२) पत्यते । नैरुक्तधातुः । दिवादी 'तप ऐश्वर्य्यं घा'
इत्यस्य स्थाने 'पत ऐश्वर्य्यं' इति केचित् पठन्ति । "उग्रं शवः
पत्यते धृष्ण्योजः (ऋ० सं० ३, २, १६, ४)"—"द्युतयामानियुतः
पत्यमान (ऋ० सं० ४, ८, ५, ४)"—इति निगमो ॥

(३) क्षयति । "सेदु राजा क्षयति चर्पणीनाम् (ऋ० सं
१, २, ३८, ५)"—इति निगमः ॥

(४) राजति । 'राजू दीप्तौ (भू० उ०)' स्वरितेत् । "धिया-
विश्या विराजति (ऋ० सं० १, १, ६, ३)"—"राजन्तमध्वराणाम्
(ऋ० सं० १, १, २, ३)"—इति निगमो ॥

इति चत्वार ऐश्वर्यकर्माणः ॥ २१ ॥

राष्ट्री (१) । अर्य्यः (२) । नियुत्वान् (३) ।
इनइन (४) । इति चत्वारीश्वरनामानि ॥ २२ ॥

(१) राष्ट्री । राजतेरैश्वर्यकर्मणः (निघ० २, २१, ४) । ऋन्
सर्वधातुभ्यः (उ० ४, १५४)—इति ऋन् प्रत्ययः । ऋधादिना
(८, २, ३६) पत्यम् । पित्यात् ङीप् (४, १, ४१) । "राष्ट्री
देवानां निपसाद मन्द्रा (ऋ० सं० ६, ७, ५, ४)"—इति निगमः ॥

(२) अर्य्यः । 'ऋ गतौ (भू० ष०)'—इत्यस्मात् ण्यति प्राप्ते
'अर्य्यस्थामिषैश्वर्योः (१, १, १०३)'—इति यञिपात्यते । गण्यते
हि सर्वैरीश्वरः । "समर्य्यो गा भजति यस्य षष्टि (ऋ० सं० १,
३, १, १)"—महिषो अर्य्यः सत्पतिः (ऋ० सं० ६, १, २५, ६)"
—इति निगमो ॥

(३) नियुत्वान् । नियुच्छब्दो व्याख्यातः 'नियुतो घायोः'
इत्यत्र (१७१ पृ०) । नियुतोऽश्वाः ताभिस्तद्वान् । 'तसौ मत्स्ये
(१, ४, १६)'—इति असंज्ञाया विधानाज्जश्त्वम् न भवति ।
"अतो नो यन्मघसे नियुत्वान् (ऋ० सं० ४, ७, १२, ५)"—इति
निगमः ॥

अस्य स्थाने “पति.”—इति केचित् पठन्ति । तत्र ‘या रक्षणे (अदा० प०)’ ‘पातेर्इतिः (उ० ४, ५७)’ । रक्षिता हीश्वरः । ‘पिता पाता वा पालयिता वा’—इति भाष्ये (निरु० ४, २१) अत्र पातेर्पर्यन्ताद् यादुलकात् इतिः रूपसिद्धिश्च स्कन्दस्यामिना उक्ता । “शिशिन् घाजानां पने (ऋ० सं० १, २, २७, २)”—इति निगमः ॥

(४) इनः । एनैः सम्भाजनार्थं वर्तमानात् समुपसर्गार्थविशिष्टाया ‘इण्सिभ्रजिदीडुप्यधिभ्यो नक् (उ० ३, २)’—इति नक् प्रत्ययः । अर्थस्तु ‘तत्रेन इत्येतरसनितः (निरु० ३, ११)’—इत्यत्र स्कन्दस्यामिना विस्तरेणोक्तः । “इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः (ऋ० सं० २, ३, १८, १)”—इति निगमः ॥

इति चत्वारिंशदध्यायनामानि ॥ २२ ॥

इति श्रीदेवराजयज्यविरचिते नैषधककाण्डनिर्घचने

द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

अपस्तुङ्मनुष्याआयरयग्रुवो वश्म्यन्ध
आवयत्योजोमघमध्न्यारेलतेहेलोवर्त्ततेनुतलिद्रण
इन्वतिदभ्नोतिदिद्युदिरज्यति राष्ट्रीति द्वाविं-
शतिः ॥

इति निघण्टो द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।



उरु (१) । तुवि (२) । पुरु (३) । भूरि (४)
 शश्वत् (५) । विश्वम् (६) । परीणसा (७) ।
 व्यानशिः (८) । शतम् (९) । सहस्रम् (१०) ।
 सलिलम् (११) । कुवित् (१२) । इतिद्वादश
 बहुनामानि ॥ १ ॥

(१) उरु । उर्विति पृथिवीनामेति उरुशब्दो व्याख्यातः ।
 आच्छाद्यते क्षणेनाल्पम् । “उरु रुदुरुणस्तृधिः (ऋ० सं० ६, ५,
 २६, १)” — इति निगमः ॥

(२) तुवि । तपतिर्बुद्ध्यर्थः । सौम्रो धातुः । ‘अच इः
 (उ० ४, १३४)’ । वृद्धिर्हि यद्गुः । “तुविजाता उरुक्षया
 (ऋ० सं० १, १, ४, ४)” — इति निगमः ॥

(३) पुरु । पृणातेः ‘पृमिदिव्यधिपृधिपृथिम्यः (उ० १,
 २३)’ — इति वृत्त्ययः । ‘उदोष्ट्यपूर्वम् (७, १, १०२)’ — इति
 उत्पम् । “पुगृतेष यद्गुः पुगृमृजा चनम्यतम् (ऋ० सं० १, १,
 ५, १)” — निगमः ॥

(४) मूरि । भवतेः 'अदिशदिभूशुमिभ्यः क्तिन् (उ० ४, ६५)'—इति क्तिन्प्रत्ययः । भवति तत् सर्वस्यानुग्रहदा । "यत्र गावो मूरिष्टृङ्गा मयासः (ऋ० सं० २, २, २४, ५)"—इति निगमः ॥

(५) शश्वत् । 'दु ओ ष्वि गतिवृद्धयोः (भू० प०)' । 'संश्च सृग्पङ्केहत् (उ० २, ७१)'—इत्यादिना द्विर्वचनम्, अभ्यासवकारैकारकारस्याकारो द्वित्वमाद्युदात्तञ्च निपात्यते । परिचर्द्धते गम्यते वा । "अहं धनानि सञ्जयामि शश्वतः (ऋ० सं० ८, १, ५, १)"—"यच्चिद्धि शश्वता तना (ऋ० सं० १, २, २१, १)"—इति निगमौ ॥

(६) विश्वम् । (७) परीणसा ।

(८) व्यानशिः । विपूर्वादेशोतेस्तसर्गातश्छन्दसि गमादिभ्यो दर्शनात् (३, २, १७१ भा०)'—इति किः । द्वित्वम् । अत आदेः अशोतेश्च । विविधं व्याप्नोति । "व्यानशिः पयसे सोमधर्ममिः (ऋ० सं० ७, ३, १२, ५)"—इति निगमः ॥

(९) शतम् । 'यङ्किर्विशतिस्त्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टि-सप्तत्यशीतिनवतिशतम् (५, १, ५६)'—इति दशदशांशमाचस्त च निपात्यते । "दशदशतः" इति निरुक्तम् (३, १०) । निपातनसामर्थ्यात् बहुमात्रेऽपि घर्त्तते । "वाजयामः शतक्रतो (ऋ० सं० १, १, ८, ४)"—इति निगमः ॥

(१०) सहस्रम् । सहो बलनामसु व्याख्यातम् (२३४ पृ०) । रो मत्पर्यायः । अल्पापि भाविनी शक्तिरस्मिन्नस्ति । "सहस्राक्षरा परमे व्योमन् (ऋ० सं० २, ३, २२, १)"—इति निगमः ॥

(११) सलिलम् । व्याख्यातमुदकनामसु (११७ पृ०) ।
गम्यते हि जलवत् । “श्वेतं सलिलं सर्वमा इदम् (ऋ० सं०
८, ७, १७, ३)”—इति निगमः । ‘सलिलमिति बहुनाम् ।
सलिलं कुविदिति पाठात्’—इति हरदत्तः ॥

(१२) कुवित् । निपातोऽयम् । “कुवित् सोमस्यापामिति
(ऋ० सं० ८, ६, २६, २)—इति निगमः ॥

इति द्वादश बहुनामानि ॥ १ ॥

ऋहन् (१) । ह्रस्वः (२) । निघृण्वः (३) ।
मायुकः (४) । प्रतिष्ठा (५) । कृधु (६) ।
वभ्रकः (७) । दभ्रम् (८) । अर्भकः (९) ।
ध्रुल्लकः (१०) । अल्प (११) । इत्येकादश
ह्रस्वनामानि ॥ २ ॥

(१) ऋहन् । ‘रह ऋजजन्मनि (भू० प०)’—‘रह त्यागे
(भू० प०)’ । अन्योः ‘संक्षत्पद्मे ह्रदित्यादयः (उ० २, ७६)’
—इति रेफस्य सम्प्रसारणम्, इतिप्रत्ययः, शतृवद्भावश्च निपा-
त्यते । तत्र, दण्डनामवृत्तिः—‘आदिग्रहणाद्रिहद्वियदित्यादयो
भपन्ति’—इति । आरुह्यते हि ह्रस्वो वृक्षादिः, त्यज्यते घा-
दीर्घार्थिभिः । “वृहन्तं चिद्वहते रुघयानि (ऋ० सं० ७, ७,
२१, ३)”—इति निगमः ॥

(२) हसः । 'सर्वनिघृष्यश्चप्यलप्यशिवपद्मप्रवृष्टो भतन्त्रे'
—इति घनप्रत्ययान्तो निपात्यते । हसतिः शब्दार्थे पठितः,
तथाप्यत्र न्यूनार्थे घर्तते । "नमो हस्त्राय च घामनाय च (य०
पा० सं० १६, ३०)" —इति निगमः ॥

(३) निघृष्य । घृषु सङ्घर्षे (भू० प०) । अत्र न्यूनार्थः ।
शुरुपधलक्षणः कः । हस्यधर्षः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) मायुकः । 'हु मित्रं प्रक्षेपणे (श्रु० ३०)' । 'ह्यापा
(३० १, १)' —इत्युण् । स्वार्थे कः । प्रक्षिप्यतेऽनायासेन ।
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५) प्रतिष्ठा । प्रतिपूर्वात् तिष्ठनेन्यूनार्थात् 'घप्रर्धे कधि-
धानम् (३, ३, ५८ पा०)' —इति यादुलकात् कर्त्तरि कः ।
प्रतितिष्ठति । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) ह्यु । 'हृती छेदने (४० प०)' । 'पृभिदिव्यधिघृषि
धुरिम्यः (३० १, २३)' —इत्यादिना यादुलकान् कुप्रत्ययान्त-
कारस्य धकारश्च । 'निहन्तमिष दि तद् मयति हस्यत्पादेय' —
इति श्यन्दस्वामी । "यो अस्थोधोरुरजरः स्वर्गान् (श्रु० सं०
४, ६, १३, ३)" —इति निगमः ॥

(७) घम्रकः । 'हु घम उद्विरणे (भू० प०)' न्यूनार्थः ।
'स्मृत्पितृत्रियश्चि (३० २, १२)' —इत्यादिना यादुलकाद्रक् ।
ततः स्वार्थे कः (५, ३, ६७) । "घम्रकः पद्विरपत्तर्पदिन्द्रम्
(श्रु० सं० ८, ५, १५, ६)" —इति निगमः । "स्तयानो घम्रो
विजयान् मन्दिदः (श्रु० सं० १, ४, १०, ४)" —इत्यत्र 'घम्रः

ह्रस्वनामैतत् द्रष्टव्यम् । स्वार्थिककप्रत्ययान्तो ह्रस्वनाममु पठितम्'
इति स्कन्दस्वामी ॥

(८) दध्रम् । दधतिन्यूनार्थः । 'स्फायितश्चिवञ्चिं (उ० २,
१२)'—इति रक् । 'निड्वशि कृति (७, २, ८)'—इतीत्व-
प्रतिषेधः । दध्नं पश्यदुभ्य उर्विया चिवक्ष (ऋ० सं० १, ८, १,
५)"—इति निगमः ॥

(९) अर्भकः ।

(१०) भ्रुल्लकः । भ्रुधं लाति । 'आतोऽनुपसर्गे कः (३,
२, ३)' । स्वार्थे कः । 'भ्रुधं लाति भ्रुल्लकः'—इति क्षीरस्वामी ।
“नमो महद्भ्यः भ्रुल्लकेभ्यश्च भ्रुल्लका शिपिविष्टका”—इति
निगमः ॥

(११) अल्पः । 'अलं भूषणपर्याप्तवारणेषु' । 'अलितलि-
शीङ्गुपाम्यः पः'—इति पः । “अल्पा एनं पशवो मूजन्त
उपतिष्ठेरन्”—इति निगमः ॥

इत्येकादश ह्रस्वनामानि ॥ २ ॥

महत् (१) । दध्रः (२) । ऋष्यः (३) ।

वृहत् (४) । उक्षितः (५) । तवसः (६) ।

तविपः (७) । महिपः (८) । अम्भः (९) ।

ऋभुक्षाः (१०) । उक्षाः (११) । विहायाः (१२) ।

यह्नः (१३) । ववक्षिथः (१४) । विवक्षसे (१५) ।
अम्भृणः (१६) । माहिनः (१७) । गभीरः (१८) ।
ककुहः (१९) । रभसः (२०) । ब्राधन् (२१) ।
विरप्शी (२२) । अद्भुतम् (२३) । वंहिष्ठः (२४) ।
बर्हिपत् (२५) इति पञ्चविंशतिर्महद्नामानि ॥३॥

(१) महत् । 'मानेनान्यान् जहातीति शाकपूणिर्महनीयो
भवतीति चा (निरु० ३, १३)'—इति भाष्यम् । 'मानेन
स्वगुणेन परिमाणेन अन्यान्, यदपेक्ष्य तस्य महत्त्वं, तान् जहाति
अतिक्रामति मानशब्दात् जहातेऽर्थेति शाकपूणिः । निर्यचनलाघ-
चात् महतेः पूजाकर्मणो घटत्याचार्यः'—इति स्कन्दस्वामी ।
उभयत्रापि 'वर्त्तमाने पृषदुष्टहम् महत् (उ० २, ३८)'—इत्यतिप्रत्यये
निपातनादुपसिद्धिः । "महत्तदुल्वं स्थविरं तदासीत् (ऋ० सं०
८, १, १०, १)" —इति निगमः ॥

(२) ब्रध्नः । व्याख्यातमश्वनामसु (१६५ पृ०) । बध्नाति
स्वगुणैः सर्वान् घेतनदानेन भृत्यादीन् । "युञ्जन्ति ब्रध्नमद्य-
पञ्चजन्तम् (ऋ० सं० १, १, ११, १)" —इति निगमः ॥

(३) ऋष्यः । 'ऋष गतो (तु० प०)' । सर्वनिघृष्य (उ०
१५१)'—इति घनप्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते । गम्यते हि
महान् सर्वैः गतो घा भूमिम् । इमावर्षौ गत्यर्थेषु चोद्धव्यौ ।
'ऋषिर्दर्शनात् (निरु० २, ११)'—इति भाष्यादपि दर्शनार्थम्

दर्शनीयो हि महान् । “ऋष्यात इन्द्र स्थविरस्य वाह (ऋ० सं० ४, ७, ३१, ३)”—इति निगमः ॥

(४) बृहत् । ‘बृहि बृद्धौ (भू० प०)’ ‘वर्तमाने पृषद्वृहत् (उ० २, ७८)’—इति निपातनम् । परिवृद्धं भवति हि महत्त्वम् वर्द्धतेऽस्मिन्नैश्वर्यादि वर्द्धतेऽनेन समाश्रितः । बृद्ध्यर्थेऽप्येवमर्थो बोद्धव्यः । “बृहद्वदेम विदधे सुवीराः (ऋ० सं० २, ५, १६, ६)” —“उरोऋष्यस्य बृहतः (ऋ० सं० १, २, १७, ४)” —इति निगमौ । उरोऋष्यस्येत्यत्र ‘ऋष्यस्य महन्नाम यलयतः, बृहतः एतदपि महन्नामैव । वेगसम्यन्धेन न च पुनरुक्तिः । महतःवेगेन शीघ्रस्येत्यर्थः’—इतिस्कन्दस्यामिभाष्यम् ॥

(५) उक्षितः । ‘उक्षतिर्विध्यर्थः’—इतिस्कन्दस्यामी । निष्ठा-यामिडागमः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) तयसः । तयतिर्बृद्ध्यर्थः । ‘अत्यधिकमितमिनामिर-मिलमिनमितपिपतिपनिपणिमहिभ्योऽसच् (उ० ३, ११३)’ । “रजस्तुरं तयसं मास्तं गणम् (ऋ० सं० १, ५, ८, २)” —“तन्त्या गृणामि तयस मतभ्यान् (ऋ० सं० ५, ६, २५, ५)” —इति निगमौ ॥

(७) तचियः । तयतेरेष । ‘तयेर्णिद्धा (उ० १, ४८)’—इति टिप्पन्प्रत्ययः । “सानु गिरीणां तचिपेभिरुर्मिभिः (ऋ० सं० ४, ८, ३०, २)” —इति निगमः ॥

(८) महिषः । महते ‘अविमलौष्टिपच् (उ० १, ४५)’ महद्-दर्थः । पट्ट्या, महतेः कृष्ण, सप्तम्येकघञन्तम्, सदेः ‘अन्येष्वपि

दृश्यते (३, २, १०१)'—इति उपप्रत्ययः, 'तत्पुरुषेकृति बहुलम् (६, ३, १४)'—इति अलुक्, 'सुणामादिषु च (८, ३, ६८)'—इति पञ्चमम् । महि महति स्थाने सीद्धान्तास्ते महिषः । “महिपासी मायिनश्चित्रमानयः (ऋ० सं० १, ५, ७, २)”—इति निगमः ॥

(६) अभ्य । व्याख्यातमुदकनामसु (१४३ पृ०) । आ समन्तात् भवतीति कीर्त्तिमत्त्वात् । यद्वा, भवतेः सत्तार्थात् प्राप्स्यर्थाद्वा नञ्पूर्वात् 'नञिभुवो ङित्'—इति कनप्रत्ययः । न भवत्यनेनोपद्रवोऽस्मिन्निति वा न प्राप्यते लेशीः । “न ये घातस्य प्रमिनन्त्यभ्यम् (ऋ० सं० १, २, १४, १)”—आ यो नो अभ्य ईपते (ऋ० सं० १, ३, १६, ३)”—इति निगमौ ॥

(१०) ऋभुक्षाः । 'ऋ गती (भू० ५०) । 'अर्त्तेर्भुक्षि नक्'—इति भुक्षिनक्प्रत्ययः । पथिमध्यभुक्षामात् (७, १, ८५)' 'इतोऽत् सव्यनामस्थाने (७, १, ८६)' । उरु विस्तीर्णं भाति, ऋतेन सत्त्वेन यज्ञेन वा भाति भवति वा, ऋभुः मेधावी महत् स्थानं वा । उरुशब्दादुपपदाद् भातिर्भवतेर्वा 'मृगय्यादयश्च (उ० १, ३६)'—इति कुप्रत्ययः पूर्वपदस्य उवर्णटिलोपः सगप्रसारणञ्च निपात्यते । क्षयतेरैश्वर्यकर्मणः क्षियतेर्वा 'वृतेऽङ्गदसि (उ० ४, १३६)'—इति बाहुलकादिनि टिलोपश्च । ऋमूणां क्षयति ईप्ते, ऋमौ महति स्थाने निवसति वा । “त्वमृभुक्षानर्यस्त्वं पाद् (ऋ० सं० १, ५, ४, ३)—इति निगमः ॥

(११) उक्षा । उक्षतेर्बुद्ध्यर्थात् 'श्वन्नुक्षन्पूयन् (उ० १, १५५)'—इति कनप्रत्ययान्तो निपात्यते । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(१२) विहायाः । वहिहाधाभ्यश्छन्दसि (उ० ४, २१५)
—इति जहातेर्जिह्वेतिर्वा घाहुलकात् पुगभावेऽपि युगागमो निपा-
त्यते । “रुष्णादुदस्थादर्याश्च विहायाः (ऋ० सं० २, १, ४, १)”
—इति निगमः ॥

(१३) यहुः । यजतेः ‘शेवयहजिह्वाप्रीचाप्यामीया (उ० १,
१५२)’—इति घनप्रत्ययो जकारस्य हकारश्च निपात्यते । यजते
देवपूजादिकं करोति । यदुषा, ‘यसु प्रयत्नो (दि० प०)
‘यसोश्च’—इति कनप्रत्ययः’—इति भोजदेवः । यस्यति प्रय-
त्यते शत्रुत्वाज्जयादी । ‘यह इति महतो नामधेयम्
यातश्च, हुतश्च भवति’—इति (निघ० ८, ८) भाष्ये ‘यात-
श्चासायाहुतश्च धार्थिभिः, हुतश्चासौ शरणार्थिभिः, दिघधातुजत्वं
दर्शितम्’ इति स्कन्दस्वामी । ततोऽत्र यातेर्हयतेश्च ‘गेहे कः (१,
१, १४४)’ इति घाहुलकात् भूते कप्रत्ययो ह्यतेः सम्प्रसारणा-
भायश्च । “प्रवो यहं पुरुषाम् (ऋ० सं० १, ३, ८, १)—इति
निगमः ।

(१४) घवक्षिथ । (१५) विवक्षसे । ‘तत्र घवक्षिथ विव-
क्षस इत्यंते (निघ० ३, १३)’—इत्यादि भाष्ये अनयोराध्यातयोर्म-
हन्नामसु पठनीयत्वं महद्वाचकत्वं चोपपादितम् स्कन्दस्वामिना ।
घवक्षियेत्यत्र ‘सन्यत (८, ४, ७६)’—इतीत्याभावः, एकवचनस्य
स्थाने बहुवचनम्, क्षकायात् परस्याकारस्येत्यञ्च व्यत्ययेन । “अति-
चिश्चं घवक्षिथ (ऋ० सं० १, ६, १, ५)” —“शीरं पाचकशोचिर्च
विवक्षसे (ऋ० सं० ७, ७, ४, १)” —इति निगमो ॥

(१६) अम्भृणः । अमतेः क्तिप् । विमत्तैः 'इणसिप्रजिदि-
(उ० ३, २)'—इत्यादिना बाहुलकात् नप्रत्ययः । "पिशङ्गभृष्टि-
मम्भृणम् (ऋ० सं० २, १, २२, ५)"—इत्यत्र 'अम्भृणस्य महतः
फलस्य हेतुभूता'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१७) माहिनः । महतेः । 'महेरिण् च (उ० २, ५३)'
—इति इनणप्रत्ययः । "प्रत्यो न हर्मिस्तोम माहिनाय (ऋ० सं०
१, ४, २७, १)"—इति निगमः ॥

(१८) गर्भीरः । घाट्नामसु व्याख्यातम् (१६ पृ०) । प्रति-
ष्ठितो महति स्थाने लिप्यन्ते । "उल्ल्यचा परिमता गर्भीरम् (ऋ०-
सं० १, ७, २६, २)"—इति निगमः ॥

(१९) ककुदः । 'ककु सहने' । 'ककेरुदः'—इति उद्
प्रत्ययः सहने अभिमपति शत्रून् सहने दमतेऽपराधान् वा ।
'यल्यन्ते घौ ककुदासः (ऋ० सं० १, ३, ३३, ३)"—इति निगमः ।
'ककुदः इति मद्भागम्'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(२०) रभसः । 'रम रामस्ये' (भू० भा०) । 'अत्यविच-
मितामिनमिरमिलमिनमितपिपतिपनियणिमदिभ्योऽसच् (उ० ३,
११३)' । रमते महान्ति कर्माणि, संरभ्यते वा शत्रून् । "शपेनं
शृका रभसासो भयः (ऋ० सं० ८, ५, ३, ४)"—इति
निगमः ॥

(२१) माघन् । ग्रन्थानेः 'संश्चतुष्पद्वेददित्यादयः (उ० २, ७६)'
—इतीति प्रत्ययः आ भागमश्च निपात्यते । "स माघनोनदुयो
दंसुजूनः (ऋ० सं० २, १, २, ४)"—इति निगमः ॥

(२२) चिरप्शी । 'रपलप व्यक्तायां घाञि (भू० प०)' चिपूर्वः । 'रपभृक्म्यभिकुस्यः शक्'—इति बाहुलकात् शक् । विविधं रपं-
तीति चिरप्शाः तेऽतारः, सोस्य सन्ति इति चिरप्शी । यदुवा,
विविधं रपणं तदस्यास्ति वा । महि महः इत्यसुन्नन्तपाठश्च ।
चिरप्शी गौमती मही (ऋ० सं० १, १, १६ ३)"—इत्यादीकारा-
न्तोपादानं सन्देहनिवृत्त्यर्थम् । "ऋत्वे अपिचो चिरप्शीन् (ऋ०
सं० ४, ७, १२, २)"—"चिरप्शिने यजिणे शन्तमानि (ऋ० सं०
४, ७, ४, १)"—इति निगमौ ।

(२३) भदभुतम् । भू सत्तायाम् (भू० प०) । 'अदि भुचो
डुतच् (उ० ५, १)' । 'अदित्याश्चर्यार्थोऽध्ययम्'—इति क्षीर-
स्वामी । तत्र सम्पूर्णाद् विभर्त्तेर्घा बाहुलकात् डुतन् प्रत्यये
समोऽभावश्च । सम्यक् षोपितो घनादिभिः, सम्यक् विभर्त्त्या
धितेनेति वा । "सदसस्पतिमद्भुतम् (ऋ० सं० १, १, ३५,
१)"—घषद्भुतस्याद्भुतस्य दक्षा (ऋ० सं० १, २, २२, ४)"—
इत्यत्र 'महन्नामाद्युदासः स्यादन्नाश्चर्यभूतेऽन्तोदात्तः स्वरः'—इति
माधयः । "तत्र स्तुरीपमद्भुतम् (ऋ० सं० २, २, ११, ४)"
—इति निगमः ॥

(२४) बंहिष्ठः । 'बहि महि वृद्धौ' (भू० मा०) लङ्घि बंहोर्न
लोपश्च । (उ० १, २८)"—इति बहुपदम्, तत इष्टन्प्रत्ययः । 'बंहते-
र्वहुलम् मत्वर्थीयः—इति क्षीरस्वामी । अतिशयेन बहुलो बंहिष्ठः ।
'प्रियस्त्रिस्त्रिरोरुवहुल (६, ४, १५७)"—इत्यादिना बंहादेशः ।
यद्वा, 'निचुलयञ्जुलवञ्जुलमूलपृथुलविसस्थूलादयः'—इति बहिरु-

स्यप्रत्ययो नलोपश्च निपात्यते । अन्यत् पूर्वघत् । “यदुर्व-
हिष्टम् नाति विधेसुदानू (ऋ० सं० ४, ४, ३१, ३)”-इति निगमः ॥

(२५) बर्हिषत् । बृह बृहि बृद्धौ (भू० प०) । बृहेर्नलो-
पश्च (उ० २, १०२)’-इति इसिप्रत्ययः बर्हिःशब्द उपपदे सतः
‘सत्सृष्टिप (३, २, ६१)’-इत्यादिना क्तिप् । पृषोदरादित्वाद्
बर्हिषः सफारलोपः । सुषामादित्वात् (८, ३, ६८) पत्यम् । यद्वा
‘धनिते (८, ३, १६)’-इति । ‘सर्वघानुम्यः (उ० ४, ११४)’-इति
इन् । अन्यत् पूर्वघत् । णिवृद्धे न्वाने स्यादति हि महान् ।
निगमोऽप्येवणीयः ॥

इति पञ्चविंशतिर्महानामानि ॥ ३ ॥

गयः (१) । कृदरः (२) । गर्तः (३) ।
हर्म्यम् (४) । अस्तम् (५) । पस्त्यम् (६) ।
दुरोणे (७) । नीलम् (८) । दुर्याः (९) । स्वस-
राणि (१०) । अमा (११) । दमे (१२) ।
कृत्तिः (१३) । योनिः (१४) । सद्म (१५) ।
शरणम् (१६) । वरुथम् (१७) । छर्दिः (१८) ।
छदिः (१९) । छाया (२०) । शर्म (२१) ।
अज्म् (२२) । इति द्वाविंशतिर्गृहनामानि ॥ ४ ॥

गयः । व्याख्यातमपत्यनामसु (१६० पृ०) । गम्यते वासाय,
गच्छत्यनेन सुखम् । गत्यर्थेऽप्येवमर्थो बोद्धव्यः । गीयते स्तूयते
स्वास्थ्यतिशयेन, श्रवन्त्यस्मिन् स्थिता देवा इति च । “अरक्ष-
द्वाशुपे गयम् (ऋ० सं० १, ५, २१ २)” —इति निगमः ॥

(२) कृदरः । ‘कृती छेदने’ (तु० रु० प०) । ‘कृदरादयश्च
(उ० ५, ४४) —इति अरन्प्रत्ययो गुणाभावश्च तकारस्य दकारश्च
निपात्यते । कृत्यते छिद्यतेऽनेन क्लेशः परिच्छिन्नं वा सुशास्त्र-
मर्यादया । यद्वा, ‘दृङ् आदरे’ (तु० आ०) । ‘प्रहिवृद्धनिश्चिग-
मश्च (३, ३, ५८)’ —इत्यप् । कृतो वर आदरोऽत्र कृतदरः । पृषो-
वरादित्वात् (६, ३, १०६) तशब्दलोपः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) गर्तः । ‘गृ शब्दे’ (क्र्या० प०) स्तुतिकर्मा वा । हसि-
मृग्रिण्वामिदमिलूपूर्ध्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८३) —इति तन्प्रत्ययः ।
शब्दयते तस्मिन् स्तूयते वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) हर्म्यम् । ‘हृष् हरणे’ (भू० उ०) । ‘मध्यधिध्यशिक्ष्य’
इति ध्यन्प्रत्ययो मुडागमो गुणश्च निपात्यते । हरति अनुहियते
आहीयतेऽत्र धान्यादि । यद्वा, ‘अम द्रम हम्म मीमृ गती’
(भू० प०) । अध्न्यादित्वाद् (उ० ४, १०८) यक्प्रत्ययः ।
“मन्योरियाय हर्म्येण तस्यौ (ऋ० सं० ८, ३, ४, ४)” —इति
निगमः ॥

(५) अस्तम् । ‘अस् भुवि’ (अदा० प०) । ‘अस गतिदी-
प्त्यादानेषु (भू० उ०) । ‘असु क्षेपणे’ (दि० प०) । ‘हसिमृग्रिण्वामि
(उ० ३, ८३)’ —इति याहुलकात् . तन् । द्वितीयैक्यचनं

भवत्यङ्गनासुखं दीप्यते हि तत् । आदीयते स्वीक्रियते घा-
तदर्शिमिः, क्षियन्तेऽस्मिन् पदार्थाः इति घा । “अस्तं न गायो
नक्षन्त इदम् (ऋ० सं० १, ५, १०, ५)”—इति निगमः ।
“तमग्निमस्ते घसवो नृष्वन् (ऋ० सं० ५, १, २३, २)”—इति च ।

(६) पस्त्यम् । ‘मध्यधिध्य’—इत्यादिर्नाणादिकः क्यच्,
जुगागमश्च निपात्यते । पसन्तस्मिन् । यद्वा, पत्त्य गती (भू०
प०) । निपातनात् सकार उपजनः । पस्त्या ‘पसेः सङ्कृत्यर्थे
घा’—इति माधयः । “वदणः पस्त्याश्वा (ऋ० सं० १, २,
१७, ५)”—“प्रप्र दाश्यान् पस्त्याभिरस्थित (ऋ० सं० १, ३,
२१, २)”—इति निगमौ । ‘पस्त्यमिति गृहनाम । अजादित्वात्
(४, १, ४) टाप्’—इति स्कन्दस्वामी ।

(७) दुरोणे । ‘राक्षासाम्रा’—इत्यादिभोजसुत्रे आदिग्रह-
णात् दुरोणादयः’—इति वृत्तिः । दुःपूर्वात् अवतर्नेफि यटि
गुणः । ‘दुरोण इति गृहनाम । दुःप्राभवन्ति दुस्तर्पाः (नि०
४, ५)’—इति भाष्ये दुशब्दपूर्वस्यावतः रक्षणार्थस्य तर्पणार्थस्य
घा ल्युटि छान्दसत्वात् सम्प्रसारणम्, आवृणुष्व । गृहादयो
दुःप्राभवन्ति दुस्तर्पा इति पय्यायेणास्यार्थकथनम्’—इति
स्कन्दस्वामी । “दुष्टोदमृता मतिथिदुरोणे (ऋ० सं० ३, ८,
१८, ५)”—“मय्ये निपत्तो रण्यो दुरोणे (ऋ० सं० १, ५, १३,
२)” इति निगमौ ॥

(८) नील्यम् । ‘व्याडप्रोडकुहोडादयः’—इति उडच्प्रत्ययः,
प्रत्ययादेर्लोपो गुणामावध निपात्यते । नीयन्तेऽत्र पदार्थाः,

नयति मुखनिःश्वसनमिति घा । “आ यो महः शूटः सनादनीलः
(ऋ० सं० ८, १, १७, १)”—इति निगमः ।

(६) दुर्ग्याः । ‘दुर्गो हिंसार्था (भू० प०)’ । ‘अघ्न्यादित्वाद्
यत्प्रत्यये घकारलोपे दीर्घाभावश्च निपात्यते । हिंसन्ति मीनाति
हि तं दुःखम् । यद्वा, दुःशब्दपूर्वात् यातेः ‘घञर्थे कविधानम्
(३, ३, ५८, घा २)’—इति कः । ‘दुःखेन प्राप्यन्ते, दुरः गृहद्वाराणि
वर्हन्तीति घा दुर्ग्या गृहा उच्यन्ते’—इत्युच्यते । “अवीरहा प्रचरा
सौम दुर्ग्यात् (ऋ० सं० १, ६, २२, ४)”—इति निगमः ॥

(१०) स्वसराणि । व्याख्यातमहर्नामसु (७४ पृ०) । स्येन
स्वननेन स्त्रियते प्राप्यते स्वैर्गृहयतो ह्यातिभिः श्रियते, सुष्ठु
अस्यन्ते घास्मिन् पदार्थाः । निगमोऽन्वेयणीयः ॥

(११) अमा । ‘अम गतिभक्षशब्देषु (भू० प०)’ । ‘पुंसि
सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)’ । शम्यन्तेऽस्मिन् भक्ष्यन्ते
शब्दायन्ते घा । यद्वा, निपातोऽयम् । “अमात्यम् (ऋ० सं०
५, २, २०, १)”—इत्यत्र, उच्यते—‘अमा गृहयचनः सहघचनो
घा । अध्ययात् त्यप् तत्र भव इत्यर्थः । गृहे सत्याह्वा भवति
अमात्यः’—इति । “सा नो अमा सो अरणे निपातु (ऋ० सं०
८, २, ५, ७)”—“अमा सते वहमि भूरिचामम् (ऋ० सं० २, १,
६, २)”—“अमाजूरिच पित्रोः सचासती (ऋ० सं० २, ६, २०,
२)”—इति निगमाः ॥

(१२) दमे । ‘दम उपशमने (दि० प०)’ । घञ् । ‘नोदा-
त्तोपदेशस्य (७, ३, ३४)’—इति वृद्धिप्रतिषेधः शाम्यतेऽनेन

शीतादि, दान्तःकलेशः । “वर्द्धमानं स्वेदमे (ऋ० सं० १, १, २, ३)”
—“हस्फूर्त्तारं वमेदमे (ऋ० सं० ३, ५, ६, ३)” —इति निगमौ ॥

(१३) रुत्तिः । ‘रुत्ती छेदने (तु० रु० प०)’ किन् रुदत्त्व-
दर्थः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१४) योनिः । व्याख्यातमुदकनामसु (१३७ पृ०) । मिश्र-
तेऽनेन सुखम्, पृथग्भूयन्तेऽनेनानिष्टा इति परीर्यतो वा प्राकाश-
दिता जायेय । “जायेय योनाचरं विश्वस्मे (ऋ० सं० १, ५, १०,
३)” — इति निगमः ॥

(१५) सद्गम । सदेर्मभिन् सीदत्त्वस्मिन् । “सद्गमेव धीराः
सस्माय चक्रुः (ऋ० सं० १, ५, ११, ५)” —इति निगमः । ‘सद्गम
गृहनाम’ —इति स्वन्दस्वामी ॥

“वर्म” इति केचित् पठन्ति । धृणोतेर्मन् । व्रियते तेन
सम्भज्यते वा गृहिमिः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) शरणम् । शृणातेः ‘युच् यदुलम् (उ० २, ७४)’ —इति
युच् । शृणाति शीतादिकलेशम्, रक्षितवान् वा कलेशेभ्यः ‘शरिः
प्राप्त्यर्थः’ —इति माधवः । प्राप्यते हि वत् । “तोदस्येव
शरण आ महस्य (ऋ० सं० २, २, १६, १)” —इति निगमः ॥

(१७) वरुणम् । ‘वृज् वरणे (स्था० उ०)’ । जृष्टभूम्या-
मूषान् (उ० २, ५) । वर्मवदर्थः । “अवा वरुणं गृणते विमायो
(ऋ० सं० १, ४, २४, ४)” —इति निगमः ॥

(१८) छर्दिः । ‘छर्द् सन्दीप्ने (तु० प०)’ ‘अर्चिगुञ्जिगुसुपि-
च्छर्दिभ्य हसिः (उ० २, १०१)’ । सन्दीप्यते शालया । “प्रनो

यच्छतादवृकं - पृथुच्छदिः - (ऋ० सं० १, ४, ५, ५)" — "वरुथ
मस्तियच्छदिः (ऋ० सं० ६, ४, ५२, १)" — इति निगमौ ॥

(१६) छदिः । 'छद आचरणे (चु० उ०)" । णिच् । पूर्व-
चदिस् । 'छादेर्वे इव्युपसर्गस्य (६, ४, ६६)" । 'इस्मन्त्रल्किषु
च (६, ४, ६७)" — इति ह्रस्वः । णिलोपः । छाद्यते हि तत् ।
निगमोऽन्वेदणीयः ॥

(२०) छाया । 'छो छेदने (दि० प०)" । मास्यासमीसूभ्यो
यः । वृत्तिघदर्थः । छायाकरत्याद्या छाया । "यस्य छाया मृतम्
(ऋ० सं० ८, ७, ३, २)" — इति निगमः ॥

(२१) शर्म । शृणातेः शरैः श्रयतेर्वा मन् । श्रयतेर्वाहुलकादुप-
सिद्धिः । श्रीयते हि तत् । अन्यत्र शरणवदर्थः । "स्यामेदि-
न्द्रस्य शर्मणि (ऋ० सं० १, १, ८, १)" — "त्रिधातुशर्म घटतं
शुभस्पती (ऋ० सं० १, ३, ४, ६)" — इति निगमौ ॥

(२२) अज्म । अजेः 'अर्त्तिस्तुसुदुसधृक्षिश्च (उ० १, १३७)
— 'इत्यादिना बाहुलकात् मन् । अस्तवदर्थः । "येपामज्मेपु
पृथिवी (ऋ० सं० १, ३, १३, ३)" — इति निगमः ॥

इति दुवार्षिशतिर्गृहनामांनि ॥ ४ ॥

इरज्यति (१) । विधेम (२) । सप-
र्यति (३) । नमस्यति (४) । दुवस्यति (५) ।
ऋभोति (६) । ऋणद्धि (७) । ऋच्छति (८) ।

सपति (६) । विवासति (१०) । इति दश परि-
चरण कर्माणः ॥ ५ ॥

(१) इज्यति । 'इज् ईर्ष्यायाम्' कण्ड्यादिः, गतिक
मसु । अनेकार्थत्वात् इत्यादि यदुक्तं तस्मिन् अध्याये सर्वत्र धातुषु
सदृशोद्वयम् ॥

(२) विधेम । 'विध विधाने' तुदादिः । लिङुत्तमपुरुष-
यदुघचनम् । "यज्ञे विधेम नमसा हविर्मिः (ऋ० सं० २, ७,
२४, २)" — "हविष्मन्तो विधेम ते (ऋ० सं० १, ३, ८, २)" —
"—होतेव सदुम विधतो पितारीत् (ऋ० सं० १, ५, १, १)" —
इति निगमः ।

(३) सपर्यति । 'सपर पूजायाम्' कण्ड्यादिः । "दूतं देव
-सपर्यति । (ऋ० सं० १, १, २३, २)" — इति निगमः ॥

(४) नमस्यति । 'नमो वरिषश्चित्रठः क्यच्' (३, १, १६) ।
नमसः सम्ज्ञायाम् । नमः करोति । "इन्द्रं नमस्यन्तुपमेमिरकैः
(ऋ० सं० १, ३, १, २)" — "यं नमस्यन्ति कृष्टयः (ऋ० सं०
१, ३, ११, ४)" — इति निगमौ ॥

(५) दुवस्यति । 'दुवस् परिचरणे, परितापे च' कण्ड्यादिः ।
"दुवस्यन्ति स्वसारो बहुयाणम् (ऋ० सं० १, ५, २, २)" —
इति निगमः ॥

(६) ऋध्नोति । "ऋधु वृद्धौ" स्वादिः । अतएव "आ ऋध्नोति
हविष्कृतिम् (ऋ० सं० १, १, ३५, ३)" — इति निगमः ॥

(७) ऋणद्धि । व्यत्ययेन श्रम् ॥

(८) अञ्छति । 'अञ्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु' (तु० प०) ॥

(९) सपति । 'यप समवाये (भू० प०)' । "अधिदुवांसो विदुष्टं सपेम (ऋ० सं० ४, ५, १८, ५)" —इति निगमः ॥

(१०) घिवासति । नैरुक्तधातुः । 'विपूर्वात् घसेर्णिच्' । 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)' —इति शपि आर्द्धधातुकत्वात् 'णिलोपः' —इति भट्टभास्करमिश्रः । हविष्मा आघिवासति (ऋ० सं० १, १, २३, ३)" ।

इति दश परिवरणकर्माणः ॥ ५ ॥

शिम्वता (१) । शतरा (२) । शातपन्ता (३) । शर्म (४) । स्यूमकम् (५) । शेवृधम् (६) । मयः (७) । सुग्न्यम् (८) । सुदिनम् (९) । शूयम् (१०) । शुनम् (११) । शग्मम् (१२) । भेषजम् (१३) । जलापम् (१४) । स्योनम् (१५) । सुघ्नम् (१६) । शेवम् (१७) । शिवम् (१८) । शम् (१९) । कम् (२०) । इति विंशतिः सुखनामानि ॥ ६ ॥

(१) शिम्ब्याता । 'शिङ् निशाने (स्वा० उ०)' । 'निम्ब्यश्चिम्ब-
शिम्बहिम्बडिम्बस्तम्बसम्बादयः'—इति शिनोर्तेर्वप्रत्ययो मुम्
निपात्यते । अततेर्घञ् । दुःखानि तनूकुर्वत् प्रार्थ्यते ॥

(२) शतरा । शतं बहु, अनेकमिन्द्रियप्रसादादि राति
ददाति 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' ॥

(३) शातपन्ता । 'शो तनूकरणे (दि० प०)' निष्ठा । पततेः
'हृत्सिम्ब्रि एयामि (उ० ३, ८३)'—यादुलकात् तन् । शातेन
दुःखानां तनूकरणेन घट्यते स्तूयते । त्रिष्वपि द्विवचनस्या-
कारः । "मित्रेषु ब्रह्मा शतरा शातपन्ता (ऋ० सं० ८, ६, १,
५)"—इति निगमः ।

(४) शर्म । व्याख्यातं गृहनामसु (३१८ पृ०) । "ता नो
देर्धाः सुहृदाः शर्म यच्छत (ऋ० सं० ४, २ २८, ७)"—इति
निगमः ॥—अस्य स्थाने "शिल्लुः"—इति केचित् पठन्ति । 'शल्
गती (भू० प०)' । 'घलिफल्पोर्गुक् च'—इति गुक्प्रत्ययो यादु-
लकादकारस्येकारः । गम्यते पुण्यघट्टिः, गच्छत्यनेन हृत्सिम्ब्रि,
गच्छति घान्त्यमनित्यत्वात् । एवमर्था गत्यर्थेषु योद्धव्याः ।
निगमोऽन्वेष्टणीयः ॥

(५) स्यूमकम् । 'पिबु तन्तुशतानि (दि० प०)' । अघि-
सिबिसिशुबिम्बः किन् (उ० १, १४१)'—इति मन्प्रत्ययः ।
'छ्वोः शूडनुनासिके' च (६, ४, १६)' यणादेशः, स्वार्थे कः ।
स्युतं पुण्ययति । निगमोऽन्वेष्टणीयः ॥

(६) शेषधम् । शेषध्ने उपपदे 'धृधेः इगुपधलक्षणः कः ।

शेषस्य चर्द्धयितृ शेषधम् । पृषोदरादित्वाद्भयत्र रूपसिद्धिः ।
 “सशेषधमधिधाद्युद्धमस्मे (ऋ० सं० १, ४, १८, ६)” —इति
 निगमः ॥

(७) मयः । ‘मिञ् हिंसायाम् (स्वा० उ०)’ । असुन् ।
 हिनस्ति दुःखम् । “मयः कृणोपि प्रय आ च सूरये (ऋ० सं० १,
 २, ३३, २)” —इति निगमः ॥

(८) सुगम्यम् । सुपूर्यात् गमेः अग्न्यादित्वात् यत्प्रत्यय
 उपधालोपक्षः । “उपा ददातु सुगम्यम् (ऋ० सं० १, ४, ५, ३)”
 —“आ सुगम्याय सुगम्यम् प्राता (ऋ० सं० ६, २, ७, ५)” —
 इति निगमौ ॥

(९) सुदिनम् । ध्याख्यातमहर्नामसु (७५ पृ०), अत्र सुपूर्वम्
 सुष्ट्यति दुःखम्, खण्डयते धा भाग्यविपर्ययेण । निगमोऽन्वे-
 पणीयः ॥

(१०) शूपम् । ध्याख्यातं वल्गनामसु (२३३ पृ०) । शुष्य-
 त्यनेन दुःखम्, प्रियायहश्च सुखम् । “सात्माके भिरैतरी न
 शशैः (ऋ० सं० ४, ५, १४, ४)” —इति निगमः ॥

(११) शुनम् । ‘शुन गती (तु० प०)’ । ‘गेहे कः (३, १,
 १४४)’ —इति बाहुलकात् कः । “शुनं नः फाला विठपन्तु भूमिम
 (ऋ० सं० ३, ८, ६, ८)” —शुनं हुवेम मघधानमिन्द्रम् (ऋ० सं०
 ३, २, ४, ७) —इति निगमौ ॥

(१२) शम्भम् । शंशब्दे. उपपदे गमेः ‘गेहे कः (३, १;
 १४४)’ —इति कः । शम्भनेत्युपधालोपः (६, ४, ६८) । पृषोदरा-

दित्वात् शमो मलोपः । सुखं गम्यतेऽनेन दुष्कृतादिशमनेन वा ।
यद्वा, शकेः 'युजितिजिह्वां कुञ्च (उ० १, १४३)'—इति बाहुलकात्
मक्षप्रत्ययः, ककारस्य गकारश्च । शक्नोति तृप्तिं जनयितुम् ।
“वास्तोष्पते शम्भया संसदाते (ऋ० सं० ५, ४, २१, ३)”—इति
निगमः ॥

(१३) मेघजम् (१४) जलापम् । व्याख्याते उदकनामसु
(१४६ पृ०) भिषज्यतिरत्र सुखनाम । “रुद्रं जलापमेघजम् (ऋ०
सं० १, ३, २६, ४)”—इति निगमः ॥ ‘जलापजं सुखादोप-
धम्’—स्कन्दस्यामिमाप्यम् ॥

(१५) स्योनम् । ‘पिबु तन्नुसन्ताने (दि० प०)’ । ‘सिधे-
ष्टेयूँद् च (उ० ३, ८)’—इति नप्रत्यये गुणः । स्यूमचदर्थः ।
स्योनमिति सुखनाम, ‘स्यतेरघस्यन्त्येतन्’—इति (मि० ८, ६)
भाष्ये ‘स्यतेः सेघतेश्च स्योनम्’—व्याख्यात स्कन्दस्यामिना ।
तत्र बाहुलकात्प्रत्यये ष्टेयूँद् । “देवेभ्यो अदितये स्योनम् (ऋ०
सं० ८, ६, ८, ४)”—“स्योना पृथिवि भवानृ (ऋ० सं० १, २, ६,
५)”—इति निगमी ॥

(१६) सुम्नम् । ‘रास्त्रासास्त्रासम्नद्युम्ननिम्नेति भोजसूत्रम् । शौभ-
नेन कर्मणा मीयते निमीयते, सुष्ठु मीयते परिच्छिद्यते मागेनेति
वा । “क वः सुम्ना नव्यांसि (ऋ० सं० १, ३, १५, ३)”—“सुम्नाय
घर्त्तयामसि (ऋ० सं० ६, ४, ५५, १)”—इति निगमी ॥

(१७) शेघम् । (१८) शिचम् । ‘शीङ् स्थप्ने (अदा० आ०)’
‘इण्शीप्त्यां घन् (उ० १, १५०)’ । ‘सर्वनिघृष्व (उ० १, १५१)’

—इति शीङो ह्रस्वत्त्वं घन्प्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते ।
 'शेवमिति सुखनाम (निरु० १०, १७)' इत्यादि माप्ये । शिष्यते-
 व्युत्पादितायेतो । तत्रार्थस्तु—शेषति हिनस्ति कुशं, शेषयति
 वा स्वाश्रयम् । “जने न शेव आहूर्यः सन् (ऋ० सं० १, ५,
 १३, २)” —“ शिवाभिर्न सयमानाभिरागात् (ऋ० सं० १, ५, २७,
 २)” —इति निगमो ॥

(१६) शम् । निपातोऽयम् । यद्वा, शाम्यतेर्चिन् । शामयितु
 ष्लेशानाम् । “शं ते सन्तु प्रचेतसे (ऋ० सं० १, १, १०,
 २)” —इति निगमः ॥

(२०) कम् । अयमपि निपातनम् । “श्रियमेकं भानुभिः
 सन्निमिश्रिरे (ऋ० सं० १, ६, १३, ६)” —“आ धो मधू तनाय
 कम् (ऋ० सं० १, ३, १६, २)” —इति निगमो । “श्रद्धे कमिन्द्र
 चरतो यितर्त्तम् (ऋ० सं० १, ७, १४, २)” —इत्यत्र ‘कमिति
 सुखनामेवमव्ययम्’ —इति हरदत्तः ॥

इति विंशतिः सुखनामानि ॥ ६ ॥

निर्णिक् (१) । वत्रिः (२) । वर्षः (३) ।
 वपुः (४) । अमतिः (५) । अप्सः (६) । प्सुः (७) ।
 अम्रः (८) । पिष्टम् (९) । पेशः (१०) । कृश-
 नम् (११) । प्सरः (१२) । अर्जुनम् (१३) ।

ताम्रम् (१४) । अरुपम् (१५) । शिल्पम् (१६) ।
इति षोडश रूपनामानि ॥ ७ ॥

(१) निर्णिक् । ‘णिजिद् शौचपोषणयोः (जु० उ०)’ निशब्द-
पूर्वः क्तिप् । निर्णिकं हि तत्, पोषयति चा प्रीतिम् । “घरणो
घस्त निर्णिजम् (ऋ० सं० १, २, १८, ३)” — इति निगमः ॥

(२) घयिः । घृञ् घरणे (स्वा० उ०) । ‘आट्टगमहनजनः
क्विकिर्नो लिट् च (३, २, १७१)’ द्विर्ध्वनम्, कित्वाद् गुणाभायः,
यणदेशः । तद्धि स्वाश्रयमावृणोति, घियते चा । “विद्युद्
मघन्ती प्रति घयि मौहत (ऋ० सं० २, ३, १६, ४)” इति
निगमः ॥

(३) घर्षः । ‘घृङ् सम्भर्त्ता’ (क्या० आ०) । ‘घृञ्शीङ्
भ्यांरुपस्याङ्गोर्युद् च (उ० ४, १६६)’ — इत्यसुन् । मज्यते हि
तत् । घृणोतेर्चा याङुल्फादसुन् युद् च । घयिघर्षः । “मा
घर्षो अस्मदप गृह एतत् (ऋ० सं० ५, ६, २५, ६)” — इति
निगमः ॥

(४) घषुः । व्याख्यातमुदकनामसु (१४३ पृ०) । उप्यते
स्वाश्रयः “वपुर्भिराचरतो अन्यान्या (ऋ० सं० १, ५, २, ३)”
— इति निगमः ॥

(५) अमतिः ॥

(६) अप्सः । ‘अप्स इति रूपनामाप्सातेः (निरु० ५, १३)’
— इत्यादिभाष्ये स्कन्दस्यामिना अप्सराब्दो व्युत्पादितः । तत्

प्रकारेण निर्वचनं प्रदर्श्यते । नञ्पूर्वात् प्सातेरसुनि बाहुलका-
दाकारलोपः आप्नोतेर्वा । 'वृत्तुवदिह्निकमिकपिम्यः सः (उ०
३, ५६)'—इति सप्रत्ययः । "उपाहस्तेव निरिणीते अप्सः (ऋ०
सं० २, १, ८, २)"—"अप्सरसः परि जज्ञे घसिष्ठः (ऋ० सं०
५, ३, २४, २)"—"अप्सरसां गन्धर्वाणाम् (ऋ० सं० ८, ७, २४,
६)"—इति निगमाः ॥

(७) प्लुः । 'स्फुर स्फुल्लने (तु० प०)' । मृगयूधादयश्च (उ०
१, ३६)—इति डुप्रप्रत्ययः, सकारपकारयोः फकारस्य च व्यत्य-
यश्च निपात्यते । स्फुरति हि तत् । "घहन्ते अहुत प्लघः (ऋ०
सं० ६, १, ३७, २)"—"शुष्मा इन्द्र मयाता अहुत प्लयः (ऋ०
सं० १, ४, १२, ४)"—इति निगमौ ॥

(८) अमः । अपत्यनामसु व्याख्यातम् (१८६ पृ०) । तेन
हि कृत्स्नमाश्रयं व्याप्नोति । "अभिसन्ति जम्मया ता अनप्रसः
(ऋ० सं० २, ६, ३०, ४)"—इति निगमः ॥

(९) पिष्टम् । 'पिश अवयवे (तु० प०)' 'पिस गतौ (भू०
प०)'—इति क्षीरस्यामी । 'पिशे किञ्च (उ० ३, ६२)'—इति क्तः,
शुणाभावश्च, तितुन्नत (७, २, ६)'—इतीदृशप्रतिषेधः । 'पिशितम्,
अवयवशो विभक्तमित्यर्थः'—इति स्कन्दस्यामी । 'पिश आश्ले-
पणार्थः'—इति माधवः । आश्लिष्यत्याश्रयम् । "पिष्टं रुक्म-
मिरञ्जिभिः (ऋ० सं० ४, ३, १६, १)"—इति निगमः ॥

(१०) कृशानम् । (११) पेशः । व्याख्याते हिरण्यनामसु
(४० पृ०) दीप्यते हि तत्, दीप्यतेऽनेन चा तद्वान् । पेशसः

पिष्टदंशः । कृशस्य निगमोऽन्वेयणीयः । “पेशोमर्ष्याथपेशसे
(ऋ० सं० १, १, ११, ३)”—इति निगमः ॥

(१२) प्सरः । ‘स्फुर स्फुल्लने (तु० प०)’ । असुन । पृषोदरा-
दित्वात् (६, ३, १०६) सकारपकारयोर्ध्रत्ययः । स्फुरति हि
तत् । “महि प्सरो धरुणस्य (ऋ० सं० १, ३, २३, २)” —“वचो
देव प्सरस्तमम् (ऋ० सं० १, ५, २३, १)” —इति निगमौ ।

केचिदत्र मरुच्छब्दं पठन्ति । तद्विरण्यनामसु व्याख्यातम्
(४२ पृ०) । निगमोऽन्वेयणीयः ॥

(१३) अर्जुनम् । व्याख्यातमुपोनामसु (६६ पृ०) अर्जुनीत्यत्र
“अहश्च कृष्णमहर्जुनञ्च (ऋ० सं० ४, ५, ११, १)” —इति निगमः ॥

(१४) ताम्रम् । ‘तमु कांक्षायाम् (दि० प०)’ । ‘अमित-
स्योर्दीर्घश्च (उ० २, १४)’ —इति रक्प्रत्ययः । काङ्क्ष्यं हि तत्,
तस्मात् ताम्रम् । “आपो विधादा ताम्रः” —इति निगमः ।
“असौ यस्ताम्रो अरुण (य० वा० सं० १६, ६)” —इति च ॥

(१५) अरुणम् । व्याख्यातमुपोनामसु अरुणीत्यत्र (७१ पृ०) ।
आ रोचते । निगमोऽन्वेयणीयः ॥

(१६) शिल्पम् । ‘शिल्पु विशेषणे (द० प०)’ । ‘स्रप्पशिल्पश-
प्पयाप्परूपतल्पाः (उ० ३, २६)’ —इति यप्रत्ययः । यकारस्य
लकारो बाहुल्यात् गुणाभावश्च निपात्यते । विशेषयति तद्व-
न्तम् । “ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः (य० वा० सं० ४, ६)” —इति
निगमः ॥

इति षोडश रूपनामानि ॥ ७ ॥

अस्त्रेमाः (१) । अनेमाः (२) । अनेद्यः
(३) । अनवद्यः (४) । अनभिश्स्ताः (५) ।
उक्थ्यः (६) । सुनीथः (७) । पाकः (८) ।
वामः (९) । वयुनम् (१०) । इति प्रशस्यस्य ॥८॥

(१) अस्त्रेमाः । 'स्त्रियु गतिशोपणयोः (प०)' द्विधादिर्नञ्पूर्वः,
'मनिन् सार्वधातुभ्यः (उ० ४, १४०)'—इति मनिनि घातुलकात्
आडभायः, 'लोपोऽव्योर्चलि (६, १, ६६)'—इति घकारलोपः, गुणः ।
न गच्छत्यकीर्त्तिम्, अगम्यो सत्पुरुषाणाम्, न गच्छन्त्यस्माद्
गुणाः । "अस्त्रेमाणं तरणिं धीलु अम्भम् (ऋ० सं० ३, १, ३४,
३)"—इति निगमः ॥

(२) अनेमाः । नञ्पूर्वाश्रयतेर्मनिन् । नेतुमशक्यो दुर्मार्गम् ।
निगमोऽन्वेषणीयः ।

(३) अनेद्यः । 'यिदि कुत्सायाम् (ऋ० उ०)' नञ्पूर्वः, आग-
मानित्यत्वान्नुम् न क्रियते, 'ऋहलोर्ण्यत् (३, १, १२४)' "माध्य-
न्दिनस्य सवनस्य घृत्रहृदनेद्य (ऋ० सं० ६, ३, १६, १)"—इति निगमः ॥

(४) अनवद्यः ।

(५) अनभिश्स्ताः । 'शस्त हिंसायाम् (अदा० प०)' । निग-
मोऽन्वेषणीयः ॥

(६) उक्थ्यः । 'घञ् पस्त्रिषाणर्णे (अदा० प०)' । 'पातु-
दिपचिरिचिसिचिभ्यस्थक् (उ० २, ६)'—सम्प्रसारणञ्च । उक्थ-

राष्ट्रस्तुतिपर्यायः । उक्त्यमर्हति । ‘छन्दसि च (५, १, ६०)’
—इति यः । स्तुत्यर्ह इत्यर्थः । “क्रतुर्मघत्युक्त्यः (अ० सं०
१, १, ३२, ५)” — गाय गायत्र मुक्त्यम् (अ० सं० १, ३, १०,
४)” — इति निगमी ॥

(७) सुनीयः । नयतेः ‘हनिकुपिनीरमिकाशिम्यः क्थन् (उ०
२, २, १)’ । नीया स्तुतिः । शोभना नीया यस्य सः । हिरण्य-
हस्तो असुरः सुनीयः (अ० सं० १, ३, ७, ५)” — “गभीरवेपा
असुरः सुनीयः (अ० सं० १, ३, ७, १)” — इति निगमी ॥

(८) पाकः । पातेः ‘इष्मीकापाशत्यकिमन्मिभ्यः कल् (उ०
३, ४, १)” — इति कल् । रक्ष्यते राजादिना युज्यत्वात् । “तं पाके-
न मनसा पश्यमन्तितः (अ० सं० ८, ६, १६, ४)” — इति निगमः ।
“भपाको विष्णुर्घाते पुरुजि” — इति च ॥

(९) धामः । धनपण सम्मती (अ० प०) । ‘इषियुधीन्धि-
दसिह्यासुसूभ्यो भक् (उ० १, १४२)” — इति बाहुलकान्मकप्रत्ययः,
नकारस्याकारश्च । सम्मजनीयो हि प्रशस्यः । “न दृष्ट्वे ३ भवु-
ददासि धामम् (अ० सं० २, ५, १२, ५)” — इति निगमः ॥

(१०) धयुनम् । अजतेः ‘अजियमिशीङ्भ्यश्च (उ० ३, ५८)” —
इत्युनप्रत्ययः, धीभावः । अक्षेमवदर्थः । ‘वयुनं वेते, कान्तिर्धा
प्रता धा (निरु० ५, १४)” — इति भाष्यम् । तत्र बाहुलकादुनम्,
मत्पथोयस्य लुक्, कान्तिमान् प्रज्ञावान् धा । “विमोन्नमग्निर्य-
युनञ्च पाथताम् (अ० सं० २, ८, २०, ४)” — इति निगमः ॥

॥ इति दश प्रशस्यनामानि ॥ ८ ॥

केतः (१) । केतुः (२) । चेतः (३) ।
चित्तम् (४) । क्रतुः (५) । असुः (६) । धीः (७) ।
शचीः (८) । माया (९) । वयुनम् (१०) ।
अभिख्या (११) । इत्येकादश प्रज्ञानामानि ॥६॥

(१) केतः । 'चायू पूजानिशामनयोः (भू० उ०)' । 'चायः कीः
(उ० १, ७५)'—इति तप्रत्ययो धातोः कीरादेशो गुणश्च । पूज्यते ।
“पुरुषोऽनुतेकेतमायम् (ऋ० सं ८, ५, १, ५)”—इति निगमः ॥

(२) केतुः ।

(३) चेतः । (४) चित्तम् । 'चिती सप्रज्ञाने (भू० ५०)' ।
'अङ्गिष्ठसिन्यः (उ० ३, ८६)'—इति बाहुलकात् कः । केतधर्धः
“ऋतावानं विचेतसम् (ऋ० सं० ३, ५, ६, ३)” —“सन्त्याचित्तं
चित्तेन ममृतम्” इति निगमौ ॥

(५) क्रतुः । व्याख्यातं कर्मनामसु (१८३ पृ०) क्रियतेऽनया
धर्मादिविचारः । “अग्निर्होता कथिक्रतुः (ऋ० (सं० १, १, १, ५))”—इति निगमः ॥

(६) असुः । अस्यतेः 'शृष्टृस्निहित्रप्यसिबसि (उ० १,
१०)’—इति उप्रत्ययः । 'असुरिति प्राणनाम (निरु० ३, ८)’—
इतिभाष्ये, अस्यति क्षिपत्यनर्थान्, अस्ताः क्षिप्ताः अस्यामर्थाः
इत्यर्थप्राप्यनर्थपरिहारात्मकमुभयमपि प्राप्नोति ॥

(७) धीः । (८) शची । व्याख्याते कर्मनामसु (१८५, १८६,

पृ०) । निधीयते द्रव्येषु, धारयत्यर्थान् ध्यायन्तेऽनया देवताः, गम्यन्ते भवगम्यन्तेऽनयार्थाः, गच्छत्यनया इष्टप्राप्तिमनिष्टपरिहारञ्च । “चिदसि मनामि धीरमि (य० चा० सं० ४, १६)” — “दीपायसुर्धियाधयम् (ऋ० सं० १, १, २, १)” — “ऋणोरहं न शर्चामिः (ऋ० सं० १, २, ३१, ५)” — इति निगमाः ॥

(६) माया । ‘माङ् माने (अदा० आ०)’ । ‘माछाससिभ्यो यः (उ० ४, १०६)’ — इति यप्रत्ययः । मीयन्ते परिच्छिद्यन्तेऽनया पदार्थाः । “मात्यामिच्छिद् मायिनम् (ऋ० सं० १, १, २१, ७)” — “इमाम्नुफवितमस्य मायाम् (ऋ० सं० ४, ४, ३१, १)” — इति निगमौ ॥

(१०) धयुनम् । व्याख्यातं प्रशस्यनामस्तु (३२६ पृ०) । गतौ शर्चापदर्थः, क्षोपणेऽस्तुवत् । “विद्वां अग्ने धयुनानि क्षितीनाम् (ऋ० सं० १, ५, १७, २)” — इति निगमः ॥

(११) अभिष्या । ‘ष्या प्रकथने (अदा० प०)’ । आतश्चो-पसर्गे (३, ३, १०६)’ — इत्यङ् । प्रकर्षेण कथ्यन्तेऽनयार्थाः । “अभिष्या भासा वृद्धता शुशुक्निः (ऋ० सं० ६, २, ६, ५)” — इति निगमः । भाष्यं द्रष्टव्यम् ॥

इत्येकादश प्रश्नानामानि ॥ ६ ॥

वट् (१) । श्रत् (२) । सत्रा (३) । अद्धा (४) ।
इत्था (५) । ऋतम् (६) । इति षट् सत्यना-
मानि ॥ १० ॥

(१) यद् । (२) अत् । (३) सत्रा । (४) अद्वा (५) इत्था । यद्वाद्यो निपाताः । अण्महाअसि सूर्य्य (ऋ० सं० ६, ७, ८, १) — “अद्वायाग्निः समिध्यते (ऋ० सं० ८, ८, ६, १)” — “सत्रादावन्नपा वृधि (ऋ० सं० १, १, १४, १)” — “सत्यमद्वा नक्तिरन्यस्त्वाद्यान् (ऋ० सं० १, ४, १४, ३)” — “मद्वि १ तथा धिया नरा (ऋ० सं० १, १, ४, १)” — इति निगमाः ॥

(६) ऋतम् । व्याख्यातमुदकनामसु (१३३ पृ०) । गच्छत्यनेन सुगतिम् । ‘ऋतम् अर्ते, प्राप्सते तद्दिन्द्रियैः’ — इति माधवः । “ऋतेन मित्रावरुणौ (ऋ० सं० १, १, ४, २)” — इति निगमः ॥

इति पद सत्यनामानि ॥ १० ॥

चिक्वयत् (१) । चाकनत् (२) ।
आचक्ष्म (३) । चष्टे (४) । विचष्टे (५) ।
विचर्षणिः (६) । विश्वचर्षणिः (७) । अवचा-
कशत् (८) । इत्यष्टौ पश्यतिकर्माणः ॥ ११ ॥

(१) चिक्वयत् । (२) चाकनत् । (३) आचक्ष्म । (४) चष्टे । (५) विचष्टे । इति चक्षिडो दर्शनार्थानि व्याख्या-
तानि । ‘चिक्वदित्यादीनि चायत्यर्थनिगमानि’ — इति स्कन्दस्वा-
मिना भाष्यमुक्तम् । ‘किं ज्ञाने (भू० पृ०) यद्भुक्ति शतरि
व्यत्ययेन ‘नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७, ४, ८५)’ — इति न भवति ।
निगमोऽन्वेयणीयः ॥

(३) आचक्ष्म । आङ्पूर्वस्य चक्षिडो लङि महिडो मसादेशो व्यत्ययेन । “अतश्चक्षार्थे अदिति दितिञ्च (ऋ० सं० ४, ३, ३१, ३)” —इति निगमः ॥

(४) चष्टे । (५) विचष्टे । केवलाद् विपूर्वाच्च आत्मनेपदप्रथमपुरुषैक्यवने संयोगादि लोपे ण्ठुत्वे च रूपम् । “तैमिश्चष्टे चरुणो मिश्रो अर्यमा (ऋ० सं० ८, ४, २४, १)” —“इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे (ऋ० सं० १, ७, ६, १)” —इति निगमौ ॥

(६) विचर्पणिः । (७) विश्वचर्पणिः । विपूर्वाद् विश्व-पूर्वाच्च ‘कृप विलेखने (भू० प०)’ —इत्यस्मात् ‘कृपेरादेश्च चः (उ० २, ६७)’ —इति अतिप्रत्ययः, आदेः ककारस्य चकारश्च । यद्वा, चायतेरेष याहुलकान् अनिप्रत्ययो धातोर्ह्रस्वः पभावश्च । विविधं द्रष्टा विचर्पणिः । विश्वस्य द्रष्टा विश्वचर्पणिः । “सयमन् पिपर्धि चिदथे पिचर्पणे (ऋ० सं० १, २, ३३, १)” —स्तोमेभिर्वि-ष्पचर्पणे (ऋ० सं० १, १, १७, ३)” —इति निगमौ ॥

(८) अघचाकशात् । ‘काण्ट दीप्तौ (भू० आ०)’ अघपूर्वः । यङ्लुकि शतरि व्यत्ययेन ह्रस्वत्वम् । जनानां धेना अघचाकशाद् घृषा (ऋ० सं० ७, ८, २५, १)” —“उमे सोमाघचाकशात् (ऋ० सं० ६, ८, २२, ४)” —इति निगमौ ॥

इत्यष्टौ पश्यतिकर्माणः ॥ ११ ॥

हिकम् (१) । नुकम् (२) । सुकम् (३) ।
आहिकम् (४) । आकीम् (५) । नकिः (६) ।

माकिः (७) । नकीम् (८) । आकृतम् (९) ।
इति नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नाय ॥१२॥

(१) हिकम् । (२) नुकम् । (३) सुकम् । (४) आहिकम् ।
(५) भाकीम् । (६) नकिः । (७) माकिः । (८) नकीम् ।
एते निपाताः । “वसुर्वसु पतिर्हिकम् (ऋ० सं० ६, ३, ४०, ४)”
—“इमा नु कम्भुधना (ऋ० सं० ८, ८, १५, १)” —“सीपधामा-
तिष्वतेल्यतासुकम्” —“पृङ्क्तं हवींषिमधुना हि कं गतम् (ऋ०
सं० २, ८, १, ५)” —“आयीं सूर्यस्य रोचनात् (ऋ० सं० १, १,
२७, ३)” —“न किरिन्द्र त्वदुत्तरो (ऋ० सं० ३, ६, १६, १)” —
“माकिर्नेशन्माकीं रिपत् (ऋ० सं० ४, ८, २०, २)” —नकीं
घृधीक इन्द्र ते (ऋ० सं० ६, ५, ३१, ४)” —इति निगमाः ॥

(९) आकृतम् । निष्ठान्तस्य कृशशब्दस्यात्र पाठात् सङ्कृतेर-
यमपि निपातसमाहाररूपो निपातितः । कृतशब्दस्य विभक्ति-
प्रतिरूपकत्वात् निपातत्वमित्याहुः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इति नव सर्वपदसमाम्नाय ॥ १२ ॥

इदमिव (१) । इदं यथा (२) । अग्निर्नये (३) ।
चतुरश्रिदमानात् (४) । ब्रा मणा व्रतचारिणः
(५) । वृक्षस्य नु ते पुरुहूतवया (६) । जार आ
भगम् (७) । मेपो भृतोऽभियन्त्रयः (८) ।

तद्रूपः (९) । तद्वर्णः (१०) । तद्वत् (११) ।

तथा (१२) । इत्युपमाः ॥ १३ ॥

इदमिवादीनि माध्यकारेणैव व्याख्यातानि (निरु० ३, १३—
३८) ॥ १३ ॥

अर्चति (१) । गायति (२) । रेभति (३) ।
स्तोभति (४) । गूर्धयति (५) । गृणाति (६) ।
जरते (७) । ह्वयते (८) । नदति (९) । पृच्छति
(१०) । रिहति (११) । धमति (१२) कृपायति
(१३) कृपयति (१४) । पनस्यति (१५) पना-
यते (१६) । वल्गूयति (१७) मन्दते (१८) ।
भन्दते (१९) । छन्दति (२०) छदयते (२१) ।
शशमानः (२२) । रञयति (२३) । रजयति (२४) ।
शंसति (२५) । स्तौति (२६) । यौति (२७) ।
रौति (२८) । नौति (२९) । भनति (३०) ।
पणायति (३१) । पणते (३२) । सपति (३३) ।
पपृक्षाः (३४) । महयति (३५) वाजयति (३६) ।

पूजयति (३७) । मन्यते (३८) । मदति (३९) ।
 रसति (४०) । स्वरति (४१) । वेनति (४२) ।
 मन्द्रयते (४३) । जल्पति (४४) । इति चतु-
 श्चत्वारिंशदर्थतिकर्माणः ॥ १४ ॥

(१) अर्चति । 'अर्च पूजायाम् (भू० प०)' । "अर्चान्त्यर्क-
 मर्फिणः (ऋ० सं० १, १, १६, १)" —इति निगमः ॥

(२) गायति । 'कै गै शब्दे (भू० प०)' । "गायन्ति त्वा
 गायत्रिणः । (ऋ० सं० १, १, १६, १)" —इति निगमः ॥

(३) रेभति । (४) स्तोभति । 'रैभू शब्दे (भू० आ०)'
 'प्लुभ स्तम्भे (भू० आ०)' । आत्मनेपदिनौ व्यत्ययेन परस्मैपदम् ।
 "रेभन्तो घै देषाश्च ऋषयश्च स्वर्गे लोकमायन् (ऐ० ब्रा० ६, ५,
 ६)" —"सोमः पवित्रमभ्येति रेभन् (ऋ० सं० ७, ४, ७, १)"
 —"परिष्टोभत विंशतिः (ऋ० सं० १, ५, ३०, ४)" —इति
 निगमाः ॥

(५) गूर्दपति । नैरुक्तधातुः । "तंगूर्दया स्वर्णरम् (ऋ० सं०
 ६, १, २६, १)" —इति निगमः ॥

(६) गुणाति । 'गृ शब्दे' कृयादिः स्वादिश्च । "कण्वतमो
 नाम गुणाति नृणाम् (ऋ० सं० १, ४, ३, ४)" —इति निगमः ॥

(७) जरते । नैरुक्तधातुः "गुरुणीथे जरते सनुतावान् (ऋ०
 सं० १, ४, २५, ७)" —इति निगमः ॥

(८) हयते । 'ह्रिज् स्पर्द्यायाम् (भू० उ०)' । "वाहिष्ठो वां-
हयानाम् (ऋ० सं० ६, २, २६, १)" —इति निगमः । 'हवाः
स्तोमाः हयतेरर्चतिकर्मत्वात्' —इति स्कन्दस्वामी ॥

(९) नदति । 'णद् अव्यक्ते शब्दे (भू० प०)' । "नदस्य मा
रुधतः काम आगन् (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)" —इति निगमः ॥

(१०) पृच्छति । 'प्रच्छ झीप्सायाम् तुदादिः । 'प्रहिज्या
(६, १, १६)' —इत्यादिना सम्प्रसारणम् ॥

(११) रिहति । 'रिह कत्यनादौ' —इति क्षीरस्वामी ।
तुदादिः । "शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति (ऋ० सं० ८, ७, ७,
१)" —इति निगमः । अत्र भाष्ये तु "समानवृत्तित्वप्रदर्शनपदं
लिहन्ति पर्यायध्वनम्" —इति । "विप्रा रिहन्ति धीतिभिः
(ऋ० सं० १, २, ६, ४)" —इत्यत्र 'रिहतिधर्मतीत्यर्थतिकर्मसु
पाठात्' —इति स्कन्दस्वामी ॥

(१२) धमति । गतिकर्मसु व्याख्यातः (२५८ पृ०.) ॥

(१३) कृपायति । (१४) कृपयति । (१५) पनस्यति ।
नैरुक्तधातवः । "सर्वताता ये कृपणन्त रत्नम् (ऋ० सं० ८, ३,
५, ३)" —इत्यत्र कृपणन्त स्तुवन्ति —इति भट्टभास्करमिश्रः ।
"ह्वेयं पनस्युमर्किणम् (ऋ० सं० १, ३, १७, ५)" —इति निगमः ।
'पनस्यतिरर्चतिकर्मा, स्तुत्यमित्यर्थः' —इति स्कन्दस्वामी ॥

(१६) पनायते । 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' —'पन च (भू०
आ०)' । गुणधूपचिच्छिपणिपनिम्य आयः (३, १, २८)' । "अर्माशूनां
महिमानं पनायत (ऋ० सं० ५, १, २०, १)" —इति निगमः ॥

(१७) घल्गूयति । 'घल्गु पूजाधुर्ययोः' कण्डूपादिः । "घल्गू-
यति घन्दते पूर्वभाजम् (ऋ० सं० ३, ७, २७, २)" —इति निगमः ॥

(१८) मन्दते । 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्रकान्तिगतिषु (भू०)'
आत्मनेपदी । "प्र घो महे मन्दमानायान्धसः (ऋ० सं० ८, १,
६, १)" —इति निगमः ॥

(१९) मन्दते । 'मदि कल्याणे सुखे च' आत्मनेपदी ।
"पुरुप्रियो मन्दते घाममिः कधिः (ऋ० सं० २, ८, २०, ४)" —
इति निगमः ॥

(२०) छन्दति । 'छदि संवरणे' चुरादिः । बहुलमन्यत्रापि
सम्प्रज्ञाच्छन्दसोः (उ० २, २१)" —इति लुक् । "वृषाच्छन्दुर्मेषति
हयंतो वृषा (ऋ० सं० १, ४, १६, ४)" —इति निगमः ॥

(२१) छदयते । 'छद अपवारणे' चुरादिः । 'सम्प्रज्ञापूर्वको
विधिरनित्यः (प० श्लो० १३)" —इति वृद्ध्यभावः । 'अदन्तोद्गृह्यः'
इति भट्टभास्करमिश्रः ॥

(२२) शशमानः । 'शशमानः शंसमानः (निरु० ६, ८)'
—इति भाष्ये । 'शंसु स्तुताचित्यस्य शंशश्चित्यधगम्यते' —इति
स्कन्दसामी । शंसेर्लटि पृषोदरादित्वाद्वृषसिद्धिः । यद्वा, 'शश
प्लुतगतौ (भू० प०)' । 'ताच्छील्यवयोधचनशक्तियु चानश
(३, २, १२६)' । "यो घां यज्ञीः शशमानोह दाशति (ऋ० सं०
२, २, २१, २)" —इति निगमः ॥

(२३) रज्जयति । (२४) जरयति । 'रज्ज रागे (भू० उ०)'
'जृप् धयोहानौ ('दि० प०)' हेतुमतो णिच् ॥

(२५) शंसति । 'शंसु स्तुतौ (भू० प०)' । "मा चिदन्यद्वि
शंसत (ऋ० सं० ५, ७, १०, १)" —इति निगमः ॥

(२६) स्तौति । 'ष्टु स्तुतौ' अदादिः । 'उतो वृद्धिलुकि
हलि (७, ३, ८६)' । "इदमित् स्तोतारं वृषणं सचासुतः" —
इति निगमः ॥

(२७) यौति । (२८) यौति । (२९) नौति । 'यु मिथ्रजे'
'रु शब्दे' 'यु स्तुतौ' अदादयः । "रुषद्वोक्षापप्रधानेभिरेवैः (ऋ०
सं० ३, ८, ८, १)" —इति निगमः । "युद्धैरमि प्रणोनुमः
(ऋ० सं० १, ५, २६, १)" —इति निगमः ॥

(३०) भनति । नैरुक्तधातुः ।

(३१) पणायति । (३२) पणते । 'पण व्यघृहारे स्तुतौ
च (भू० आ०)' । 'गुपूधूप (३, १, २८)' —इत्यादिना आयः,
छान्दसत्यास् आयप्रत्यये विकल्पिते पणते इति रूपम् ।
'दैवो नयन् सविता सुपाणिः (ऋ० सं० ३, २, १३, १)" —
इति निगमः । 'पाणि पणायतेः पूजाकर्मणः (२, २६)' —इति
निरुक्तम् ॥

(३३) सपति । 'यय समवाये (भू० प०)' । "मत्सरासः
प्रसुपः साकमीरते (ऋ० सं० ७, २, २२, २)" । प्रसुपः
सपनेर्त्वेतिकर्मणः । "चि ये चूतन्त्यृता सपन्तः (ऋ० सं० १,
५, ११, ४)" —इति निगमो ॥

(३४) पृष्टाः । पृश्तिर्नैरुक्तधातुः । पृचेः सन्ति 'हलन्ताश्च
(१, २, १०)' —इत्यत्र हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् 'अनिदिताम्

‘(६, ४, २४)’—इति नलोपः गुणाभावश्च । सनन्ताहो टि
(३, ४, ७), सिपि (३, १, ३४), आडागमे (३, ४, ६४),
‘इतश्चलोपः (३, ४, ६७)’ । “यायो तव प्रपृञ्चती (ऋ० सं०
१, १, ३, ३)’—इत्यत्र ‘प्रपृञ्चाः, महयति,—इत्यर्चतिकर्मसु
पाठात् पृञ्चतिः स्तुत्यर्थोऽपि’—इति स्कन्दस्यामी ॥

(३५) महयति । ‘मह पूजायाम्’ चुरादिरुन्तः । “त्यंसु
मेपं महया स्वयिदम् (ऋ० सं० १, ४, १२, १)”—इति निगमः ॥

(३६) याजयति । यजेर्णिच् । “याजयामः शतक्रतो (ऋ०
सं० १, १, ८, ४)”—इति निगमः ॥

(३७) पूजयति । ‘पूज पूजायाम्’ चुरादिः ॥

(३८) मन्यते । ‘मन ज्ञाने’ द्विधादिः । “इमा ऽड वां
भूमयो, मन्यमानाः (ऋ० सं० ३, ४, ६, १)”—इति निगमः ॥

(३९) मदति । ‘मदी हर्षश्छेपणयोः (दि० प०)’ ।
“क्षुमन्तो यामिर्मदेम (ऋ० सं० १, २, ३०, ३)” —“इन्द्रं गोभिर्मदता
घस्यो ऽअर्णवम् (ऋ० सं० १, ४, ६, १)” —इति निगमौ ।
‘मदति रसतात्यर्चतिकर्मसु पाठात्’—इति स्कन्दस्यामिभाष्यम् ॥

(४०) रसति । ‘रस शब्दे (भू० प०)’ ।

(४१) स्वरति । ‘स्व शब्दोपतापयोः (भू० प०)’ । “स्वरे-
णाद्रि स्वर्थोऽनवचैः (ऋ० सं० १, ५, १, ४)” —“ऋपिस्वरं चरति
यासु नाम ते (ऋ० सं० ४, २, २४, ३)” —इति निगमौ । “स्वरेणा-
द्रिम्”—इत्यत्र ‘स्वरति वेनतीत्यर्चतिकर्मसुपाठात्’—इति, “ऋपि-
स्वरम्”—इत्यत्र ‘स्वरतिरर्चतिकर्मा’—इति च स्कन्दस्यामी ॥

(४२) वेनति । (४३) मन्द्रयने । नैरुक्तधातू । “अनर्वाणं
चृपभं मन्द्रजिह्वम् (ऋ० सं० २, ५, १२, १)”—इति निगमः ।
‘मन्द्रयतिर्चतिकर्मा स्तुत्यचाचकम्’—इति स्कन्दस्वामी ॥

(४४) जल्पति । ‘जल्प व्यक्तायां चान्वि (भू० प०)’ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशद्वर्तिकर्माणः ॥ १४ ॥

विप्रः (१) । विप्रः (२) । गृत्सः (३) ।

धोरः (४) । वेनः (५) । वेधाः (६) । कण्वः (७) ।

कृभुः (८) । नवेदाः (९) । कविः (१०) ।

मनीषिः (११) । मन्धाता (१२) । विधाता (१३) ।

विपः (१४) । मनश्चित् (१५) । विपश्चित् (१६) ।

विपन्यवः (१७) । आकेनिपः (१८) । उशिजः (१९) ।

कीस्तासः (२०) । अद्धातयः (२१) । मत्तयः (२२) ।

मत्तुथाः (२३) । वाघतः (२४) । इति चतुर्वि-

शतिर्मेधाविनामानि ॥ १५ ॥

(१) विप्रः । ‘वृ चप रीजसन्ताने (भू० प०)’ । ‘विप क्षेपे’—
इति क्षीरस्वामी । ‘प्रस्त्रेन्द्रायवज्रविप्र (उ० १, २७)’—इत्यादिना
रूपप्रत्यये इत्वं गुणामावश्च निपात्यते । उप्यतेऽस्मिन्नतिशयेन
मेधा । क्षिपत्यनया पापं वा । यद्वा, ‘विप्’—इति सङ्ग्राम-

नामसु व्याख्यातम् (२१० पृ०), सास्यास्तीति रो मत्वर्थीयः, पृपो-
देरादित्वात् जशत्वाभावः । चाङ्मयी हि मेधा । यद्वा, 'प्रा
पूरणे (अदा० प०)' विपूर्वः । 'आतोऽनुपसर्गे (३, २, ३)'—इति
कः । 'आतो लोप इटि च (६, ४, ६४)' । विशेषेण पूरयति
विद्यार्थिनामपेक्षाः । "गृणन्ति विप्र ते धियः (ऋ० सं० १, १,
२६, २)"—इति निगमः ॥

(२) विप्रः । विपूर्वात् गृणातेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २,
१०१)'—इति डः । धिचिधं गृणात्यर्थान् । "परे हि विप्रमस्तुतम्
(ऋ० सं० १, १, ७, ४)"—इति निगमः ॥

(३) गृत्सः । 'गृधु अभिकाङ्क्षायाम् (दि० प०)' ऋचिरुपि-
रुदिवृश्चिशृगृदृभ्यः कित्—इति सप्रत्ययः । अभिकाङ्क्ष्यते
सर्वैः । यद्वा, गृणातेः स्तुतिकर्मणो बाहुलकात् सक् प्रत्ययो
ह्रस्वत्वं तुगागमश्च । स्तुत्यो लोकस्य, स्तोता वा देवानाम् ।
गृत्सस्य धीरा स्तवसो विधो मदे (ऋ० सं० ७, ७, ११, ५)"—नमो
गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च (य० पा० सं० १६, २५)"—इति
निगमौ ॥

(४) धीरः । दधातेः सुसूधीगृधिभ्यः कन् (उ० २, २३)"—
इति कन् प्रत्ययः, 'धुमाख्यागापा (६, ४, ६६)"—इतीत्वम् । धत्ते
श्रुतमर्यम्, ददाति वा विद्याः शिष्येभ्यः । यद्वा, धीः प्रज्ञा कर्म
वा, रो मत्वर्थीयः । 'धियमीरयति'—इति क्षीरस्वामी । तत्र
धीशब्द उपपदे 'कर्मण्यण् (३, २, १)' । "समाधीरः पाकमत्रा-
विवेश (ऋ० सं० २, ३, १८, १)"—इति निगमः ॥

(५) वेनः । अजतेः 'घापृचस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—
इति नप्रत्ययः, घोभावः । गच्छति सत्कारं लोके, अवगच्छ-
त्यर्थान्, अवगच्छत्यस्मादर्थसंशयान्, गच्छन्त्येनं विद्यार्थिनः,
क्षिपत्यनर्थान्, पापं वा । यद्वा, वेनतेः कान्तिकर्मणो गतिकर्मणो
पात्तिकर्मणो वा 'पुंस्ति सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८), । "गिरिं न
वेनां अधिरोह तेजसा (ऋ० सं० १, ४, २१, २)"—इति निगमः ॥

(६) वेधाः । वधातेर्विपूर्वात् 'विधाजो वेध च (उ० ४,
२१६)'—इत्यसुन् वेधादेशश्च । विदधाति काय्यादिः । "मोपथा
वृक्षं कपनेव वेधसः (ऋ० सं० ४, ३, १५, १)"—"सोमो न
वेधा प्रत प्रजातः (ऋ० सं० १, ५, ६, ५)"—"आ पृच्छोचिष्य-
तिर्विभुवेधाः (ऋ० सं० १, ४, २६, २)"—इति निगमाः ॥

(७) कण्वः । 'कण शब्दे (भू० प०)' 'कण निमीलने (बु०
प०)' वा । 'अशुप्रुपिलट्टिकणिखट्टिविशिभ्यः कन् (उ० १,
१४६)' । कणति स्तोत्रलक्षणं शब्दं करोति, कण्यते स्तूयते वा,
निमीलयति परान् वा स्वतेजसा । "कण्वा अभि प्रगायत (ऋ०
सं० १, ३, १२, १)"—"कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम् (ऋ०
सं० १, ४, ३, ४)"—इति निगमौ ॥

(८) ऋभुः । 'ऋभुश्चा इत्यत्र व्याख्यातम् (३०६ पृ०)' ।
"ऋभुर्ऋभुमिरमि घः स्याम (ऋ० सं० ५, ४, १५, २)" इति
निगमः ॥

(९) नवेदाः । "ए पां भूत नवेदा मतानाम् (ऋ० सं० २, ३,
२६, ३)"—इत्यत्र नवेदेति न वेत्तीत्यस्मिन्नर्थे घर्तते । 'कुत

एतत्? निपातनात्, वैयाकरणेन 'नम्राण्णपान्नवेदा (६, ३, ७५)'—इति 'निपातयन्ति'—इति स्कन्दस्वामी । तत्र द्विनम्-
पूर्वाद् विदेः कर्त्तर्यसुनि एकस्य नञो लोपोऽन्यस्य प्रकृतिभावश्च
निपात्यत इति भावः । “त्रिध्वित्रो अद्या भवतं नवेदसा (ऋ०
सं० १, ३, ४, १)”—इति निगमः ॥

(१०) कविः । 'कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्घा
(निरु० १२, १३)'—इति भाष्ये 'क्रामतेः कवतेर्घा गति
कर्मण इति रूपम्'—इति स्कन्दस्वामी । क्रामतेः कवतेश्च 'इन्
सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्प्रत्ययः क्रामतेर्मकारस्य
घट्त्वं रेफलोपश्च बाहुलकात् । क्रान्तमस्यास्तीति मत्तर्धीयस्य
लुक् । कविः क्रान्तदर्शनः । 'अतीतानागतविप्रकृष्टविषयं शुगपत्
ज्ञानं यस्य स क्रान्तदर्शनः—इत्युच्यते । “कधी नो मित्राचरुणा
(ऋ० सं० १, १, ४, ३)”—इति निगमः ॥

(११) मनीषिणः । 'मनु अवयोधने (दि० आ०)' ।
'कृतृभ्यामीपन् (उ० ४, २६)'—इति बाहुलकादीपन् । मनीषा
प्रज्ञाऽस्यास्ति घ्रीह्यादित्वादिनिः । यद्वा, मनस इया स्तुतिः
प्रज्ञा वा मनीषा । पृषोदरादित्वाद्गुपसिद्धिः । पूर्यचदीपन् ।
“घृतपृष्ठं मनोपिणः (ऋ० सं० १, १, २४, ५)”—इति
निगमः ॥

(१२) मन्धाता । मन्यतेर्ल्युट्, दधातेस्तृच् । मानस्य
ज्ञानस्य विधातयिता, पृषोदरादिः (६, ३, १०६) । “मन्धातासि
द्रचिणोदा ऋता वा (ऋ० सं० ७, ५, ३०, २)”—इति निगमः ॥

(१३) विधाता । विपूर्वात् दधानेऽन्तः । वेधःशब्दवदर्थः ।
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१४) विषः । 'विष श्रेणे (ब्र० प०)' । इगुपधलक्षणः
कः (३, १, ३५) । विप्रचदर्थः । "अस्तृणाद् यर्हणा विषो
(ऋ० सं० ६, ४, ४३, १)" — इति निगमः ॥

(१५) मनश्चित् । मनःशब्दोपपदात् 'चिती सञ्ज्ञाने (भू० प०)' ।
इत्यस्मादीणादिकः क्विप् । मनसा चेतयते । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) विपश्चित् । विषो चान्वद्येतयते 'तत्पुरुषे कृति
बहुलम् (६, ३, १४)' — इत्यलुक् । 'विपश्यन्चेतयते' — इति
क्षीरस्थामी । पृषोदगादित्यात् पश्यतेरूपम् । "धर्मकृते विपश्चिते
पनस्यवे (ऋ० सं० ६, ७, १, १)" — इन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्
ऋ० सं० १, १, ७, ४) — इति निगमो ॥

(१७) विपन्वयः । विपतेः 'कन्युच् क्षिपेच्च (उ० ३, ४८)'
— इत्यत्र प्राक्प्रत्ययनिर्देशस्याधिकविध्यर्थत्वात् कन्युच्प्रत्ययः ।
यद्वा, विचिधं पननं स्नुतिः 'भृगादवाद्यश्च (उ० १, ३६)' — इति
कुम्प्रत्ययः । "विपन्वयो विप्राप्तो वाजसातये (ऋ० सं० ६, ६,
१०, ६)" — इति निगमः ॥

(१८) आकेनिपः । आङ्शब्दे, केशब्दे, निशब्दे औपपदे
त्रिपूर्वात् पततेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)' — इति डः ।
'तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६, ३, १४)' । के आत्मनि पतन्ति
अध्यात्मज्ञाने पतन्ति इत्यर्थः । "अप्यसौ यथा केनिपानामिनो वृधे
(ऋ० सं० ७, ८, २६, ४)" — इति निगमः ॥

(१६) उशिजः । 'घश्च कान्तौ (अदा० ष०)' 'घशोः किञ्च (उ० २, ६८)'—इति इजिप्रत्ययः । ग्रहिज्या (६, १, १६)—इत्यादिना सम्प्रसारणम् । कामयते शास्त्राण्यभ्यसितुं व्याख्यातुं चा । "कक्षीचन्तं य औशिजः (ऋ० सं० १, १, ३४, १)"—इति निगमः ॥

(२०) कीस्तासः । कीर्तयतेः पचाद्यचि (३, १, १३४) घञि घा । कीर्तयन्ति प्रशस्तानर्थान् । "कीस्तासो अभिघचः (ऋ० सं० २, १, ६३, २)"—इति निगमः ॥

(२१) अद्वातयः । अद्देति सत्यनाम । अततेरतयः । सत्यं प्राप्नोति, गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः, सत्यं जानाति धा । "तदद्वातयऽइतिदुः (ऋ० सं० ८, ३, २३, १)"—इति निगमः ॥

(२२) मतयः । मन्यतेः क्तिन् । ह्यायन्तेऽस्मादर्थाः । यद्वा, मतिरस्यास्ति मत्यर्थीयस्य लुक् । "अद्रोघवाचं मतिभिः शचिष्ठम् (ऋ० सं० ४, ६, १३, २)"—"त्वामिन्द्र मतिभिः सुतम्"—इति निगमौ ।

(२३) मतुधाः । 'गूथप्रोथपृष्ठादयः'—इति मनेस्थकि नकारस्य तुभाचो निपात्यते । "तुथोऽसि विश्ववेदाः (य० षा० सं० ५, ३६)" । 'विमज्जत्यः ग्रह्य चै तुथः (श० षा० ४, ३, ४, १५)'—इति श्रुतिः—इत्युघटः । मतं ज्ञानं तुथो मनुष्यैः । तेन मनतुधाः सन्तः पृषोदरादित्वेन मतुधाः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२४) घाघतः । घहेः 'संश्चतृस्पद्वेहत् (उ० २, ८६)'—इति प्रत्ययः, उपधावृद्धिः, हकारस्य घकारश्च निपात्यते ।

निपहत्य ग्रन्थार्थान् । “विष्ट्वी शमी” तरणित्वेन पाद्यतः (ऋ० सं० १, ७, ३०, ४)—इति निगमः ॥

इति चतुर्विंशतिर्मेधाविन इति मेधाविनामानि ॥ १५ ॥

रेभः (१) । जरिता (२) । कारुः (३) ।
नदः (४) । स्तामुः (५) । कीरिः (६) । गौः (७) ।
सूरिः (८) । नादः (९) । छन्दः (१०) । स्तुप् (११) ।
रुद्रः (१२) । कृष्णयुः (१३) । इति त्रयोदश-
स्तोत्रनामानि ॥ १६ ॥

(१) रेभः । रेभतिर्यत्तिकर्मा (३३६ पृ०) । अथ ।
स्तौति । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२) जरिता । जरतेर्यत्तिकर्मणः (३३६ पृ०) । ‘त्वाम
च्छा जरितारः (ऋ० सं० १, १, ३, २)’—इति निगमः ॥

(३) कारुः । करोते ‘कृयापाजि (उ० १, १)’—इत्युण् ।
कर्ता “विष्टुष्टे तस्य कारयः (ऋ० सं० १, १, २१, ६)”—
इति निगमः ॥

(४) नदः । नदति स्तुतिकर्मा (३३७ पृ०) । अथ ।
“नदस्य मा रुधत काम आगन् (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)”—इति
निगमः ॥

(५) स्तामुः । ‘यम एम अवैकल्ये (मू० प०)’ । ‘छन्द-
सीणः (उ० १, २)’—इति बाहुलकादुण् । स्तोत्रकर्मणि “तामु”

—इति केचित् पठन्ति । 'तमु काङ्क्षायाम् (दि० प०)' पूर्वचट्
चादुलकादुण् । कांक्षति । स्तोतुम् । उभयोरेव निगमोऽन्वे-
षणीयः ॥

(६) कीरिः । 'कै गै रै शब्दे (भू० प०)' । 'कायः कीः—इति
इप्रत्ययः । आकारलोपः । स्तोत्रलक्षणं शब्दमारचयति ।
'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)' "कीरेश्चिन्मन्त्रं मनसा धनोपि
तम् (ऋ० सं० १, २, ३४, ३)" —इति निगमः ॥

(७) गौः । व्याख्यातं पृथिवीनामसु (२७ पृ०) । गीयन्ते
सूयन्तेनेन देयताः । "यो अश्वानां गवां गोपतिर्घशी (ऋ० सं०
१, ७, १२, ४)" —इति निगमः । 'गोपतिः स्तोत्रपतिः' —इति
स्कन्दस्वामी ॥

(८) सूरिः । 'सू प्रेरणे (तु० प०)' । 'सुडः क्रिः (उ० ४,
६४)' —इति सुयतेः किर्मवति । प्रकर्षेण ईरयति स्तोत्रम् ।
"सदा पश्यन्ति सूरयः (ऋ० सं० १, २, ७, ५)" —इति
निगमः ॥

(९) नादः नदतेर्घञ् । भवत्यस्मात् स्तुतिः । निगमोऽन्वे-
षणीयः ॥

(१०) छन्दः । छन्दतिरर्चविकर्मा (३३८ पृ०) । भ्रतुन् ।
'छद आच्छादने (चु० प०)' । 'छदेच्च' —इत्यस्तुन् । आच्छा-
दयति स्तोत्रैः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(११) स्तुप् । स्तोमतिरर्चविकर्मा (३३६ पृ०) । कृप् ।
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१२) रुद्रः । रौतेः क्त्वि, स्त् शब्दः, मत्वर्थो यो रः ।
स्तोत्रलक्षणशब्दानित्यर्थः । “क्राणा रुद्रेर्मिर्वसुभिः पुरोहितः
(ऋ० सं० १, ४, २३, ३)” — इति निगमः ॥

(१३) रुपण्युः ॥

इति त्रयोदश स्तोत्रनामानि ॥ १६ ॥

यज्ञः (१) । वेनः (२) । अद्ध्वरः (३) ।
मेधः (४) । चिदयः (५) । नार्यः (६) ।
सवनं (७) । होत्रा (८) । इष्टिः (९) । देव-
ताता (१०) । मखः (११) । विष्णुः (१२) ।
इन्दुः (१३) । प्रजापतिः (१४) । धर्मः (१५) ।
इति पञ्चदश यज्ञनामानि ॥ १७ ॥

(१) यज्ञः । ‘प्रख्यातं जयतिकर्मेति नैरुक्ताः (३, १६) —
इत्यादि भाष्यकारेण, स्कन्दस्वामिना ॥ यज्ञशब्दो बहुधा व्युत्पा-
दितः । यज्ञेः ‘यज्ञयाचयतचिच्छप्रच्छरक्षो नश् (३, ३, ६०)’
यजनम् । इज्यन्तेत्र देवताः । अन्येषु पृषोदरादित्वेन रूपसिद्धिः ।
“यज्ञे यज्ञेन उदय (ऋ० सं० ३, ८, २१, ४)” — इति निगमः ॥

(२) वेनः । व्याख्यातं मेधाविनामसु (३४३ पृ०) गच्छत्य-
नेन स्वर्गम्, प्रक्षिप्यते देवतोद्देशेन चास्मिन् हव्यम्, तेनात्र
देवता काम्यन्ते वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

—इति केचित् पठन्ति । 'तमु काङ्क्षायाम् (दि० प०)' पूर्ववद्
धादुलकादुण् । कांक्षति । स्तोतुम् । उभयोरेव निगमोऽन्वे-
षणीयः ॥

(६) कीर्तिः । 'कौ नै रै शब्दे (भू० प०)' । 'कायः कीः—इति
इप्रत्ययः । आकारलोपः । स्तोत्रलक्षणं शब्दमारचयति ।
'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)' "कीरेऽभिन्मन्त्रं मनसा वनोपि
तम् (ऋ० सं० १, २, ३४, ३)"—इति निगमः ॥

(७) गौः । व्याख्यातं पृथिवीनामसु (२७ पृ०) । गीयन्ते
सूयन्तेनेन देवताः । "यो अश्वानां गघां गोपतिर्वशी (ऋ० सं०
१, ७, १२, ४)"—इति निगमः । 'गोपतिः स्तोत्रपतिः'—इति
स्कन्दस्वामी ॥

(८) सूरिः । 'सू प्रेरणे (तु० प०)' । 'सुङ्ः क्रिः (उ० ४,
६४)'—इति सुयतेः क्रिर्मवति । प्रकर्षेण ईरयति स्तोत्रम् ।
'सदा पश्यन्ति सूरयः (ऋ० सं० १, २, ७, ५)'—इति
निगमः ॥

(९) नादः नदतैर्घञ् । भवत्यस्मात् स्तुतिः । निगमोऽन्वे-
षणीयः ॥

(१०) छन्दः । छन्दतिरर्चतिकर्मा (३३८ पृ०) । असुन् ।
'छद् आच्छादने (तु० प०)' । 'छदेश्च'—इत्यसुन् । आच्छा-
दयति स्तोत्रेः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(११) स्तुप् । स्तोभतिरर्चतिकर्मा (३३६ पृ०) । क्तिप् ।
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१२) रुद्रः । रीतिः 'रिप्, रुत् शब्दः' मत्वर्थीयो रुः ।
स्तोत्रलक्षणशब्दानित्यर्थः । "क्राणा रुद्रेभिर्वसुभिः पुरोहितः
(ऋ० सं० १, ४, २३, ३)"—इति निगमः ॥

(१३) रुपय्युः ॥

इति त्रयोदश स्तौतुनाम्नानि ॥ १६ ॥

यज्ञः (१) । वेनः (२) । अङ्ग्वरः (३) ।
मेधः (४) । विदयः (५) । नार्यः (६) ।
सवनं (७) । होत्रा (८) । इष्टिः (९) । देव-
ताता (१०) । मखः (११) । विष्णुः (१२) ।
इन्दुः (१३) । प्रजापतिः (१४) । धर्मः (१५) ।
इति पञ्चदश यज्ञनाम्नानि ॥ १७ ॥

(१) यज्ञः । 'प्रध्यातं जयति कर्मति नैरुताः (३, १६)—
इत्यादि भाष्यकारेण, स्वन्दस्यामिना च यज्ञशब्दो बहुधा व्युत्पा-
दितः । यज्ञः 'यजयान्वयतविच्छप्रच्छरक्षो नष्ट (३, ३, ६०)"
यजनम् । इज्यन्तेऽथ देवताः । अन्येषु पृथोदरादित्येन रूपसिद्धिः ।
"यज्ञेयज्ञेन उद्व (ऋ० सं० ३, ८, २१, ४)"—इति निगमः ॥

(२) वेनः । व्यपान्यातं मेधाविनामसु (३४३ १०) गच्छत्य-
मेन स्वर्गम्, प्रक्षिप्यते देवतोद्देशेन घाम्मिन् हव्यम्, तेनाग्र-
देवता काम्यन्ते वा । निगमोऽन्तेर्प्राप्यः ॥

(२३) इन्द्रः । 'उन्दी कृदन्ते (५० प०)' । 'उन्दे रिच्चादेः (उ० १, १२)'—इत्युप्रत्ययः । क्लियते सूयतेऽस्मिन् सोमः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१४) प्रजापतिः । प्रजाशब्दः पतिशब्दश्च अपत्यनामसु (१६१ पृ०) ऐश्वर्य्यं कर्मनामसु (२६६ पृ०) च व्याख्यातौ । प्रजापतिवृष्ट्यादिहेतुत्वात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१५) घर्मः । 'घृ क्षरणदीप्त्योः (भू० प०)' । मप्रत्ययः । क्षरत्यस्मिन् सोमः, दीप्यन्तेऽग्नय इति वा । "घर्मस्येदेभिर्ब्रविणं व्यानद् (ऋ० सं० ८, २, १६, १)" —सत्यैः कथैः पितृभिर्घर्मणा (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४) —इति निगमौ ॥

इति पञ्चदश यज्ञनामानि ॥ १७ ॥

भारताः (१) । कुरवः (२) । वाघतः (३) । वृक्तवर्हिषः (४) । यतस्त्रुचः (५) । मरुतः (६) । सवाधः (७) । देवयवः (८) । इत्यष्टावृत्तिवङ् नामानि ॥ १८ ॥

(१) भारताः । 'भृञ् मरणे (भू० उ०)' । 'भृमृष्टशियजि-
पर्वच्यमितमिनमिहर्मिभ्योऽतच् (उ० ३, १०७)' । 'यज्ञद्वारेण
नृन्, सम्भरतीति' स्कन्दस्वामी । विभर्त्तवार्तच् । 'पुप्यन्ते'
दक्षिणामिः । "अमन्थिष्ठां भारता (ऋ० सं० ३, १, २३, २)"
इति निगमः ॥

(३) अध्वरः । अध्वरतेर्वधकर्मणः 'पुंसि सप्तज्ञायां घः (३, ४, ११८)' । नत्रपूर्वः क्षरा हिंसा, तदभाचो यत्र । अतएव शिष्टाः स्मरन्ति—'ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिण स्तथा । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नु घन्त्युच्छितां गतिम्'—इति । तस्मादुप-
पन्नं यज्ञे हिंसा स्वर्जित्यामेतद्यज्ञीयवचनाद्दिहिंसा प्रतीयते । अन्यत्र विस्तरेणोपपादितः । अथवा पशुस्य बहुव्रीहिः । अवि-
द्यमानोऽध्वरो यस्य सोऽध्वरः, रक्षोभिरहिंसितः । "राजन्तम-
ध्वराणाम् (ऋ० सं० १, १, २, ३)"—इति निगमः ॥

(४) मेधः । व्याख्यातं धननामसु (२४२ पृ०) । गच्छन्त्यत्र देवता हविर्गृहीतुं, दक्षिणार्थं वा सवस्यात्, हिनस्त्यनेन पार्पं वा । 'कर्त्ता यज्ञो द्रव्याणामृतसामर्थाद्विपश्च सारभूतात्'—
इति माधवः । "मेधंजुपन्त बहयः (ऋ० सं० १, १, ६, ३)"—'तं मेधेषु प्रथमं देवयन्तीः (ऋ० सं० १, ५, २५, ३)"—इति निगमो ॥

(५) विदधः । 'विद ज्ञाने (अदा० प०)' विद् विचारणे (द० आ०)' 'विदुल लामे (तु० उ०)' 'विद सत्तायाम् (दि० आ०)' । 'रुद्विद्विद्विभ्यां डित् (उ० ३, १११)'—इति अथप्रत्ययः । प्रापते द्वि यज्ञः, लभते द्वि दक्षिणादिरत्र विचार्यते द्वि विदुदुभिः, भाष-
यत्यनेन फलम् । "अथा जिघ्री विदधमाचदाथः (ऋ० सं० ८, ३, २५, २)"—इति निगमः ॥

(६) नार्यः । 'नृ नये' न्यादिः । 'अदुलोपर्यत् (३, १, १२५)' । नयति स्वर्गं कर्त्तारम्, नीयतेऽत्रमनुष्ठानेन वा । निगमोऽन्येषर्णायः ॥

(७) सपनम् । पुम् अमिपवे (स्वा० उ०) । सुयुख्यभ्यो युच् (उ० २, ७०) । अमिपूयतेऽस्मिन् स्तोमः । “उप नः सचना गहि (ऋ० सं १, १, ७, २)” —इति निगमः ॥

(८) होत्रा । व्याख्यातं घाङ्नामस्तु (१०५, पृ०) । दीयतेऽस्मिन् हविः । “होत्राविदः स्तोमतष्टासी अर्कः (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)” —इति निगमः ॥

(९) इष्टिः । यजेरिपेर्चा किन् । यजतेर्पञ्चदर्थः, इष्यते हि सः । ‘इष्टिश्चो हविर्यज्ञे आद्युदात्तः यज्ञमात्रे नोदात्तः—इति माधवः । “यथातऽउश्मसीष्टये (ऋ० सं० १, २, ३०, २)” —इति निगमः ॥

(१०) देवताता । ‘त्रियुक्तीडादी (दि० प०) । शीष्यन्ति स्तुचन्यत्र देवताः । देव एव देवता । ‘सर्वदेवात्तातिल् (४, ४, १४३)’ सप्तम्या आकारः (७, १, ३६) । “त्रिर्देवतातात्रिद तावृत्तं धियाः (ऋ० सं० १, ३, ४, ५)” —“आ देवताता हविषा चियासति (ऋ० सं० १, ४, २३, १)” —इति निगमौ ॥

(११) मखः । ‘मह पूजायाम् (भू० प०) । ‘महेः ख च’ खप्र त्ययो हलोपध्व । महन्त्यत्र देवताः । यद्वा, ‘मख गतौ’ घः । वेनचदर्थः । “मघःसहस्रवर्चति (ऋ० सं० १, १, १२, ३)” “विघक्ति घङिः स्वप्स ते मखः (ऋ० सं० ७, ६, १०, १)” —इति निगमौ ॥

(१२) विष्णुः । ‘विप्ल व्यातो (जु० उ०) । ‘विपेः कि च (उ० ३, ३०)’ —इति नुप्रत्ययः । विशेषेणामोति स्वर्गम् । “जूरसि धृतमानसाजुष्टौ विष्णवे तस्यास्ते” —इति निगमः ॥

: (८) देययवः । देवशब्दोपपदात् यातेः 'मृगव्यादयश्च (३० १, ३६)'—इति कुप्रत्ययान्तो निपात्यते । देवान् यान्ति मनसा हविःप्रदानसमये । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इत्यष्टावृत्तिङ्नामानि ॥ १८ ॥

ईमहे (१) । यामि (२) । मन्महे (३) । दद्धि (४) । शग्धि (५) । पूर्द्धि (६) । मिमिद्धि (७) । मिमीहि (८) । रिरिद्धि (९) । रिरीहि (१०) । पीपरत् (११) । यन्तारः (१२) । यन्धि (१३) । इपुध्यति (१४) । मदेमहि (१५) । मनामहे (१६) । मायते (१७) । इति सप्तदश याचूजाकर्माणः ॥ १६ ॥

(१) ईमहे । 'ई गतो' दिवादिः । 'बहुलं छन्दसि (३, ४, ७३)'—इति शपो लुक् । "इतो घा सासि मीमहे (ऋ० सं० १, १, १२, ५)"—इति निगमः ॥

(२) यामि । 'या प्रापणे' अदादिः । "तत्त्वा यामि ब्रह्मणा चन्दमान (ऋ० सं० १, २, १५, १)"—इति निगमः ॥

(३) मन्महे । 'मनु अवयोधने' तनादिरात्मनेपदी । लोपधा-
स्यान्यतरस्याम्बोः (६, ४, १०७)—इति उप्रत्ययस्य लोपः । "चयं

हि ते अमन्महि (ऋ० सं० १, २, ३१, ६)"—इति निगमः। ईमहे, यामि, मन्महे, इति याच्ञाकर्मसु पाठात्—इति स्कन्दस्वामी ॥

(४) वेद्धि। 'दद दाने' भूवादिः। व्यत्ययेन शपः श्लुः। 'हुभलम्यो हेर्धिः (६, ४, १०१)'। भाष्यं द्रष्टव्यम् ॥

(५) शग्धि। 'शक्, शक्ती' स्वादिः। पूर्वयत् श्लुः। 'भला-अशभसि (८, ४, ५३)' ॥

(६) पूर्द्धि। 'पृ पालनपूरणयोः' क्य्यादिः प्यादिश्च। व्यत्ययेन शप, 'यहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति लुक्। ध्रुंष्टु-पृंष्टुस्यश्छन्दसि (६, ४, १०२)—इति धिमावः। "शग्धि पूर्द्धि प्रयंसि च (ऋ० सं० १, ३, २५, ४)"—रायस्पृद्धि स्वधापोत्ति (ऋ० सं० १, ३, १०, २)"—इति निगमौ ॥ "शाकी भव यजमानस्य बोदिता (ऋ० सं० १, ४, १०, ३)"—इत्यत्र, "शग्धि पूर्द्धि (ऋ० सं० १, ३, २५, ४)"—इत्यत्र च 'शग्धिपूर्द्धीति याच्ञाकर्मसु पाठात् शकिपृणाती याच्ञाकर्माणी—इति स्कन्दस्वामिभाष्ये उक्तम् ॥

(७) मिमिद्दि। 'मिह सेचने (भू० प०)'। 'यहुलं छन्दसि (२, ४, ७६)'—शपः श्लुः, छान्दसत्वात् ढलोपाभावश्च ॥

(८) मिमीहि। 'माइ माने' जुहोत्यादिः। व्यत्ययेन हिः। 'भृजामित् (७, ४, ७५)'। 'ई हल्यघोः (६, ४, ११३)'। "यत् सीं घरिष्ठे नृहती विमिन्वन (ऋ० सं० ३, ८, ८, १)"—इत्यत्र 'मिमीहि इति याच्ञाकर्मसु पठ्यते, तस्येदं रूपम्, विविधं याचन'—इति ह्रस्वतमाष्ये दृष्टम् ॥

(६) रिरिद्धि । 'रिद्धि कत्थने' तौदादिकः । पूर्ववत् श्लुः, ढलोपाभावश्च ॥

(१०) रिरिहि । 'रीङ् गतो' । व्यत्ययेन परस्मैपदं, ही शपः श्लुः । "प्रजावती रिन्द्रागोष्ठे रिरिहि (ऋ० सं० ८, ८, २७, ३)" —इति निगमः ॥ 'सङ्गयेत्यर्थमवोचत्' भट्टभास्करमिश्रः ॥

(११) पीपरत् । पृणोतेर्णिचि, लुङि, उपधाह्रस्वत्वे, हित्वे, सन्वदुभावादित्वे, 'वीर्षो लघोः (७, ४, ६४)' 'ऋतश्च (७, ४, ६२)' 'यहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६, ४, ७५)'—इत्यङ्मावः ॥

(१२) यन्तारः । 'यमु उपरमे (भू० प०)' । तुच् । जश् । "इन्द्र इन्द्रायः क्षयति अयन्ता (ऋ० सं० १, ४, ११, ४)" —इति निगमः ॥

(१३) यन्धि । 'यमु उपरमे (भू० प०)' । पूर्वषष्ठ्यपोलुक्, हेः 'घा छन्दसि (३, ४, ८८)'—इति हेरपित्वे, 'अङितश्च (६, ४, १०३)'—इति धीभायो मकारलोपाभावश्च । "उरु णो यन्धि जीवसे (ऋ० सं० ६, ५, ३, २)" —इति निगमः ॥

(१४) इपुध्यति । 'इपु चरणे' कण्ड्यादिः । "विभ्यो राय इपुध्यति (ऋ० सं० ४, ३, ४, १)" —इत्यत्र 'इपुध्यतिर्याच्चा-कर्मणः'—इत्युपटः ॥

(१५) मदेमहि । 'मदी हर्षग्लपनयोः' स्वरितेत्, लिङ् ॥

(१६) मनामहे । 'मना अभ्यासे' व्यत्ययेनात्मनेपदम्, पाप्मा-ध्मास्याम्ना (७, ३, ७८)—इत्यादिसृत्रेण मनादेशः । "स्वग्नयो मनामहे (ऋ० सं० १, २, २१, ३)" —इति निगमः ॥

(१७) मायते । नैरुक्त्यातुः ॥

इति सप्तदश याच्त्राकर्माणः ॥ १६ ॥

दाति (१) । दाशति (२) । दासति (३) ।

रातिं (४) । रासति (५) । पृणक्षि (६) । पृणाति
(७) । शिक्षति (८) । तुञ्जति (९) । मंहते (१०)

इति दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

(१) दाति । 'दाप् लयने' मदादिः, ददातेर्वा 'बहुलं
छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुक् । "दाति प्रियाणि
चिद्वसु (ऋ० सं० ३, ५, ८, ३)" —इति निगमः ॥

(२) दाशति । 'दाश्ट दाने' स्वरितेत् । "धमं यस्ते
ददाशमर्त्यः (ऋ० सं० १, ३, ८, ४)" —इति निगमः ॥

(३) दासति । 'दासु दाने' स्वरितेत् ॥

(४) राति । 'रा दाने' मदादिः । "तस्य मे रास तस्य ते
भक्षणाय"—इति निगमः ॥

(५) रासति । 'रासु शब्दे' व्यत्ययेन परस्मैपदम् ।

सनो रासज्जुरुधश्चन्द्राग्राः (ऋ० सं० ४, ८, ६, ३)" —इति
निगमः ॥

(६) पृणक्षि । 'पृची सम्पर्क' रुधादिः । "पृणक्षि सानसि
कतुम् (ऋ० सं० ८, ७, २८, ४)" —इति निगमः ॥

(७) पृणाति । 'पृ पालनपूरणयोः' कृयादिः स्वादिश्च ।
"यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति (ऋ० सं० २, १, १०, ५)" —
इति निगमः ॥

(८) शिक्षति । शचेः 'सनि मीमा (७, ४, ५४)'—इति इस् ।
 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७, ४, ५८)' संयोगादिलोपः (८, २, २६)
 "यस्तु भ्यंदाशाद् यो घाते शिक्षात् (ऋ० सं० १, ५, १२, ३)"—इति
 निगमः । 'शिक्षतिर्दानकर्मा पठितः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

(९) तुज्जति । 'तुजि हिंसायाम् पालने च' । "तुज्जे तुज्जे
 य उत्तरे (ऋ० सं० १, १, १४, २)"—इति निगमः ॥

(१०) मंहते । 'वृहि महि वृद्धौ' आत्मनेपदी । स्तोतृभ्यो
 मंहते मघम् (ऋ० सं० १, १, २१, ३)"—इति निगमः ॥

इति दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

परिस्त्रव (१) । पवस्व (२) । अभ्यर्प (३) ।
 आशिषः (४) । इति चत्वारोऽध्येषणा-
 कर्माणः ॥ २१ ॥

(१) परिस्त्रव । 'स्तु गतौ (भू० प०)' परिपूर्वः । लोणम-
 ध्यमैकधचतम् । "इन्द्रायेन्दो परिस्त्रव (ऋ० सं० ६, ६, १४,
 ३)"—इति निगमः ॥

(२) पवस्व । 'पूज् पवने (भू० उ०)' । "पवस्व सोम
 मन्दयन् (ऋ० सं० ७, २, १६, १)"—इति निगमः ॥

(३) अभ्यर्प । 'ऋष गतौ' तुदादिः । 'छन्दस्युभयथा
 (३, ४, ११७)"—इति शस्यार्द्धधातुकत्वे कित्धाभावाद् गुणः ।
 "अभ्यर्प स्वायुधा"—इति निगमः ॥

(४) आशिषः । अश्रोतेर्लेट् । 'सिब्यद्दुलं लेटि (३, १, ३४)' इद्, 'लेटोऽडाटौ (३, ४, ६४)' ॥

इति चत्वारोऽध्येषणाकर्माणः ॥ २ ॥

स्वपिति (१) । सस्ति (२) । इति द्वौ स्वपि-
तिकर्माणौ ॥ २२ ॥

(१) स्वपिति । 'प्रि प्यप शयने' अदादिः । तिपि 'यदा-
दिभ्यः सार्वधातुके (७, २, ७६)'—इतीट् । "यो दीक्षितः
स्वपिति"—इति निगमः ॥

(२) सस्ति । 'यस स्यप्ते' अदादिः । "सस्तु मात सस्तु
पिता (ऋ० सं० ५, ४, २२, ५)"—इति निगमः ॥

इति द्वे स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

कूपः (१) । कातुः (२) । कर्त्तः (३) । वव्रः
(४) । काटः (५) । खातः (६) । अवतः (७) ।
क्रिविः (८) । सूदः (९) । उत्सः (१०) । ऋश्य-
दात् (११) । कारोतरात् (१२) । कुशयः (१३) ।
केवटः (१४) । इति चतुर्दश कूपनामानि ॥ २३ ॥

(१) कूपः । कुशाश्लोपपदात् पियतेः 'अन्येष्वपि दृश्यते
३, २, १०१'—इति डः, 'अन्येष्वपि दृश्यते (५, ३, १३०)'—

इति दीर्घः । कुत्सितं पानमत्र, कृच्छ्रसाध्यत्वाच्छौचा-
सम्भवाद्वा । यद्वा, 'कुप क्रोधे' दिवादिः । इगुपधलक्षणः कः,
पृपोदरादित्यात् दीर्घः । कुप्यन्त्यस्मै मनुष्याः दुरादानजल-
त्यात् । यद्वा, कचतेर्गतिकर्मणः, 'क्युम्याञ्च (उ० ३, २५)'—
इति पप्रत्ययः, कित्त्वादीर्घश्च । गम्यते जलार्थिभिः । "प्रितः
कूपेऽचहितः (ऋ० सं० १, ७, २३, २)"—इति निगमः ॥

(२) फालुः । 'कै नै शब्दे (भू० प०)' । सितनिगमि-
सितञ्चविधाम्बुशिम्यस्तुन् (उ० १, ६७)—इति बाहुलका-
स्तुन् । शङ्क्यते बाहुलत्वादिना । यद्वा, कशब्दे उपपदे भवतः
'छन्दसीणः (उ० १, २)'—इति बाहुलकादुण् । फमुवकम-
स्मिन् अत्यन्ते अधिगम्यते । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(३) कर्तः । करोतेर्वा हिंसार्थात् । 'हंसिभृमिण्यामि-
दमित्पूधूर्ध्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८३)'—इति बाहुलकात्तन् ।
क्रियते उत्पाद्यते पुरुषैः, हिंस्यन्त्यत्र चौराः पथिकादीनर्थघतः,
कस्य ऋतः प्राप्तिरत्रेति वा । "कर्त्तमन्वस्य वित्तमादाय इत्यन्ति"
—इति निगमः ॥

(४) घवः । 'घृञ् सम्भक्ती (स्वा० उ०)' । 'घञर्थे कविधा-
नम् (३, ३, ५८ वा० २)'—इति कः । 'कृजादीनां के द्वे भवतः
(३, ३, ५८ वा० ३) । सम्भज्यते जलार्थिभिः । "घघ्रां अनन्तां
अवसां पदीष्ट (ऋ० सं० ५, ७, ८, २)"—इति निगमः ॥

(५) काटः । 'कटे वर्षाघरणयोः (भू० प०)' घञ् । आमि-
यते जलार्थिभिः । यद्वा, 'अट् पट् गतौ (भू० प०)' घञ् ।

“काटे नियाच्चह ऋगिरह द्रुतये (ऋ० सं० १, ७, २४, ६)”
—इति निगमः ॥

(६) खातः । ‘खनु अचदारणे (मू० उ०)’ । निष्ठा ।
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(७) अघतः । अघपूर्वादततेः पचायन्ति (३, १, १३४)
शकन्धादिच्चात् घर्कपम् (६, १, १४ घा०) । अघातति
खन्यमानोऽधोगच्छति “द्रोणाहायमवतमश्मचक्रम् (प्र६० सं० ८,
५, १६, १)”—“आघृतासोऽयतासो न कर्तुमिः (ऋ० सं० १,
४, २०, ३)”—इति निगमौ ॥

(८) क्रिषिः । करोतेः कृणोतेर्वा ‘कृषिदृष्टिदृष्टिभ्यधिकि-
फीदिषि (उ० ४, ५६)’—इतीनप्रत्ययो गिदादेशश्च निपात्यते ।
कर्त्तव्यदर्थः । “आय इन्द्रं क्रिषि यथा (ऋ० सं० १, २, २८, १)”
—इति निगमः ॥

(९) सूदः । ‘सूद क्षरणे हिंसायाञ्च (मू० आ०)’ । क्षर-
त्यस्मान् जलं, हिंसायां कर्त्तव्यदर्थः । ‘शोभनोदकः सुस्थिरोद-
को वा सूदः’—इति दृढस्तमिश्रः । ‘उदकस्योदः सप्रज्ञायाम्
(६, ३, ५७)’ । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१०) उत्सः । उन्पूर्वात् सत्तः सदेः स्यन्देर्वा उप्रत्ययः ।
स्यन्देर्लोपा यादृत्कात् । [उन्देर्वा ‘उन्देर्नलोपश्च’—इति
सप्रत्ययः । उदुगच्छत्यस्मान् जन्मम् । स्यन्दने आर्द्रीक्रियते वा
जलेन । “उत्सं न कश्चिन्नपानमक्षिणम् (ऋ० सं० ७, ५,
२२, ५)”—इति निगमः ॥

व्यत्ययेन । वियोजयत्यर्थैरर्थतः, वियुज्यते वा प्राणैः । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(६) रिहायाः । 'रिह कत्यनादौ'—इति क्षीरस्वामी । 'परस्त्रेकसूत्राधिहायस्'—इत्यादिनामुनि आयुडागमो गुणाभायश्च निपात्यते । रिपुवदर्थः । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(७) तायुः । 'तायु सन्तानपालनयोः (भू० आ०)' । 'छन्दसीणः (उ० १, २)'—इति यादुलकाद् गुणः । पाल्यते यस्मात् सर्वम् । यद्वा, तत्सेरुपक्षगार्थात् पूर्वषट्पुणि यादुलकात् सकारस्य यकारः । 'उपक्षीणोऽसाविह लोके आयुषा, यदा तदा राक्षामारिष्यमाणत्वात्, परलोकेऽपि भ्रमणधर्मकत्वात्'—इति स्कन्दस्वामी । "अपत्ये तायवो यथा (ऋ० सं० १, ४, ७, २)"—उत स्मिन् पत्न्यमधिगं तायुम् (ऋ० सं० ३, ७, ११, ५)"—इति निगमौ ॥

(८) तत्करः । तत्करोतीति विगृह्य दिवाविभानिशाप्रभा (३, २, २१)'—इत्यादिना द्युत्ययः । 'करोति यत् पापकम्'—इति नैरुक्ताः । तच्छब्देन प्रकरणसामान्यादर्थप्राधान्याच्च पापकर्मनिर्देशाप्रमिप्रेतमित्याह—'यत् पापकमिति नैरुक्ताः'—इति । वैयाकरणास्तु शब्दपरत्वात् सामान्येऽप्याहुः 'तद्वृद्धयोः करपत्योश्चौरदेवतयोः सुट् तलोपश्च (६, १, १५७ ग० सू०)'—इति । तनोतेर्वा स्यात् सन्तानकर्मिति सम्मतम् । तच्च सन्ततकर्मत्वं दर्शयति—'दिवा पयि मोषणेन, रात्रौ धञ्छेदनेन'—इति स्कन्दस्वामी । तनोतेः - क्विपि नलोपे

तुकि चत्वंम् । यद्वा, 'त्यजियजितनिभ्यो डित् (उ० १, १३१)'—इति अदिप्रत्यये तत् । कर्मशब्दस्य मकारलोपः । पृषो-
दरादित्यात् रूपम् । "तनूत्यजे घ तस्करा घनगूं (ऋ० सं०
७, ५, ३२, ६)"—"तस्काराणां पतये नमः (य० घा० सं० १६,
२१)"—इति निगमौ ॥

(६) घनगूं । घनशब्दोपपदात् गमेः 'भृगव्यादयश्च (उ० १,
३६)'—इति डुप्रत्ययो रुडागमश्च निपात्यते । तस्करो हि
मोषणार्थं सदा घनं गच्छति । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१०) दुरश्चित् । 'हृच्छा कौटिल्ये (भू० प०)' । क्रिप् ।
'रालोपः (६, ४, २१)'—इति घकारलोपः । 'घिती सप्तशाने
(भू० प०)' । क्रिप् । दुरः कौटिल्यानि घेतयते । यद्वा, हरतेः
'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति विचि गुणः, पृषो-
दरादित्यान् अकारस्योकारः । दुरः अर्थानामाहर्तृन्, घेतयतेः
चिनोतेषां जिप् । दुरः हतानर्थान् सञ्चिनोति । अपिशब्दाद्
अ कर्मणि घिच् । 'तत्पुरुषे कृति यदुलम् (६, ३, १४)'
—इत्यलुक् । "अपप्रोथन्तः सनुतर्हुरश्चितः (ऋ० सं० ७, ४,
२४, ५)"—इति निगमः ॥

(११) मुषीघान् । 'मुष स्तेये (क्या० प०)' । अच् । 'हृदि-
कारादत्तिनः (४, १, ४५ घा०)'—इति टीप् । मुषी मोषणम-
स्यास्ति । 'छन्दसीवनिर्पो (५, २, १२२ घा० २)'—इति पनिप् ।
"मुषीघाणं दुरश्चितम् (ऋ० सं० १, ३, २४, ३)"—इति निगमः । अत्र
'पतोक्षदत्ता चोरो मुषीघान्, प्रत्यक्षदत्ता दुरश्चित्'—इति माधवः ॥

(१२) मलिम्लुचः । मलमस्यास्ति । - 'ज्योत्स्नातमित्रा-
 ऋङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जखलगोमिन्मलिनामलीमसाः - (५, २, ११४)
 —इति मलिनो निपात्यते । म्लुच स्तेयकरणे (भू० प०) ।
 'इगुपयञापीकिरः कः (३, १, १३५)' । मलिमश्चासौ म्लुचश्च
 मलिम्लुचः । पृषोदरादित्वेन नलोपः । निगमोऽन्वेपणीयः ।

(१३) अघशंसः । आङ्पूर्वात् हन्तेः 'अभ्येप्यपि दृश्यते
 (३, २, १०१)'—इति ङः । पृषोदरादित्यात् आङो हस्यत्वं
 हकारस्य धत्वञ्च । शंसेः पचाद्यच् । आहन्ता, घषस्यभावः,
 आशंसमानश्च । "अघशंसस्य कस्यचित् (ऋ० सं० १, ३, २४
 ५)"—इति निगमः ॥

(१४) घृकः । व्याख्यातमृत्विङ्नामसु (३५३ पृ०) । घारको
 सार्गस्य । "यो नः पूषन्नघो घृकः (ऋ० सं० १, ३, २४, २)"
 —इति निगमः ॥

इति चतुर्दश स्तेननामानि ॥ २४ ॥

निण्यम् (१) । सस्यः (२) । सनुतः (३) ।
 हिरुक् (४) । प्रतीच्यम् (५) । अपीच्यम् (६) ।
 इति षट्निर्णीतान्तर्हितनामधेयानि ॥ २५ ॥

(१) निण्यम् । निरुक्तपूर्वात् नयतेः 'अग्न्यादयश्च (उ०
 ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययप्रिलोपो रेफलोपश्च निपात्यते ।
 निर्णीतं बहिर्नीतम्, निर्गतमन्तर्हितं वा । "वृत्रस्य निण्यं वि-

चरन्त्यापः (ऋ० सं० १, २, ३७, ५)—“निण्यः सत्र द्वौ मनसा
चरामि (ऋ० सं० २, ३, २१, २)”—इति निगमौ ॥

(२) सस्यः । सम्पूर्वात् स्वरस्तेर्गतिकर्मणो विचि रपरगुणः ।
समोऽन्तलोपः । सम्यगन्तर्गतं चिनिर्गतं वा । “सस्यर्हं यन्म-
स्तो गोतमो घः (ऋ० सं० १, ६, १४, ५)”—“यत् सस्यर्त्ता
जिह्विष्वरे यदाचिः (ऋ० सं० ५, ४, २८, ५)”—इति निगमौ ॥

(३) सनुतः । (४) हिरक् । स्वरदिः । “सनुतर्द्धि तं
ततः (ऋ० सं० ६, ६, ३६, ३)”—“य इं ददर्श हिरुगिष्ठु
त्स्मात् (ऋ० सं० २, ३, २०, २)”—इति निगमौ ॥

(५) प्रतीच्यम् । (६) अपीच्यम् । अपीच्यमपगतमपचितम्
(नि० ४, २५)—इत्यादिभाष्ये ‘प्रत्यपचिनं स्थितम्’ इति
स्कन्दस्यामी । प्रतिपूर्वात् अपमात्रपूर्वाच्च चिनोतेः अप्रत्यादि-
त्वात् यप्रत्यपष्टिलोपादि च निपात्यते । प्रतीच्यस्य निगमोऽ-
न्येवर्णीयः ॥ “नाम त्वष्टुरपीच्यम् (ऋ० सं० १, ६, ७, ५)”—
“(य उक्षाणामपीच्याश्च (ऋ० सं० ६, ३, २६, ५)”—
इति निगमौ ॥ ‘य उक्षाणामपीच्या’—इत्यत्र ‘अपिपूर्वादञ्जतेः
‘अत्थिगित्यादिना (३, २, ५६)’ किन्प्रत्ययः, ततो ‘भवे छन्दसि
च (४, ४, ११०)’—इति यत्, ‘अचः (६, ४, १३८)’—इत्यकार-
लोपः’ ‘चौ (६, ३, १३८)’—इति पूर्वपदस्य दीर्घः । ‘अपीच्योऽ-
प्रकाशः’—इति भट्टमास्करमिधः ॥

इति षट् निर्णीतान्तर्हितनामानि ॥ २५ ॥

आके (१) । पराके (२) । पराचैः (३) ।
आरे (४) । परावतः (५) । इति पञ्च दूरना-
मानि ॥ २६ ॥

(१) आके । (२) पराके । आङ्पूर्वात् परापूर्वाच्च एते
'पिनाकादयश्च (उ० ४, १५)'—इति आकप्रत्ययो धातुलोपश्च
निपात्यते । यद्वा, आङ्पूर्वात् परापूर्वाच्च किरतेः 'अन्येष्वपि
(३, २, १०१)'—इति डः । आकीर्णं पराकीर्णं च तद् विक्षिप्त-
मिव भवति आके निगमोऽन्वेपणीयः ॥ "क्षयन्तमस्य रजसः
पराके (ऋ० सं० ५, ६, २५, ५)" —इति निगमः ॥

(३) पराचैः । 'नीचैरिति घट्जन्यं पराचैः'—इति भट्ट-
भास्करमिश्रः । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(४) आरे । अव्ययम् । "न हि त्वदारै निमिषश्च नैशेः
(ऋ० सं० २, ७, १०, १)" —इति निगमः ॥

(५) परावतः । ईर्यतेर्यहतेर्गतिकर्मणो वा संसाधनेऽर्थे
घर्त्तमानात् प्रोपसर्गात् परोपसर्गाद्धा 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे
(५, १, ११८)'—इति वतिः । पृषोदरादित्यात् प्रशब्दस्य
पराभावः । प्रकर्षेण ईरति विक्षिप्तं परागतमिव वा तद् भवति ।
"परावतं परमां गन्तवा उ (ऋ० सं० ८, ५, ३, ४)" —
"ससारसीं परावतः (ऋ० सं० ३, ६, २१, १)" —इति निगमो ॥

इति पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

प्रज्ञम् (१) । प्रदिवः (२) । प्रवयाः (३) ।
सनेमिं (४) । पूर्व्यम् (५) । अह्नाय (६) । इति
षट् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

(१) प्रज्ञम् । 'नञ्च पुराणे प्रात् (५, ४, २५ वा० २)'—
इति नप्रत्ययः । "सम् प्रज्ञया पूर्व्या विश्वयेमथा (ऋ० सं०
४, २, २३, १)"—इति निगमः ॥

(२) प्रदिवः । "यदीमनु प्रदिवः (ऋ० सं० २, २, ८, ३)"
—इत्यत्र पुंलिङ्गद्विवचनान्तेन, "क्षत्रं राजाना प्रदिवः (ऋ० सं०
३, २, २३, ५)"—इत्यत्र, षष्ठ्येकवचनान्तेन, "इन्द्राय सोमाः
प्रदिवः (ऋ० सं० ३, २, १६, २)"—इत्यत्र प्रथमाबहुवचनान्तेन
च प्रदिव इत्येव सामानाधिकरण्यदर्शनात् सकारान्तमेतदव्यय-
मित्याहुः । इन्द्रार्थत्येनानादिकालप्रवृत्ता इत्यभाषयत् । तेन
प्रगतानि दिनान्यस्य पृथोदरादित्वाप्रकारस्य प्रकारः इत्यादि
प्युत्पत्तिः । निगमेषु घचनव्यत्ययध्याश्रयणीयः ॥

(३) प्रवयाः । प्रगतं घषो यस्य । घयः कालमात्रमत्र ।
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) सनेमि । अव्ययम् । "सनेम्यम्मशुययग्रमीचाः (ऋ० सं० ५,
४, ५, ७)"—"सनेमि सस्यं स्वयस्यमानः (ऋ० सं० १, ५, २, ४)"—
"सनेम्यम्य मस्तो जुनन्ति (ऋ० सं० २, ४, ८, ३)"—इति निगमः ॥

(५) पूर्व्यम् । 'पूर्वं पूरणे (मू० १०)' । पनाचन् (३, १,
१३४) । घयःप्रवृत्तिं पूरयतीति, पूर्व्यस्मिन् काले भयं पूर्व्यम्

‘भवे छन्दसि (४, ४, ११०)’—इति यत् । यद्वा, ‘पूर्वः कृत-
मिनयौ घ (४, ४, १३३)’—इति यः । “पूर्व्यहोतरस्य नः
(ऋ० सं० १, २, २०, ५)” —“यः स्तोमेभिर्वावृधे पूर्व्येभिः
(ऋ० सं० ३, २, ११, ३)” —इति निगमो ॥

(६) अन्हाय । अव्ययम् । निगमोऽन्येषणीयः ॥

इति पद् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

नवम् (१) । नूतम् (२) । नूतनम् (३) ।
नव्यम् (४) । इदा (५) । इदानीम् (६) । इति पडेव
नवनामानि ॥ २८ ॥

(१) नवम् । यद्वा, ‘णु स्तुतौ (अदा० प०)’ । ‘ऋदोरप्
(३, ३, ५७)’ । नूयते स्तूयते, अक्षिरुतत्वेन रमणीयत्वा-
दिति । “नयेन पूर्वं दयमानास्य” —इति निगमः ॥

(२) नूतम् । नीतेरेव । ‘शस्त्रास्त्रा (उ० ३, १३)’ —
इत्यादिना नप्रत्ययो दीर्घश्च निपात्यते । “नूताऽइविन्द्र
ते घयमूती (ऋ० सं० ६, २, २, २)” —इति निगमः ॥

(३) नूतनम् । नवस्य नू—आदेशः ‘घतनतनयस्याश्च प्रत्यया
घतल्याः (५, ४, २५ घा० १)’ —इति सनप्प्रत्ययः । “इड्यो
नूतनेस्त (ऋ० सं० १, १, १, २)” —इति निगमः ॥

(४) नव्यम् । नवमेव नव्यम् । ‘शाखादिभ्यो यत्
(५, ३, १०३)’ —इति स्वार्थे यत् । यद्वा, नीतेः ‘अचो
यत् (३, १, ६७)’ —‘घान्तोयि प्रत्यये (६, १, ७६)’ ।

“इन्द्राग्नी स्तोम जनयामि नयम् (ऋ० सं० १, ७, २८, २)”
—इति निगमः ॥

(५) इदा । ‘तयोदांहिलौ च छन्दसि (५, ३, २०)’—इति
इदंशब्दात् सप्तम्यन्तात् दाप्रत्ययः । “इदा हि व उपस्तुतिम्
(ऋ० सं० ६, २, ३३, १)”—इति निगमः ॥

(६) इदानीम् । ‘दानीञ्च (५, ३, १८)’—इति तस्मादेष
दानीप्रत्ययः । “इदानीमहऽउपघाच्यो नृभिः (ऋ० सं० ३,
८, ५, १)”—इति निगमः ॥

इति षडेव नवनामानि ॥ २८ ॥

प्रपित्वे (१) । अभीके (२) । दध्रम् (३) ।
अर्भकम् (४) । तिरः (५) । सतः (६) । त्वः (७) ।
नेमः (८) । ऋक्षाः (९) । स्तृभिः (१०) । वघ्नीभिः
(११) । उपजिह्विका (१२) । ऊर्दरम् (१३) ।
कृदरम् (१४) । रम्भः (१५) । पिनाकम् (१६) ।
मेना (१७) । म्नाः (१८) । शेषः (१९) । वेतसः
(२०) । अया (२१) । एना (२२) । सिपक्तु (२३) ।
सचते (२४) । भ्यसते (२५) । रजते (२६) । इति
पञ्चविंशतिर्दिश उत्तराणि नामानि ॥ २९ ॥

। प्रपित्वे इत्यादीनि भाष्यकारेणैव निरुक्तानि (निरु० ३, २०, २१) ॥ २६ ॥

स्वधे (१) । पुरन्धी (२) । धिपणे (३) ।
रोदसी (४) । क्षोणी (५) । अम्भसी (६) । नभसी
(७) । रजसी (८) । सदसी (९) । सदुमनी (११) ।
घृतवती (११) । बहुले (१२) । गभीरे (१३) ।
गम्भीरे (१४) । ओण्यौ (१५) । चम्बौ (१६) ।
याश्वौ (१७) । महौ (१८) । उर्वौ (१९) । पृथ्वी
(२०) । अदिती (२१) । अही (२२) । दूरेअन्ते
(२३) । अपारे (२४) । अपारे इति चतुर्विंश-
तिर्यावापृथिवीनामधेयानि नामधेयानि ॥ ३० ॥

। उर्व्यूहन्महद्गयइरज्यतिशिम्वातानिर्णि-
गस्त्रेमाकेतुर्वट्चिक्रयद्धिकमिदमिवाचर्चतिविप्रोरे-
भोयज्ञोभरताईमहेदाति परिस्रवस्वपितिकूपस्तु-
पुर्निण्यमाकेप्रलन्नवम्प्रपित्वेस्वधे त्रिंशत् ॥

इति निघण्टौ तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

(१) स्वधे । व्याख्यातमन्त्रनामसु (१४५ पृ० । २२५ पृ०) ।
स्वेनात्मना भूतग्रामं धारयतः, स्वं घनं धीयते, अन्योरिति
षा । द्यावापृथिवीनामसु सर्वत्र द्विवचनान्तत्वम् । तथाच,
“आहु द्रुघाते मिथुनानि नाम (ऋ० सं० ३, ३, २४, २)”—
इत्यत्र, स्कन्दस्यामी—‘मिथुनानि द्विवचनसंयुक्तानि नामानि
‘स्वधे पुरन्धी’—इत्यादीनि स्तोतव्यः’—इति ॥

(२) पुरन्धी । पुराणि धीयन्तेऽनयोः । ‘कर्मण्यधिकरणे
च (३, ४, ६३)’—इति किगत्ययः । पृषोदरादित्वान्मकार उप-
जनः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) धिपणे । व्याख्यातं द्याङ्नामसु (१०८ पृ०) । स्व
रक्षितुं प्रगल्भे समर्थं, धारयिष्यी वा देवमनुष्यादीन्, शक्यते
स्तूपते वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) रोदसी । ‘इतीदमस्ति स्त्रीलिङ्गद्विवचनान्तम्,
द्यावापृथिव्योर्यत्तमानं चास्ति नपुंसकद्विवचनान्तम्, अस्ति
चाव्ययम् । तत्र निगमानां साधारण्यान् तेषां प्रपाणामपि
साधारणोऽयं पाठः’—इत्याहुः । ‘प्रस्तरस्यापि विभुघात्,
“रोदस्यो रोदसी च ते”—इत्यत्र भाव ईवन्तो द्विवि भुवि च
पतन्ते, अन्त्यः सान्तः’—इति क्षीरस्वामी । तत्र रघेरसुनु,
पृषोदरादित्वात् धकारस्य दकारः, स्त्रीलिङ्गे तु ‘उगितश्च (४,
१, ६, १)’—इति ङीप्, ‘वा छन्दसि (६, १, १०६)’—इति पूर्व-
सर्पणः । आभ्यां हि विविधं रुद्धानि सर्वभूतानि । “नमो
दिवे द्युहते रोदसीभ्याम (ऋ० सं० २, १, २६, ६)”—“होतारं

सत्ययजं रोदस्योः (ऋ० सं० ३, ४, २०, १)”—“इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे (ऋ० सं० ३, २, १, ५)”—इति निगमाः ।
 “विपितस्तुका रोदसी नृमृणाः (ऋ० सं० २, ४, ४, ५)”—इत्यादीं
 अन्तोदात्तो रोदसीशब्दो रुद्रपत्नीचचनः—इति माधवः ।

(५) क्षोणी । व्याख्यातं पृथिवीनामसु (३१७ पृ०) । “अयः क्षोणी सञ्चते माहिना घाम् (ऋ० सं० २, ४, २३, ५)”—इति निगमः ।

(६) अम्भसी । व्याख्यातमुदकनामसु (११७ पृ०) । याहु-
 लकावत्रापि नुम् । यद्वा, अम्भ उदकमनयोरस्ति, मत्पर्यो-
 यस्य लुक् । एकत्राघशिष्टमपरत्राघशिष्यमाणमादित्यमण्डल-
 स्थम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(७) नमसी । ‘णह कन्धने (दि० उ०)’ । ‘नहेर्दिवि भश्च (उ० ४, २००)’—इति असुन् । साहचर्यात् उमे अपि नमः-
 शब्देनोच्यते । सम्बध्यते पुण्यघट्टिः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(८) रजसी । ‘रज्ज रागे (भू० उ०)’ । ‘भूरज्जिभ्यां कित् (उ० ४, २११)’—इत्यसुन् । ‘रजकरजनरजसीनि घां नलोपः,
 रजके स्यगुणे भूतानां ‘रजोरजतेर्गतिकर्मणः’—इति माधवः ।
 गम्यते पुण्यघट्टिः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(९) सदसी । सदेरसुन् । सीदन्त्यनयोर्दघमनुप्यादयः ।
 निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१०) सद्गानी । सदेरेव गनिन् । “पुराण्योः सद्गानोः
 केतुरन्तः (ऋ० सं० ३, ३, २८, २)”—इति निगमः । भाष्यं
 द्रष्टव्यम् ॥

(११) घृतचती । उदक्चत्यौ । निगमोऽन्वेयणीयः ॥

(१२) बहुले । 'बंहिष्ठः'—इति महन्नामसु व्याख्यातम्
(३१२ पृ०) बहुभिः पदार्थैस्तदुच्यौ । "उर्वो पृथ्वी बहुले दूरे-
भन्ते (ऋ० सं० २, ५, ३, २)"—इति निगमः ॥

(१३) गर्भीरे । (१४) गम्भीरे । व्याख्याते षाड्नामसु
(१६ पृ०) । गम्यते सत्पुरुषैः, प्रतितिष्ठन्त्यनयोर्द्विधमनुप्या-
दयः । निगमाद्यन्वेयणीयो ॥

(१५) भोण्यौ । 'भोण्टु अपनयने (भू० प०)' । 'इन् सूर्य-
घातुभ्यः (उ० ४, ११४)' । 'हृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५
पा०)'—इति ङीप् । अपनयतः स्याश्रितानां हेशान् ।
यदुवा, अघतेर्लुटि, छान्दसत्वात् सगप्रसारणो गुणश्च, टिप्पात्
ङीप् । "अभि ह्यं द्वेधं सवितारमोण्योः (य० वा० सं० ४,
२५)"—इति निगमः ॥

(१६) चर्म्यौ । 'चमु अदने (भू० प०)' । 'हृषिचमित्त-
निधनिसर्जिस्पर्जिभ्य ऊः (उ० १, ७८)'—इति ऊप्रत्ययः ।
चमन्त्यनयोः । "उत्तानयोश्चर्म्योश्चोर्निरुतः (ऋ० सं० २,
३, २०, ३)"—इति निगमः ।

(१७) पाश्व्यौ । 'स्पृश संस्पर्शने (तु० प०)' । 'स्पृशे श्वष्-
शुर्नो पृ च (उ० ५, २७)'—इति श्वष्प्रत्ययो घातोः पृमाघश्च ।
णित्पाद्वृद्धिः ध्यत्ययेन पुहिङ्गता । "पाश्वे"—इति पाठान्तरम् ।
संस्पृशतो ध्याप्नुतः सप्तान् पदार्थान् । निगमोऽन्वेयणीयः ॥

(१८) मदी । एतदानीं चत्वारि पृथिर्विनामसु व्याख्यातानि

(३२ पृ०) । महर्ष्यो पूजनीये वा । “वेपेते मियस्ता मही
(ऋ० सं० १, ५, ३१, १)” —इति निगमः ॥

(१६) उर्वी । विस्तीर्णे, आच्छादयित्र्यौ वा स्वर्गाधःस्थि-
तलोकस्य । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२०) पृथ्वी । प्रथिता विस्तारिता ब्रह्मणा सृष्टिकाले ।
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२१) अद्विती । देवमनुष्यादिसकलप्रपञ्चधारणेऽप्यदीनि
इत्यर्थः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२२) अही । मेघनामसु गोनामसु च व्याख्यातम् (८७ पृ० ।
२४५ पृ०) । गम्यते प्राणिभिः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२३) दूरेअन्ते । दुःशब्दोपपदात् एतेः ‘दुरीणो लोपश्च
(उ० २, १८)’ —इति रक्प्रत्ययो धातोर्लोपश्च । ‘रोरि (८,
३, १४)’ —इति रेफलोपः, लोपे पूर्वस्य दीर्घः (६, ३, १११) ।
‘अन्तो अततैः (निरु० ४, २५)’ —इति भाष्यम् । तत्र यादुल-
कात्तन् मकारश्चान्तादेशः । ‘दु.खेन गम्यते दूरमतोऽह्यादेर्मध्याद्य
सततगती भवति, न कदाचिदादौ मध्ये वास्ति’ —इति स्कन्द-
स्वामी । दूरे अन्तमवसानगतित्थयोः । ‘तन्पुरुषे हति षडुलम्
(६, ३, १४)’ —इत्यलुक् । “समान्या चियुते दूरेअन्ते (ऋ० सं०
३, ३, २५, २)” —इति निगमः ॥

(२४) अपारे । ‘पार तीर कर्मसमाप्ता’ जुहोत्यादिरदन्तः ।
घञ् । समाप्तिरिति वा समाप्यतेऽनेनेति वा पारः । ‘अपारे
दूपारे (निरु० ६, १)’ —इति भाष्ये । ‘अधिचमानं पारमन्तं

ययोः ते अपारे । दूरत्वेन परामवं दर्शयति पुराणदृष्ट्या वा
लोकपर्यन्तताम्—इति स्कन्दस्वामी । निगमोऽन्वेयणीयः ॥

अध्यायपरिसमाप्तिस्त्वकद्विर्धनमिति सिद्धम् ॥

इति देवराजयज्वधिरचिते नैघण्टुककाण्डनिर्यचने

तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति नैघण्टुकं नामाद्यं काण्डं समाप्तम् ॥

—००—

(नैघण्टुक-टीका-परिशिष्टम्)

म्यरादीनीति पूर्वेमुक्तस्य प्रकरणत्रयस्य (५१ पृ०, ३३५ पृ०,
३७१ पृ०), निगमदेवताकाण्डयोश्च निर्यचनं भाष्यस्कन्दस्या-
मिभ्यां प्रदर्शितं तदत्र प्रमेण लिख्यते । तत्र, निगमव्याख्यानादि
यदयाननुमंदिनं, तन् तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥

(१) म्यः । सुपूर्वावर्त्तरीरयतेषां 'भान्येभ्योऽवि दृश्यन्ते
(३, २, ७५)'—इति चित्ति दृशिग्रहणस्य प्रयोगानुसरणार्थत्वाद्-
कर्ताप्यपि भवति । ईर्यतेरिफारस्याकारो व्यत्ययेन, गुणः ।
'म्यरादिनिपातप्रथमम् (१, १, ३०)' सुपो लुक् (२, ४, ७१),
रेफस्य विसर्जनीयः (८, ३, १५) । शोभनमरणं गमनं सुप्ताय
दिताय वा यस्य, शोभनं वा प्रेरणं तमसां यस्य, सुप्तं वा

कृतो रश्मिभिः रसानादातुम्, भासं वा ज्योतिषां नक्षत्रादीनां, भासा सुष्ठु कृतः प्राप्त इति वा, स्वरादित्यः दीप्तश्च । सु सुष्ठु शोभनमरणमस्यांशरूपैर्वा पुण्यचद्विर्य्यते, सुष्ठु वा पुण्यकृत ईरयति स्मृतो रसैः स्मृतो भाभिर्ज्योतिषा, स्वयमेव वा दीप्तम् । “भूर्मुघः स्मृः (य० वा० सं ३, ३७)”—इति दिव उदाहरणम् । “ए भिर्नो अकर्मवानो अर्षाश्च स्वर्णं ज्योतिः (ऋ० सं० ३, ५, १०, ३)”—इत्यादित्यस्य ॥

(२) पृश्निः । प्रपूर्वादधोर्तेः स्पृशतेर्वा ‘घृणिपृश्निपाणि-घूर्णिभूर्णि (उ० ४, ५२)’—इति निप्रत्ययः, प्राशोः स्पृशेच्च पृशभाषो निपात्यते । प्राशनुत एनं शुक्रो घर्णः संस्पृष्टा रसान् । कृतव्याख्यानमन्यत् पूर्वण । संस्पृष्टा भासं ज्योतिषामस्पृष्टो भासेति वा पृश्निरादित्यः । दीप्स्तु संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्य-कृद्विधौ ‘सुकृतां वा गतानि ज्योतीन्पि यदक्षत्राणि (ऋ० सं० १, ४, ७, २, मा० भा०)’—इति श्रुतेः । “पृश्नेः पुत्रा उप-मासो रभिष्टाः (ऋ० सं० ४, ३, २३, ५)”—इति निगमो दिवः । “अयं येनश्चो दयत्पृश्निगर्भाः (ऋ० सं० ८, ७, ७, १)”—इत्यादित्यस्य ॥

(३) नाकः । नयतेः ‘पिनाकादयश्च (उ० ४, १५)’—इत्या-कप्रत्ययष्टिलोपश्च निपात्यते । नेता रसानाम्, नेता भासा-मात्मीयानाम्, ज्योतिषां प्रणायकश्चादित्यः । दीप्स्तु, कमिति सुपताम, न कम् अकम् असुखम्, न अकं यत्र स नाकः । ‘नभ्राभ्रपाभ्रवेदा (६, ३, ७५)’—इत्यादिना नभ्रः प्रकृतिभावः ।

“न घा अमुं लोकं अगमुषे किञ्च नाकम् (निरु० २, १४)”—
इति ग्राहणम् । अत्यन्तसुखमित्यर्थः । “नाकस्य पृष्ठे
अधितिष्ठति धितः (ऋ० सं० २, १, १०, ५)”—इति
द्विषः । तत्र अधि नाके अस्मिन् (ऋ० सं० ८, ७, १८, २)—
—इति निगम आदित्यस्य ॥

(४) गौः । व्याख्यातं पृथिवीनामसु (२७ पृ०) । गमिर-
भ्रान्तर्णोतण्यर्थः । गमयति रसान् मण्डलं प्रति रश्मिभिः,
गच्छति धान्तरिक्षे इति गौरादित्यः । यत् पृथिव्या उपरि
दूरं गता, यद्वास्यां ज्योतीषि गच्छन्तीति गौः द्यौः । “गवा-
मभि गोपतिरेक इन्द्र (ऋ० सं० ५, ६, २३, ६)”—इति
द्विषः । “उ तादः परसे गवि (ऋ० सं० ४, ८, २२, ३)”—
इत्यादित्यस्य ॥

(५) विष्णुः । ‘एभि प्रतिबन्धे (ऋ० सं० ५०)’ । विष्णु-
र्वात् किपि भकारस्य वकारो व्यत्ययेन । विष्टम्भिराविशते-
ऽर्थे पक्ष्मने । यद्वा, विशिरेष यादुलकाद्रूपसिद्धिः । पृथिवीतो
रसानादातुमाधिष्टोऽभिनिविष्ट इत्यर्थः । एषमेष भासं ज्योतिर्वा
भासा धाविष्टो व्यासः आदित्यः । द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्य-
वृद्धिश्च । “उयद्ग्रन्थस्य विष्टम् (ऋ० सं० ६, ५, ६, १)”—
इत्यायुदाहरणम् ॥

(६) नभः । नयतेरसुनि शुणे ‘नयः’ इति स्थिते यादुल-
कात् यकारस्य मकारः । नाकनाभ्येन समानोऽर्थः । अथवा
भासनशब्दस्य हसत्वं, सकारलोपः, मकारयकारयोश्च, स्थान-

धिपर्य्ययः, सान्तत्वञ्च । सर्वत्र सूत्रप्राप्त्यनूक्तौ वृषोदरादित्वात्
 द्रष्टव्यम् । यद्वा, न भाति 'नमः' । असुनि भातेष्टिलोपश्च ।
 एतेन द्यौर्व्याख्याता । “ज्योतिष्मति प्रतिमुञ्च ते नमः”—“स्वर्ज-
 ज्ञानोनमसा (ऋ० सं० ७, ३, १४, ५,)”—इत्युदाहरणम् ॥

इति षट् साधारणानि दिघञ्चादित्यस्य ॥ १, ४ ॥

इदमाद्युपमानामानि । भाष्यकारेण स्कन्दस्वामिना च
 विस्तरेण व्याख्यातानि (निट० ३, १३—१८) । निपातप्राय-
 स्त्वात् शब्दनिर्घचनस्यावक्तव्यत्वात् उदाहरणमात्रमत्र प्रद-
 श्यते ।—

(१) इदमिव । (२) इदं यथा । अत्र इदंशब्द उपमान-
 शब्दसन्निधानाय प्रयुक्तः । इषादयश्च निपाताः पराश्रयस्यो-
 पमानत्वस्य धर्मस्य प्रतिपादनार्थाः । “इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठा
 (ऋ० सं० ८, ८, ३१, २)”—“यथा घातो यथा घनम् (प्र० सं०
 ४, ४, २० ४)” ॥

(३) अग्निर्न ये । अत्र नशब्द उपमानार्थः । “अग्निर्न ये
 साजसा रयमवक्षसः (ऋ० सं० ८, ३, १२, २)” ॥

(४) “चतुरधिददमानात्” (ऋ० सं० १, ३, २३, ४) ।
 अत्र चिच्छब्दः ॥

(५) “ब्राह्मणा घतचारिणः (ऋ० सं० ५, ७, ३, १)” ।
 उपमाप्रतिपादनेनादिलोपाल्लुप्तोपमः ॥

(६) “वृक्षस्य तु ते पुरुषत घयाः (ऋ० सं० ४, ६, १७, ३)” । अत्र नृशब्दः ॥

(७) जार आ भगम् । उदीरय पितरा जार आ भगम् (ऋ० सं० ७, ६, १०, १)” । अत्र आकाट ॥

(८) “मेरो भूतो ३ मि यन्नयः (ऋ० सं० ५, ७, २४, ५)” । अत्र भूतशब्देनोपमोच्यते ॥

(९) तद्रूपः । (१०) तद्वर्णः । रूपशब्देन वर्णशब्देन चोत्तरपदेन समासादुपमा प्रतीयते ॥

(११) तद्वन् । पूर्ववत्तच्छब्दस्यार्थः । “प्रियमैधवदप्रियत् (ऋ० सं० १, ३, ३१, ३)” । तेन तुल्यं क्रियाच्चेद घतिः (५, १, ११५) ॥

(१२) तथा । तत्प्रज्ञया पूर्वथा पिश्ययेमथा (ऋ० सं० ४, २, २३, १)” । प्रज्ञपूर्वविश्वेमात् थाल् छन्दसि (५, ३, १११)” —इति इषार्येऽयं थाल् पिहितः ॥

इति द्वादशोपमानामानि ॥ ३, १३ ॥

“तथा”—इत्यस्वानन्तरं “सिंहः”—इति केषुचित् सोरोरु इष्यते, तत्र घटनीयम्, अथ लुप्तोपमानि (निद० ३, १८)—इत्यादिभाष्यस्य तु “प्राह्वणा यतनारिणः (५)” —इति पूर्वमुक्तस्य लुप्तोपमास्य प्रपञ्चत्वान् ॥

(१) प्रपित्वे । (२) भ्रमोक्ते । इत्यासन्नम्य । प्रपूर्वादाप्नोते-निष्ठायां प्राप्ताशब्दस्य प्रपित्वभाषः । यथा, ‘इत्यनादयोऽन्येभ्योऽपि ह्रस्वन्ते’—इतीत्यनप्रत्यये पादुलकादाप्नोनेराकारलोपः । पितृशब्द

आसन्नार्थः । प्रकृष्टदेशकालयोः प्राप्तिः प्रपित्वे इति ॥ अभिपूर्वा-
दञ्जतेः 'अलीकादयश्च (उ० ४, २५)—इतीकन्प्रत्ययो धातुलोपश्च
निपात्यते । अभ्यक्ते आसन्ने इत्यर्थः । सोपसर्गो सप्तम्यन्ती
यथादृष्टापिति षडितौ ॥ "आपित्वे नः प्रपित्वे तूय मागहि
(ऋ० सं० ५, ७, ३०, ३)"—"अर्भके चिदु लोककृत् (ऋ० सं०
८, ७ २१, १)"—इत्यपि निगमौ ॥

(३) दन्नम् । (४) अर्भकम् । इत्यल्पस्य । दन्नमिति
दम्नोतेर्धन्धकर्मणः 'स्फायितश्चि (उ० २, १२,)'—इत्यादिना
रक्, 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति नलोपः । सुदम्नं
सुच्छेदम् अक्षयत्वात् ॥ हरतेः 'अर्भकश्च पृथुकपाका घयसि'
—इति कप्रत्यये, हकारस्य मकारे गुणे रपरत्वे अकारे ओप-
जने च अर्भकमिति निपात्यते । अथद्वृतमूनपरिमाण इत्यर्थः ॥
"मा मे वज्राणि मन्यथाः (ऋ० सं० २, १, ११, ७)"—"नमो
महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः (ऋ० सं० १, २, २४, ३)" ॥

(५) तिरः । (६) सतः । इति प्रातस्य । अप्रातस्येत्यपरः
पाठः । तस्तेरसुनि बाहुलकादकारस्येकारः । तीर्णं प्रात-
मागतम् ॥ सत्तेरसुनि रेफस्य वकारः । सतः संसृतम् ॥
अप्रातस्येति पाठे पराजितं तरणं सरणं च द्रष्टव्यम् ॥ "तिर-
धिर्दय्या परि (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)"—"पात्रेचभिन्दन्तसत
एति रक्षतः (ऋ० सं० ५, ७, ६, १)" ॥

(७) त्वः । (८) नेमः । इत्यर्द्धस्य । अर्द्धशब्दोऽत्र सम्प्र-
धिभागवचनः, अर्द्धं हरते इति नपुंसकनिर्देशात् । त्वः अप-

गतः अपेत्य समुदायान् गतः पृथग्भूतः । तनोतेऽपधायाः
पूर्वं उकारः, यणादेशः, नकारस्य विसर्जनीयः इति स्कन्द-
स्वामी । तनोतेः 'सर्वनिघृष्वरिष्वलष्व (उ० १, १५१)'
इति घन्प्रत्ययप्रिलोपो निपात्यते ॥

नेमशब्दोऽघ्ननामसु व्याख्यातः (२२५ पृ०) । सर्वादिरयम् ।
समुदायादघनीतः पृथग्भूत इत्यर्थः ॥ "पीयति त्वो अनुत्यो
गृणाति (ऋ० सं० २, २, १६, २)" — "प्र नेमस्मिन् ददृशे
सोमो अन्तः (ऋ० सं० ८, १, ६, ५)" ॥

(६) ऋक्षाः । (१०) स्तुमिः । इति नक्षत्राणाम् । ऋष
गर्तो (तु० प०) । ऋषेः 'इगुपधात् कित् (उ० ४, ११६)' —
इति फिदिन्प्रत्ययः । ऋषिरत्र उदर्यचिशिष्टः । उद्गतानि
ऊर्ध्वमीरितानीच प्रकाशन्ते ॥ 'स्तुम् आच्छादने (ऋ०
उ०)' । कर्मण्यौणादिकः क्तिप्, यादुलकास्तुग् न भयति ।
तीर्णानि प्रसारितानि विस्तीर्णानि च प्रकाशन्ते हि । तस्य
पाठो यथादृष्टम् ॥ "अमी य ऋक्षा निहिता स उच्चा (ऋ०
सं० १, २, १४, ५)" — "पश्यन्तो यामिव स्तुमिः (ऋ० सं० ३,
५, ६, ३)" ॥

(११) पप्रोमिः । (१२) उपजिह्वा । इति सीमिका-
नाम् । पप्रशब्दो हम्बनामसु व्याख्यातः (३०४ पृ०) । 'जाते-
ग्नोविषयान् (४, १, ६३)' इति डीप् । जातिशब्दधायं
रूपसंयुक्तो लोके लीलितो प्रसिद्ध इति स पठितः ॥ पसन्ति
हि ते मृदमुपजिह्विकाः । 'शेषयज्ञिहा (उ० १, १५२)' — इति

आसन्नार्थः । ग्रहणदेशकालयो. प्राप्तिः प्रपित्वे इति ॥ अभिपूर्वा-
दञ्जते: 'धलीकादयश्च (उ० ४, २५)—इतीकनप्रत्ययो धातुलोपश्च
निपात्यते । अभ्यक्ते आसन्ने इत्यर्थः । सोपसर्गो सप्तम्यन्तौ
यथादृष्टाविति षष्ठितौ ॥ "आपित्वे नः प्रपित्वे तूय मागदि
(ऋ० सं० ५, ७, ३०, ३)"—"अमीके खिदु लोकदृत् (ऋ० सं०
८, ७ २१, १)"—इत्यपि निगमौ ॥

(३) दन्नम् । (४) अर्मकम् । इत्यल्पस्य । 'दन्नमिति
दन्मोतेर्वधकर्मणः 'स्फायितश्चि (उ० २, १२,)'—इत्यादिना
रक्, 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति नलोपः । सुदम्भं
सुच्छेदम् अल्पत्वात् ॥ हस्ते: 'अर्मकञ्च पृथुकपाफा घयसि'
—इति कप्रत्यये, हकारस्य भकारे गुणे रपरत्ये अकारे ओप-
जने च अर्मकमिति निपात्यते । अयहतमूनपरिमाण इत्यर्थः ॥
"मा मे दन्नाणि मन्यथा: (ऋ० सं० २, १, ११, ७)"—"नमो
महद्बुभ्यो नमो अर्मकेभ्यः (ऋ० सं० १, २, २४, ३)" ॥

(५) तिरः । (६) सतः । इति प्राप्तस्य । अप्राप्तस्येत्यपरः
पाठः । तस्तेरसुनि बाहुलकादकारस्येकारः । तीर्णं प्राप्त-
मागतम् ॥ सर्वेत्सुनि रैफस्य वकारः । सतः संसृतम् ॥
अप्राप्तस्येति पाठे पराजितं तरणं सरणं च द्रष्टव्यम् ॥ "तिर-
श्चिर्दर्यया परि (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)"—"पात्रेचभिन्दन्त्सत
एति रक्षसः (ऋ० सं० ५, ७, ६, १)" ॥

(७) त्वः । (८) नेमः । इत्यर्द्धस्य । अर्द्धशब्दोऽत्र सम्य-
चिभागवन्ननः, अर्द्धं हरते इति नपुंसकनिर्देशात् । त्वः अप-

सामान्येन । “यद्यततघन्वा पिनाकावसः कृतिवासाः (य०
वा० सं० ३, ६१)” ॥

(१७) मेना । (१८) ग्नाः । इति खीणाम् । उभावपि
शब्दौ व्याख्यातौ घाङ्गनामसु (६३ पृ० । १०७ पृ०) । नामयन्ति हि
ताः पतिश्वशुरमातुलादयः पूज्या भूपयितव्याद्येति स्मर-
णात् । गच्छन्त्येना शपत्यार्थिनः । “अमेनांश्चिज्जनियतश्च-
कर्ध (अ० सं० ४, १, २६, २)”—“ग्नास्त्याहन्तं तपसोऽत-
न्वत (ता० प्रा०)” ॥

(१९) शेषः । (२०) चैतसः । इति सुप्रजननस्य । शेषः—
सपतेरसुनि घाङ्गुलकात् सशब्दस्य शेषावः । स्पृशत्यनेन
खीन्द्रियम् । तदेतुतश्च पिशिष्टानन्दलक्षणं खीमुखं सश-
शब्देनोच्यते । त्वगिन्द्रियस्पर्शमात्रकं शेषमित्युदाहरणेऽफा-
रान्तत्वेन दर्शनात् करणे घञ्भट इति केचित्, सकारलोपो
या तत्र द्रष्टव्यः । यद्यपि ‘वृक्षीभ्यां रुपस्वाङ्गयोः पुद् च
(३० ४, १६६)’—इति शीङः असुनात्तमेन कश्चिच्छेपः
सिध्यति तथापि तत्रार्थान्नाचित्यात् “मुष्कयोर्दधात् सपः”
—“मुष्कयोर्मिहिता सपः”—“मा नो मधेय निःपि”—
इत्यादौ सपशब्देन मेहनस्यापिधानादर्थोच्चित्याद्य सशब्दस्य
शेषादेन कश्चिद्विशिष्टं युक्तमिति सपतेरित्युक्तम् । तथा-
गोत्रम्—“अर्थो नित्यः परीक्षेत न संस्कारमाद्रियेत”—इति ॥
पिपूषां ‘तमु उपश्ले (दि० प०)’—इत्यभ्यान् पञ्चाग्रचि
(३, १, १२४) चितसः । चितस एव चैतसः । प्रजादिना-

जिघ्रतेर्जिघ्रत्तेर्वा घप्रत्ययान्तं निपात्यते जिह्रा, 'सञ्ज्ञायां कन् (५, ३, ८७)' प्रत्ययस्थात् (७, ३, ४४)—इतीत्वम् । 'उपजिघ्रन्ति काष्टम्, उपरक्षणाद्दोदकस्य उपजिह्रिका ॥' "यद-
र्युपजिह्रिका यद्वज्रो अतिसर्पति (ऋ० सं० ६, ७, १२, ६)"
वज्रशब्दस्यायमेव निगमः ॥ "वज्रीभिः पुत्रमग्रुधो अश्वानम् (ऋ० सं० ३, ६, २, ४)"—इति खीलिङ्गस्य ॥

(१३) ऊर्दरम् । (१४) रुदरम् । इत्यावपनस्य । ऊर्दरं—
उत्पूर्वात् 'दृ घिदारणे (क्या० प०)'—इत्यस्मात् 'ईर गतौ (अदा० आ०)'—इत्यस्माद्वा 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)' घञि च
ऊर्दरमुदीरं वा सदूर्दरम् । ऊर्द्धञ्च तदीर्णञ्च मध्यतः, ऊर्द्ध-
मीर्णं गतं वा दीर्णमिति ल्वादित्वाग्निष्ठान्तत्वम् (८, २, ४४) ॥
रुदरम्, गृह्णामस्तु व्याख्यातम् (३१४ पृ०) । रुतदरम् ।
"तमूर्दरं न पृणता यवेन (ऋ० सं० २, ६, १४, ५)"—
"समिद्धो अञ्जन् रुदरं मतीनाम् (य० वा० सं० २६, १)" ॥

(१५) रभः । (१६) पिनाकम् । इति दण्डस्य । 'रभ
रामस्यै (भू० आ०)' अत्रालमने घर्षते । कर्मणि घञ् ।
'रभेरश्यालिटोः (७, १, ६३)'—इति नुम् । आरभन्ते आध-
यते ह्यवष्टम्भाय दण्डः । "आ त्वा. रभन्त जिघ्रयः (ऋ० सं०
६, ३, ४५, ५)" ॥ पिनाकं—'पिष सञ्चूर्णने (रु० प०)' ।
'पिनाकादयश्च (उ० ४, १५)'—इति आकप्रत्ययः, पकारस्य
नकारो गुणामाचश्च निपात्यते । प्रतिपिनष्टि हिनस्त्यनेन
शेभ्रून्, दण्डाकारं धनुरुच्यते, सच्च रुद्धितो महादेवीयमेव

सामान्येन । "अथततधन्वा पिनाकायसः कृत्तिपासाः (य०
पा० सं० ३, ६१)" ॥

(१७) मेना । (१८) ग्नाः । इति स्त्रीणाम् । उभापि
शब्दौ व्याख्यातौ घाङ्नामसु (६६ पृ० । १०७ पृ०) । नामयन्ति हि
ताः पतिश्वशुरमातुलादयः पूज्या भूययितव्याश्चेति स्मर-
णात् । गच्छन्त्येना अपत्यार्थिनः । "ममेनांश्चिज्जनिघतध-
कथं (अ० सं० ४, १, २६, २)" — "ग्नास्त्वाहन्तं सप्तोऽत-
न्यत (ता० ब्रा०)" ॥

(१९) शेषः । (२०) पैतसः । इति सुप्रजननस्य । शेषः—
सपतेरसुनि घाङ्गुल्कात् सशब्दस्य शेषाद्यः । स्पृशत्यनेन
स्त्रीन्द्रियम् । तद्धेतुतश्च विशिष्टानन्दलक्षणं स्त्रीसुखं स्पर्श-
शब्देनोच्यते । त्वगिन्द्रियस्पर्शमात्रकं शेषमित्युदाहरणेऽका-
रान्तत्वेन दर्शनात् करणे घञन्त इति केचित्, सकारलोपो
या तत्र द्रष्टव्यः । यद्यपि 'वृद्धशीम्यां रुपसाङ्गयोः पुद् च
(उ० ४, १६६)'—इति शीलः अतुनागमेन कथञ्चिच्छेषः
सिध्यति तथापि तत्रार्थान्वित्यात् "मुष्कयोरेद्धात् सपः"
—"मुष्कयोर्मिदिता सपः"—"मा नो मघेय नि यपि"—
इत्यार्थे सपशब्देन मेहनस्यामिधानादर्थोचित्याच्च सशब्दस्य
शेषाद्येन कथञ्चिद्विषयोक्तं युक्तमिति सपतेरित्युक्तम् । तथा-
नोक्तम्—'अर्थो नित्यः परीक्षेत न सम्प्राग्व्यादिषेत'—इति ॥
पिपूर्वाम् 'तनु उपसृजे (दि० प०)'—इत्यस्मान् पचाद्यनि
(३, १, १३५) पितसः । पितस एव पैतसः । प्रमादिभ्या-

दण्। विशेषेण तस्यति क्षीणीमचति प्राक् सम्भोगकालात्।
यद्वा, विमक्षिकमितिघत् विशब्दः प्रतिषेधार्थीयः। न तस्यति
अक्षीणम् सेकसामर्थ्यस्यानुपक्षीणत्वात्। “यस्यामुपन्तः प्रह-
राम होपम् (ऋ० सं० ८, ३, २७, २)” — “त्रिः स माहः
अथयो घैतसेन (ऋ० सं० ८, ५, १, ५)” ॥

(२१) अथा। (२२) एना। इत्युपदेशस्य। प्रत्यक्षाभि-
धानमिहोपदेशोऽभिमतः। सामान्येन चैते त्रिष्वपि लिङ्गेषु।
अनयेति पदस्य नशब्दलोपेन अथा। “अथा ते अग्ने समिधा
विधेम (ऋ० सं० ३, ४, २५, ५)” — इति स्त्रिया समिधा
सामानाधिकरण्यात् ॥ एना द्वितीयादौस्वेनः (२, ४, ३४)”
— इति इदमेतदोरन्वादेशचिप्ये एनादेशः। तृतीयैकघचन-
स्याकारः। “एना घो अग्निन्नमसा (ऋ० सं० ५, २, २१,
१)” — इति नपुंसकस्य मनसो सामानाधिकरण्यात्। “एना
पत्या तन्य १ संसृजस्य (ऋ० सं० ८, ३, २५, २)” — इति पुंसः
पत्युः सामानाधिकरण्यात् ॥

(२३) सिपकु। (२४) सचते। इति। सिपवित्थति कर्तुं-
रमिधानम्। तस्य प्रत्ययार्थत्वेन प्राधान्यादत आह सेधमान-
स्येति। वैयाकरणसिद्धान्तप्रसिद्ध्यर्थमेवमवोचत्, परमार्थतस्तु
धात्वर्थप्रतिपादनपरतयैवाख्यातपदोपादानमर्थाभिगमत्वञ्च। अत-
श्चैतदुक्तं भवति। सिपकु सचत इति सेवार्थो धातू इति।
तथाहिः—“भाष्यप्रधानमाख्यातम्” — इति हि स्यसिद्धान्तः।
सिपकुः सचते। ‘पच समपाये’ भूवादिः स्वरितेत्, अथ

सेवार्थः । सिपत्तिवति लोटि तिपि शप् । तस्य 'बहुलं छन्दसि
(२, ४, ७६)'—इति ऋः । 'असिपिपत्योश्च' । 'बहुलं छन्दसि
(७, ४, ७८)'—इत्यभ्यासस्येत्यम् । “स नः सिपक्तु यस्तुर
(ऋ० सं० १, १, ३४, २)” —“सवसा नः स्वस्तये (ऋ० सं०
१, १, २, ४)” —इति तु अथानिगममुदाहरणम् ॥

(२५) भ्यसते । (२६) रेजते । इति । भयघेपनयो-
र्धातुः भ्यसते इति । रेजते इति नैस्ततो धातुः । उनापप्यु-
भयोरर्थयोः । “यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम् (ऋ० सं०
२, ६, ७, १)” —“रेजते अग्ने पृथिवी मखेम्यः (ऋ० सं० ५,
१, ८, ४)” —इति ॥

इति पञ्चविंशतिर्द्विशतामानि ॥ ३, २६ ॥

(इति नैघण्टुकटीकापरिशिष्टं समाप्तम्)

अथ चतुर्थोऽध्यायः



अथ नैगमं नाम द्वितीय काण्डं व्याख्यायते—

जहा (१) । निधा (२) । शिताम (३) ।
मेहना (४) । दमूनाः (५) । मूषः (६) ।
इपिरेण (७) । कुरुतन (८) । जठरे (९) ।
तितउ (१०) । शिप्रे (११) । मध्या (१२) ।
मन्दू (१३) । ईर्मान्तासः (१४) । कायमानः (१५) ।
लोधम् (१६) । शीरम् (१७) । विद्रधे (१८) ।
द्रुपदे (१९) । तुग्वनि (२०) । नंसन्ते (२१) ।
नसन्त (२२) । आहनसः (२३) । अदुमसत् (२४) ।
डम्मिणः (२५) । बाहः (२६) । परितक्म्या (२७) ।
सुविते (२८) । दयते (२९) । नूचित् (३०) ।
नूच (३१) । दावने (३२) । अकूपारस्य (३३) ।

दिशति (३४) । सुतुकः (३५) । सुप्रायणाः (३६) ।
 अप्रायुधः (३७) । च्यवनः (३८) । रजः (३९) ।
 हरः (४०) । जुहुरे (४१) । व्यन्तः (४२) ।
 क्राणाः (४३) । वाशी (४४) । विपुणः (४५) ।
 जामिः (४६) । पिता (४७) । शंयोः (४८) ।
 अदितिः (४९) । एरिरे (५०) । जसुरिः (५१) ।
 जरते (५२) । मन्दिने (५३) । गौः (५४) ।
 गातुः (५५) । दंसय (५६) । तूताय (५७) ।
 चयसे (५८) । वियुते (५९) । ऋधक् (६०) ।
 अस्याः (६१) । अस्य (६२) । इति द्विपट्टिः
 पदानि ॥ १ ॥

(१) जहा । हन्तेर्लिङ्गुत्तमैकघञे णलि, द्विघञे, ध्रुव्या-
 सघञे, कुर्यामाधो नकारलोपश्छान्दसत्वात् । जघानेत्यर्थः ।
 “जहा को धसदीयते (ऋ० सं० ६, ३, ४६, २)” ॥

(२) निधा । निपूर्वाद्धातोः ‘आतधोपसर्गे (३, १, १३६)’
 —इति कः । निर्धायते स्थाप्यते मृगपक्षिग्रहणाय । निधा
 पाशसमूहः । “समुग्न्यस्मन्निधयेय धदान् (ऋ० सं० ८, ३,
 ४, ६)” ॥

(३) शिताम । श्रितशब्दस्य रेफलोपोऽतो दीर्घत्वं मशब्द-
 श्रोपजनः । अङ्गे श्रितत्वाद्दु वोः शिताम । सितशब्दस्य वा
 सकारस्य शकारः, अन्यत् पूर्ववत् । योनिः शिताम । योनिं-
 गुदम् । विपितः । विविधं सितो वद्धो भवति पुरीषोत्सर्गवे-
 लायां चिकसति सङ्कोचः । “पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः
 (य० घा० सं० २१, ४३)” ॥

(४) मेहना । मंहतेर्दानकर्मणो ल्युट्, याहुलकादकारस्यै-
 कारो नकारलोपश्च । सुपां सुलुगित्यादिना सौराकारादेशः ।
 मंहनीयं धनादि । छन्दोगानां ‘महना’—इत्येवं रूपं पाठः ।
 प्रसङ्गेन च धेवान्तरार्धीतस्य व्याख्यानं भाष्यकारेण कृतम्
 (निरु० ४, ४) । “यदिन्त्र चित्र मेहना (ऋ० सं० ४, २,
 १०, १)” ॥

(५) दमूनाः । ‘दम उपशमे दाने वा’ । दान्ते पुरुषे वा,
 दमे यज्ञगृहे वा मनो यस्य स दमूनाः । दन्तमशब्दस्य नलोपः ।
 दमदान्तशब्दयोर्दभावः, मनःशब्दे मकारात्परस्याकारस्य ऊकारा-
 देशः । दमशब्दो व्याख्यातो गृहनामस्तु (३१६ पृ०) । ददातेर्ल्युटि
 दानं, दमेर्निष्ठायां मतुपि दन्तमः । ‘दमेरुनसिः (उ० ४, २२८)’
 —इति घैयाकरणाः । “क्षुणो दमुना अतिथिर्दुरोणे (ऋ० सं०
 ३, ८, १८, ५)” ॥

(६) मूपः । ‘मुप स्तेये (क्त्वा० प०)’ । क्विप्चचिप्रच्छि
 (३, २, १७८ घा०)—इत्यत्र ‘प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिः
 (भा०)’—इति क्विप् दीर्घश्च । जस् । मूपिकाः । सुगुप्तमपि

मुष्णन्ति हरन्ति । “मूयो न शिक्षा व्यदन्ति माध्यः (ऋ० सं० १, ७, २१, ३)” ॥

(७) इपिरेण । ‘इपु इच्छायाम् (तु० प०)’ । इपिमिदि-
मुदि (उ० १, ५१)—इत्यादिना किरच्प्रत्ययः । यद्वा, ईप-
यतेर्गतिकर्मणः ईपेर्दर्शनार्थस्य वा बाहुलकात् किरच् इयमायश्च ।
मनो विदीपयमेतत् । “इपिरेण ते मनसा सुतस्य (ऋ० सं० ६,
४, १२, २)” ॥

(८) कुरुतन । करोतेर्लोप्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य तशब्दस्य
‘तत्तनत्तनयनाश्च (७, १, ४५)’—इति छान्दसस्तनादेशः । तत्र
तशब्द एवार्थवान् नशब्दन्तूपजनोऽनर्थकः । कुरुतनेत्यस्य
प्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः—‘कर्त्तनहन्तनयात्तनेत्यनर्थका उप-
जना भवन्ति (निरु० ४, ७)’—इति । यत्र बहुवचनमन्ये-
ऽप्येवम्भा उपजनाः सन्तीति प्रतिपादनार्थम् । ‘क्तो यक्’
‘भाज्जसेरसुक्’—इत्येयमादयः । “श्रियेण तपसा कुरुतन”
—“अध्यर्प्यः कर्त्तना भुष्टिमस्मै (ऋ० सं० २, ६, १४, ३)”
—“तपिष्ठेन हग्मना हन्तना तम् (ऋ० सं० ५, ४, ३०, २)”
—“मपातन सर्पा” रच्छा सरावः (ऋ० सं० २, ३, २६, ३)—
“इत्याय शत्रून् विभजस्व घेदः (ऋ० सं० ८, ३, २६, २)”—
“ग्राहणासः पितरः सोम्यासः (ऋ० सं० ५, १, २०, ५)” ॥

(९) जडरम् । जग्धशब्दोपपदात् धृटो दधानेर्था ‘इदरा-
दयश्च (उ० ५, ४२)’—इति भरुणप्रत्ययो जग्धशब्दस्य जमापो
धकारस्य टकारश्च निपात्यते । जग्धं भक्षितमन्नमस्मिन्

धियते तिष्ठति, धीयते प्रक्षिप्यत इत्यर्थः । “भासिञ्चस्य जठरं मध्यऊर्मिम् (ऋ० सं० ३, ३, ११, १)” ॥

(१०) तितड । तनोतेस्तुदेश्च निघ्रायां मतुपि उपधाया इत्थं दकारलोपो चकारस्य सम्प्रसारणं तलोपश्च । तिलमात्रं तुन्नं वा । तिलशब्दात् तिः, तुन्नशब्दात् उकारस्तकारौ । मत्वर्थे बहुव्रीहिः । तत्तेन मध्येन, तुन्नैश्छिद्रैः, तिलमात्रैश्च तैस्तद्वत् । तनोतेः कान्ताद्वतिर्वैयाकरणाः । तत् तितड । “सक्तुमिव तितडना पुनन्तः (ऋ० सं० ८, २, २३, २)” ॥

(११) शिप्रे । ‘सृष्ट गतौ (भू० प०)’ । ‘स्फायितश्चिव-
श्चिशिक्षिपिसृपितृषि (उ० २, १२)’—इति रक्, बाहुलकात्
सृशब्दस्य शिभाधः । अन्नं गन्धनं प्रति सृप्ते भवतः । “विप्यस्य
शिप्रे विसृजस्य धेने (ऋ० सं० १, ७, १३, ४)” ॥

(१२) मध्या । मध्यशब्दात् सप्तम्येकवचनस्य ‘सुपां गुलुक्
(७, १, ३६)’—इत्यादिना आकारः । मध्ये इत्यर्थः । “मध्या-
फर्त्तोर्विततं संजमार (ऋ० सं० १, ८, ७, ४)” ॥

(१६) मन्दू । मन्दैस्तृप्त्यर्थात् ‘भृमृशीतृचरि (उ० १, ७)’—
इत्यादिना बाहुलकादुपत्ययः । मदेर्वा उपत्ययो तुम् च ।
प्रथमाद्विवर्चनम् । तृतीयैकवचनस्य वा ‘सुपां सुलुक् (७, १,
३६)’—इत्यादिना पूर्वसवर्णः । मदिष्णू मदिष्णुना वा ।
“मन्दू समानवर्चसा (ऋ० सं० १, १, १२, २)” ॥

(१४) ईरान्तासः । ‘ईर प्रेरणे (चु० प०)’ । ‘अर्त्तिस्तुसुदु-
सृष्टि (उ० १, १३७)’—इति मन्प्रत्ययः । अन्तशब्दो ध्याख्यातः

(२४० १६ ष० ६) । आदित्याश्या उच्यन्ते । ते च सप्त । तेषां ये
अन्तान् इत्ते, इत्तिः प्रेम्तिः विरला इत्यर्थः । अथवा अश्वस्य
अन्तो जघनं सर्वेषामीर्मः पृथुस्त्यर्थः । “ई मान्तास्तः सिलिक-
मध्यमामः (अ० सं० २, ३, १२, ५)” ॥

(१५) कायमानः । ‘चायू पूजानिशासनयोः’ भूचादिः, ह्यदि-
तेन् । चायमानः । चकारस्य ककारः । यद्वा, कमेर्णिङ्,
ततो लटः शानच् । कामयमान इत्यस्य मकारलोपः । “कायमानो
यना त्यम् (अ० सं० ३, १, ५, २)” ॥

(१६) ओघम् । ‘लुम् धाप्पूर्वै’ कः । लुम्धशब्दस्य यलोप
उकारस्मर्यौत्पद्यते । लुम्धमित्यर्थः । “ओघं नयन्ति परुमन्यमानाः
(अ० सं० ३, ३, २३, ३)” ॥

(१७) शीर्षम् । शिङः ‘स्फापितञ्चिपञ्चिराणि (उ० २, १५)’—
इत्यादिना यादृन्लफादृक् । अश्रोतेर्वा पूर्वघट्टक् धातोः शीर्षाचक्ष ।
अयमग्निरुच्यते । अनुशायिनमाशिनं वा । अनुगम्यन्ते भूतानि
जह्नुमानि जाडगहमना, स्थावराणि च सूक्ष्मेण भनमित्यक्तशक्त्या-
त्मना यः शोने व्ययतिष्ठते, अश्रोति वा । अचंशोतः । “शीर्षं
पायकशोचियम् (अ० सं० ३, १, ६, ३)” ॥

(१८) विद्रुघे । विपूर्वात् ‘टमी भवे’ इत्यम्मात् अनेका-
र्यत्वेन हिंसायात् कः । विद्रुघ्या इति स्थिते अकारस्य रादेशो
यकारलोपश्च । यद्वा यनम्य स्थाने एकयचनम् । विविचं
हिसिनेषु कुपिनेषु इत्यर्थः । “कलीनयेय विद्रुघे (अ० सं०
३, ६, ३०, ७)” ॥

(१६) द्रपदे । द्रुशब्दो द्रुमपर्यायः । द्रुममध्येषु पत्रेषु पादु-
काख्येषु इत्यर्थः । चवनन्यत्ययः पूर्ववत् । “नवे द्रपदे धर्मके
(ऋ० सं० ३, ६, ३०, ७)” ॥

(२०) तुग्चनि । तूर्णशब्दोपपदात् गमेः ‘अयेभ्योऽपि
दृश्यन्ते (३, २, ७५)’—इति घनिपि तूर्णशब्दस्य तुभायो गमेष्टि-
लोपश्च । लुठतीत्यर्थः । तद्विचपानायावगाहनाय वा क्षिप्रमा-
गच्छन्ते । सप्तम्येकघचनम् । “सुधास्त्वा अधि तुग्चनि (ऋ०
सं० ६, १, ३५, ७)” ॥

(२१) नंसन्ते । नमेर्मकारात् परः सुगागमः, व्यत्ययेना-
त्मनेपदम् । नमन्ति इत्यर्थः । “कुचिन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः
(ऋ० सं० ५, २, ८, ५)” ॥

(२२) नसन्त । ‘नसं कौटिल्ये’ भूयादिरात्मनेपदी, अत्रा-
प्रोतिर्नमतेर्घार्थं घर्तते । ‘छन्दसि लुङ्लङ्लिट् (३, ४, ६)’—
इति घर्तमाने लङ् । ‘घटुलं छन्दस्यमाद्योगेऽपि (६, ४, ७५)’
इत्यङ्भाषः । प्राप्नुयन्ति नमन्ति वा । “घृतस्य धाराः समिधो
नसन्त (ऋ० सं० ३, ८, ११, ३)” ॥

(२३) आहनसः । आहन्तेरस्तुन, मरुधर्षणस्य लुक् । ‘सूत्रे
श्वमाहतम्’ ‘ग्राहणे श्वमाहतम्’—इत्यादिप्रयोगदर्शनात् आहन्ति-
घचनार्थः । आहनवन्तो घचनवन्त इत्यर्थः । “ये ते मदा
आहनसो विहायसः (ऋ० सं० ७, २, ३३, ५)” ॥

(२४) अग्रसत् । ‘अदेर्मन्’—इति मनिन् । अग्रते इत्यस्य
अग्रम् । तस्मिन् स्तीदन्ति स्तनोति वा तत् । अग्रन्युपपदे सदेः

सनोतेषां 'अन्येष्वोऽपि दृश्यन्ते (१, २, ७५)'—'किम् ३ (१, २, ७६)'—इति किपि रूपम् । सनोतेर्नकारलोपे ह्रस्वस्ये पिति तुक् ।
“अत्रसत्र ससतो योधयन्ती (अ० सं० २, १, ७, ४)” ॥

(२५) इप्पिणः । 'इपेरिच्छार्यात् (तु० प०)' 'इपियुर्धान्धि (उ० १, १४२)'—इति मक्प्रत्ययः । ईपतेरिपतेषां यादृक्कात् मकि धात्वोरिप्भावः । इच्छा, गमनं, दर्शनं वा इप्म । 'अत इनिङ्गो (५, २, ११५)' । यद्वा, उष्मादिको मिनप्रत्ययः । पपितारौ हविषां स्तुर्तानाञ्च गन्तात्, द्रष्टारौ वा सर्वाधानाम् ।
“ते वा शीमन्त इप्पिणो धर्मारयः (अ० सं० १, ६, १३, ६)” ॥

(२६) घाहः । घहतेः 'घहध'—इति णिदसुन् । देयताः प्रत्युद्यमानत्वात् घाहः स्तुतिः । अथवा, 'यदेतन् कृपसमीपे तदुदकस्योद्भूतस्य स्थानमापाह इति' लोके प्रसिद्धं, तत्सदृशत्वात् सोमरसस्यपूर्णमधिपचणं चर्मं घाह इत्युच्यते । 'इन्द्राय घाहः कृणवाय जुष्टम् (अ० सं० ३, ३, ११, ३)” ॥

(२७) परितक्म्या । परिपूर्वात् तक्तेर्गतिकर्मणो मनिन् । परितः सर्वतो गच्छति, सर्वस्मिन् देशे शशिरस्ति । अथवा तक्मोष्णं तम् परित उभयत एनां परिरूहते घर्तते इति । तदुक्तम् । 'तक्मेत्युष्णताम्, तक् इति मत इति तेन परितक्मा सति यकारोपजनेन परितक्म्या' । “कम्मे हितिः का परितक्म्यासीत् (अ० सं० ८, ६, ५, १)” ॥

(२८) सुचिते । सुपूर्वादिभिः कृप्रत्ययः । 'पुङ् प्राणिगर्म-मोचने'—इत्यस्माद्वा के छान्दसत्वादिङ्गमः, उचङ् च । सप्तम्ये-

कचचनम् । शोभनं गम्यते यत्र स्वर्गादौ तत्, प्रसूते प्रजायां
त्रा । “सुषिते माधाः (य० वा० सं० ५, ५)” ॥

(२६) दयते । ‘दय दानगतिरक्षणाहिंसादानेषु (भू० आ०)’
अनेकार्थत्वात् विभागदहनगमनेष्वपि घर्त्तते । “महोधनानि
दयमानः (ऋ० सं० २, १, १६, २)”—इति दाने । “नघेन पूर्वं
दयमानाः स्याम (निरु० ४, १७)”—इति रक्षणे । “य एक
इद्विदयते (ऋ० सं० १, ६, ६, २)”—इति दाने विभागे वा ।
“दुर्वर्त्तुर्भीमो दयते घनानि (ऋ० सं० ४, ५, ८, ५)”—इति
दहने । “विद्वद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् (ऋ० सं० ३, २, १५, १)”—
इति हिंसायाम् । “मां वायसो दोषा दयमानो अब्रूयुधत्
(निरु० ४, १७)”—इति गतिफर्मा ॥

(३०) नूचित् । (३१) नूच । अनयोः पदद्वययोः । “अद्या
चिन्नूचिसदपो नदीनाम् (ऋ० सं० ४, ७, २, ३)”—“नूच पुरा
च सदत् रयीणाम् (ऋ० सं० १, ७, ४, २)” ॥

(३२) दाघने । ददातेः ‘आतो मनिन्कनिघनिपश्च (३,
२, ७४)’—इति व्यत्ययेन फर्मणि घनिप् । ततः षष्ठ्यर्थे द्विती-
यार्थे वा चतुर्थी (२, ६, ६२ वा०), अल्लोपाभावश्छान्दसः (६,
४, १३४) । देघस्य देवं वेत्यर्थः ॥

(३३) अकूपारस्य । ‘पृ पालनपूरणयोः (जु० प०)’ । घञ् ।
पारः पालनं पूरणं वा । अकुत्सितं पालनं पूरणं वा यस्य तद-
कूपारं सत् फोर्दीर्घत्वेनाकूपारम् । तस्य दाघने इति सम्यन्धः ।
“अकूपारस्य दाघने (ऋ० सं० ४, २, ६०, २)” । आदित्य-

समुद्रावप्यकृपारौ । पूर्वचत् । कच्छपोऽप्यकृपारः । कृपशब्दे
कर्मण्युपपदे अर्सेः कर्मण्यण् । न कृपारः अकृपारः । कच्छपो
हि सति सम्भवे हृद गच्छति न कृपमल्पोदकत्वात् । त्रयाणां
निगमाः पर्येष्याः ॥

(३४) शिश्रीते । 'शो धनूकरणे' दिवादिः परस्मैपदी ।
अत्ययेन शपः श्श्री ओकारस्येत्त्वमात्मनेपदञ्च । 'प्रतीत्यर्थः ।
'शिश्रीते श्श्रू रक्षसे विनिक्षे (ऋ० सं० ३, ८, १५, ३)" ॥

(३५) सुतुकः । सुपूर्वात्तकतेर्मतिकर्मणः 'गेहे कः (३, १,
१४४)'—इति घातुलकात् कप्रत्ययोऽकारस्योकारश्च । सुपू-
र्वाङ्गा तुच्छादस्याकार उपजनः चकारस्य जकारस्य घा ककार-
भावश्च । सुगमनः सुप्रजा घा । "अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरग्नेः
(ऋ० सं० ७, ५, ३१, ७)" ॥

(३६) सुप्रायणाः । सुपूर्वोदयतेत्युद् । 'उपसर्गस्यापत्तौ
(८, २, १६)'—इति लट्वाभावश्छान्दसः । सुप्रगमना इत्यर्थः ।
'सुप्रायणा भसिन् यज्ञे विश्वयन्तामृतावृधः (य० घा० सं०
२८, ५)" ॥

(३७) अप्रायुवः । प्र-आ-इत्युपसर्गद्वयपूर्वात् 'यु-मिथणे
(अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति
घातुलकात् कप्रत्ययः, उवटिः कृते अन्त्यस्याकारस्य लोपे च
जसि रूपम् । 'सुपां सुलुक् (७, ३, ३६)'—इति जसः स्थाने
सुः । न प्रायुवोऽप्रायुवः । अप्रगतमनस्काः न प्रमाद्यन्त इति ।
'अप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे (ऋ० सं० १, ६, १५, १)" ॥

(४७) पिता । 'नप्तुनेष्टृत्वष्टृक्षतृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृ-
पितृदुहितृ (उ० २, ८८)'—इत्यादिना पातेः केवलकात्
प्यन्ताद्वा तृच्प्रत्ययान्तो निपात्यते । पतिशब्दत्वेन च नामार्थो
व्याख्यातः (३०१ पृ०) । "द्यौर्मै पिता जनिता नाभिरत्र
(ऋ० सं० २, ३, २०, ३)" ॥

(४८) शंयोः । शम्यतेः क्तिप् शम् । 'यु पृथग्भावे' इत्य-
स्माद् धिच् । अन्ये 'पदद्वयमिति' वर्णयन्ति । 'शमनं रोगाणां
याचनं च भयानाम्' । "अथानः शंयोररपो दधात (ऋ० सं०
७, ६, १७, ४)" । प्रसङ्गेन श्रुतिसारूप्यात् भाष्ये 'अथापि
शंयुर्यार्हस्पत्यः (निरु० ४, २१)'—इत्युक्तम् ॥

(४९) अदितिः । पृथिवीनामसु व्याख्यातम् (३३ पृ०) ।
पैतिहासिकानां मते देवमाता, नैरुक्तानां मते भद्रीनादिगुणः
अथवात्मपक्षे प्रकृतिः । "अदितिर्द्यौरदिसिन्तरिक्षम् (ऋ० सं०
१, ६, १६, ५)" ॥

(५०) परिरि । प्रोपसर्गार्थवृत्त्याङ्पूर्वात् 'ईर गतौ (बु०
प०)'—इत्यस्माद्विद्धि भक्त्येरे च । प्रेरित्यस्त इत्यर्थः । "यमे-
रिरे भृगवो विश्ववेदसम् (ऋ० सं० २, २, १२, ४)" ॥

(५१) जसुरि । 'जसु' ताडने (बु० प०) । 'जसिसहो-
रि' (उ० २, ६६)—इति उरिप्रत्ययः । यद्वा, अस्यतेर्वाहु-
लकादुरिप्रत्यये जुडागमश्च घातोः । ताडितो वद्धमुक्तो हत-
वेगश्चान्तो जसुरिः । "नीचायमानं जसुरि न श्येनम् (ऋ० सं०
३, ७, ११, ५)" ॥

(५२) जरते । नैरुक्तधातुः । यद्वा, 'गृ' स्तुती (क्या० प०)—इत्यस्य गकारस्य जकार इति स्कन्दस्वामी । “इन्धान एनं जरते स्वाधीः (ऋ० सं० ७, ८, २८, १)” ॥

(५३) मन्दिने । मन्दतेः स्तुतिकर्मणो घञि मन्दः स्तुतिः । छान्दसत्यादत इनिठनौ नेप्यते हि एकाक्षरात्, ततो जाते, सप्तम्याञ्च । “प्र मन्दिने पितुमदर्चता एवः (ऋ० सं० १, ७, १२, १)” ॥

(५४) गौः । व्याख्यातं रश्मिनामसु (५२ पृ०) । “अत्रा-
हगौरमग्यत (ऋ० सं० १, १, ७, ५)” ॥

(५५) गातुः । व्याख्यातं पृथिवीनामसु (३६ पृ०) । अत्र भाषे तुन् गमनमित्यर्थः । “गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपत्ये (निघ० ४, २१)” ॥

(५६) दंसयः । दंस इति कर्मनामसु व्याख्यातम् (१७० पृ०) । अत्र तु ‘अच इः (उ० ४, १३४)’ जस् । दंसयः कर्माणि दंसयन्त्येनानि । “कुत्साय मन्मग्नहाश्च दंसयः (ऋ० सं० ८, ७, २६, १)” ॥

(५७) तूताय । तवतेर्चृद्धिकर्मणो लिटि णलि ‘तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (६, १, ७)’ । “स तूताय नैनमश्नोत्यहतिः (ऋ० सं० १, ६, ३०, २)” ॥

(५८) चयसे । ‘चय गतो’ भूयादिगत्मानेपदी । अत्र चातयतेर्नाशनार्थस्यार्थे चर्तते । यद्वा, चातयतेरेव चिह्नितं रूपम् । “वृहस्पते चयम इत् पिपास्म् (ऋ० सं० २, ५, १२, ५)” ॥

(५६) वियुते । यौतिरेव पृथग्भावाथो विपूर्वः । “समान्या वियुते दूरे अन्ते (ऋ० सं० ३, ३, २५, २)” ॥

(६०) ऋधक् । अन्ययमिदं पृथग्भावस्य घान्तकम् । “यदिन्द्र दिवि पार्ये यद्वधक् (ऋ० सं० ४, ७, १२, ५)” । अथाप्युधोत्यर्थे दृश्यते, तदा ‘ऋधु वृद्धो (स्वा० प०)’ अस्मात् ‘प्रथः फित् (उ० १, १३०)’—इति बाहुलकादजिप्रत्ययः किञ्च । ऋधुचन ऋद्धं कुर्वन् । “ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः (य० घा० सं० ८, २०)” ॥

(६१) अस्याः । (६२) अस्य । शब्दान्तरेणानादिष्टस्य सन्निधि- विशिष्टपदार्थलक्षणस्याभिधेयस्योच्चारणं प्रथमादेशः आदिष्टतमस्य तस्योच्चारणमन्यादेशः । तत्र प्रथमादेशविषयत्वादुदात्तं पदद्वयं तीप्रार्थतरमतिस्फुटप्रयोजनम्, अन्यानादिष्टस्वार्थत्वात् । अन्वादेशविषयतामस्वादनुदात्तं पदद्वयमर्थायोऽर्थतरमतिशयेनास्फुटप्रयोजनम्, अन्यादिष्टस्वार्थत्वात् । “अस्या ऊ पु ण उप सातये भुवः (ऋ० सं० २, २, २, ४)”—“दीर्घायुरस्या यः पतिः (ऋ० सं० ८, १, २७, ४)” ॥ “अस्य घान्तस्य पणितस्य होतुः”—“तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य (ऋ० सं० २, ३, १४, १)” ॥

इति द्विष्टिः पदानि ॥ १ ॥

सन्निम् (१) । बाहिष्ठः (२) । दूतः (३) ।
वावज्ञानः (४) । वार्य्यम् (५) । अन्धः (६) ।

असश्चन्ती (७) । वनुष्यति (८) । तरुष्यति (९) ।
 भन्दनाः (१०) । आहनः (११) । नदः (१२) ।
 सोमो अक्षाः (१३) । श्वात्रम् (१४) । ऊतिः (१५) ।
 हासमाने (१६) । पङ्भिः (१७) । ससम् (१८) ।
 द्विता (१९) । त्राः (२०) । वराहः (२१) ।
 स्वसराणि (२२) । शय्याः (२३) । अर्कः (२४) ।
 पविः (२५) । वक्षः (२६) । धन्व (२७) ।
 सिनम् (२८) । इत्या (२९) । सच्चा (३०) ।
 चित् (३१) । आ (३२) । द्युम्नम् (३३) ।
 पवित्रम् (३४) । तोदः (३५) । स्वश्वाः (३६) ।
 शिपिविष्टः (३७) । विष्णुः (३८) । आघृणिः (३९) ।
 पृथुजयाः (४०) । अथर्युम् (४१) । काणुका (४२)
 अधिगुः (४३) । आङ्गूषः (४४) । आपान्त-
 मन्युः (४५) । श्मशा (४६) । उर्वशी (४७) ।
 वयुनम् (४८) । वाजपस्त्यम् (४९) । वाजग-
 न्ध्यम् (५०) । गध्यम् (५१) । गधिता (५२) ।

कौरयाणः (५३) । तौरयाणः (५४) । अह-
 र्याणः (५५) । हरयाणः (५६) । आरितः (५७) ।
 व्रन्दी (५८) । निष्पपी (५९) । तूर्णाशम् (६०) ।
 क्षुम्पम् (६१) । निचुम्पुणः (६२) । पदिम् (६३) ।
 पादुः (६४) । वृकः (६५) । जोषवाकम् (६६) ।
 कृत्तिः (६७) । श्वघ्नी (६८) । समस्य (६९) ।
 कुटस्य (७०) । चर्पणिः (७१) । शम्भ्रः (७२) ।
 केपयः (७३) । तूतुमाकृपे (७४) । अंसत्रम्
 (७५) । काकुदम् (७६) । वीरिटे (७७) ।
 अञ्छ (७८) । परि (७९) । ईम् (८०) । सीम्
 (८१) । एनम् (८२) । एनाम् (८३) । सृणिः
 (८४) । इति चतुरुत्तरमशीतिः पदानि ॥ २ ॥

(१) सस्त्रिम् । 'प्या वेष्टने (अदा० प०)' 'प्या शौचे (अदा० प०)' । 'आद्गमदनजतः किकिर्ना लिट् च (३, २, १७१)'—इति किन्प्रत्ययः । लिट्प्रत्ययाद् द्विवचनादिः । 'आतो लोप इटि च (६, ४, ६४)' । अथवेष्टयितामिरन्तःप्रविष्टाभिः शोषितो वा मेघः सस्त्रिः । "सस्त्रिगविन्दघरणे नदीनाम् (अ० सं० ८, ७, २७, ७)" ॥

(२) घाहिष्ठः । -चोदृशब्दात् 'तुष्टुन्दसि' (५, ३, ५६)—
इतीष्टनि 'तुरिष्ठमेवःसु' (६, ४, १५४)—इति तृचो लोपः ।
घाहिष्ठ इति उपधादर्घ्यञ्छान्दसः । अतिशयेन चोदा घाहिष्ठः ।
“घाहिष्ठोचां ह्यानाम् (ऋ० मं० ६, २, २६, १)” ॥

(३) दूतः ।

(४) घाचशानः । 'यश कान्तो (अदा० प०)' 'घाष्ट्र शब्दे
(दि० आ०)' । 'लिटः कानञ् वा (३, २, १०६)' । द्विर्वचनादिः ।
'तुगादीनां दीर्घोऽन्यासस्य (६, १, ७)' । 'न यशः (६, १, २०)'
—इति यङि लिटि सम्प्रसारणनिषेधाद् विन्यस्ये कानञ्यपि
न भयति, घाच्यतेरुपधाह्रस्वत्वञ्च व्यत्ययेनैव । यङ्लुकि शानञि
रूपमिति श्रीनिवासः । “सप्तस्वसूरकपीर्वाचशानः (ऋ० मं० ७,
५, ३३, ५)” ॥

(५) पार्यम् । 'वृञ् घरणे (सा० उ०)' । एतिन्तुशात्पृष्ट-
क्षयः कवप् (३, १, १०६)—इति क्यपि प्राप्ते 'कृत्यान्तुटो
पृष्टम् (३, ३, ११३)'—इति ण्यत् । 'कव्विर्थो वृ-प्रहणे वृत्रो
प्रहणमिष्यते न वृष्टः'—इति वैयाकरणाः । अथवाऽऽवश्यकार्थो
ण्यत्प्रत्ययो द्रष्टव्यः । 'पार्यं घरणीयम्, अतिशयेन घरं श्रेष्ठं वा ।
“तद् पार्यं घृणीमहे (ऋ० मं० ६, २, २३, ३)” ॥

(६) अन्धः । ध्यान्यातमश्रनाममु (२१६ पृ०) । “आम-
त्रेभिः सिञ्चता मयमन्धः (ऋ० मं० २, ६, १३, १)” ॥
तमोऽचक्षुष्पव्यन्धः । अत्र ध्यायतिर्नप्रपूर्वः अविद्यमानं ध्यानं
दर्शनमस्मिन् आलोकाभावान् । चक्षुर्हनि अकागन्तमिदम् ।

“पश्यदक्षण्यान्न चिन्ने तदन्धः (ऋ० सं० २, ३, १७, १)”—इति चश्रुर्हानस्य ॥

(७) असध्वन्ती । सध्वतिर्गतिकर्मा, अत्र सध्वतिरस्यतेवार्थं घर्तते । शतरि ङोपा नञ्समासः । परस्परेण सम्मितिश्री-भयन्त्यौ । अघक्षिपन्त्या याश्रिने वा द्यावापृथिव्या उड्येते । “असध्वन्ती भूरिधारे पयस्वती (ऋ० सं० ५, १, १४, २)” ॥

(८) वनुष्यति । व्याख्यातं क्रुध्यतिनामसु (२४७ पृ०) । अत्र तु हन्त्यर्थः । “वनुष्याम वनुष्यतः (ऋ० सं० २, १, २१, १)” ॥

(९) तरुष्वति । नैरुक्तधातुर्गत्यर्थः । ‘मृत्युं तरति’ ‘ब्रह्म-हृत्पामुत्तरन्ति’ । विनाशयन्ति व्यपोहन्तीति हन्त्यर्थे तरतेः प्रयोगदर्शनात् तरतेरुकार्पकाराद्युपजनादित्याहुः । “इन्द्रेण युजो तरुषेम वृत्रम् (ऋ० सं० ५, ४, १५, २)” ॥

(१०) भन्दनाः । भदन्तेः स्तुतिकर्मणः ‘युच् बहुलम् (उ० २, ७४)’—इति युच् टाप् शस् । भन्दना स्तुतिरित्यर्थः । “सभन्दना उदियर्त्ति प्रजावतीः (ऋ० सं० ७, ३, २०, १)” ॥

(११) आहनः । आहन्तेरसुनि आहन्ति आहनाः सम्बुद्धौ आहनः भसणवचनादाहन्तुः । “अन्येन मदाहनो याहि त्वयम् (ऋ० सं० ७, ६, ७, ३)” ॥

(१२) नदः । व्याख्यातं स्तोतृनामसु (३४७ पृ०) । “नदस्य मा यधतः काम आगन् (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)” ॥

(१३) सोमो अक्षाः । अक्षोतेर्लुङि सिचि ‘उदितो वा (७, २, ५६)’—इति अनिट् पक्षे आङागमे च आष्टेति, इट्पक्षे आशिष्टेति

प्राप्ते व्यत्ययेन तस्य स्थाने सिपि पस्य कादेशे आकार इतश्च विसर्जनीयो । शिष्यतेर्षा अक्षैपमिति प्राप्ते व्यत्ययेन घर्त्तमाने लुङ्, तिपः स्थाने सिप्, चूलेरङ्, घातोऽपिलोपः, दीर्घश्च, इतश्च विसर्जनीयो । शिष्यतीत्यर्थः । “अनूपे गोमान् गोमिरक्षाः (ऋ० सं० ७, ५, १३, ४)” ॥ ‘क्षर सञ्चलने (भू० प०)’ अक्षारदिति प्राप्ते तिपि सिचि वृद्धौ यहुलञ्छन्दसीतीडभावे इतश्च लोपे संयोगान्तस्य लोपे रात्सस्येति सलोपे रेफस्य विसर्जनीयः आडागमः क्षरतीत्यर्थः । “सोमोदग्धामिरक्षाः (ऋ० सं० ७, ५, १३, ४)” । ‘सर्वे शिष्यतिनिगमाः’—इति शाकपूणिर्निघाह उक्तः ॥

(१४) श्वाग्रम् । व्याख्यातं घननामन्तु (२३८ पृ०) । इह शिष्यनाम । “श्वाग्रमग्निरकृणोऽजातवेदाः (ऋ० सं० ८, ४, १०, ४)” ॥

(१५) ऊतिः । भवतेः ‘ऊतियूतिजूतिसातिहेति (३, ३, १७)’—किन्नुदात्तो निपात्यते । उग्रत्वेरेत्युङ् । अत्राचनं रक्षणं तर्पणं वा । “आ त्या र्यं यथोतये (ऋ० सं० ६, ५, १, १)” ॥

(१६) दासमाने । दासतिः स्पर्द्धायां हर्षणे वा घर्त्तते । स्पर्द्धमानौ परस्परं हृष्यन्तौ वा । “अश्वे इष विपिते दासमाने (ऋ० सं० ३, २, १२, १)” ॥

(१७) पङ्मिः । पिबतेः स्पाशयतेर्षा यन्धनार्थात् स्पृशतेर्षा ‘सर्त्तरेटिः (उ० १, १३३)’—इति याहुलकादटिप्रत्ययो घानूनां पकारभाषश्च । पानिः सोमस्य । यद्वा, स्पाशनेर्यन्धनेः स्पर्शनेः

स्तुतिलक्षणैर्गुणानाम् । “घघ्रकः पङ्क्तिरुपसर्पदिन्द्रम् (ऋ० सं० ८, ५, १५, ६)” ॥

(१८) ससम् । ‘पस स्वप्ने (अदा० प०)’ । पचायच् (३, १, १३४) । - सपीतीति ससम्, माध्यमिकं ज्योतिरुच्यते, घर्णाव्यतिरिक्तकालेऽदर्शनात् स्वापच्यपदेशः । “ससं न पक्वमविद-
च्छुचन्तम् (ऋ० सं० ८, ३, १४, ३)” ॥

(१९) द्विता । द्विशब्दात् ‘सङ्ख्याया विधायं धा (५, ३, ४२)’ । धकारस्य तकारेण व्युत्पत्तिः । द्विधेत्यर्थः । “द्विता च सत्ता सधया च शम्भुः (ऋ० सं० ३, १, १७, ५)” ॥

(२०) द्याः । ‘वृज् वरणे (स्वा० उ०)’ । ‘गेहे कः (३, १, १४४)’—इति बाहुलकात् कः, यष्मादेशः, जस् । घर्त्तारोऽन्वेष्टारो मृगादीनाम् । द्यात्यस्यानीयाः लुब्धकादयः । “मृगं न द्या मृगयन्ते (ऋ० सं० ५, ७, १८, १)” ॥

(२१) धरादः । व्याख्यातो मेघनामसु (८३ पृ०) । निगमोऽपि तत्रैव दर्शितः ॥

(२२) स्वसराणि । अहर्नामसु व्याख्यातोऽयं शब्दः (७४ पृ०) निगमोऽपि तत्रैव दर्शितः ॥

(२३) शय्याः । अङ्गुलीनामसु व्याख्यातः (२०६ पृ०) । अत्र इष्य उच्यन्ते । “शय्याभिर्न भरमाणो गभस्त्यो (ऋ० सं० ७, ५, २२, ५)” ॥

(२४) अर्कः । अर्चतेः ‘रुदाधारार्चिकलिभ्यः कः (उ० ३, ३८)’—इति कः । ‘अर्चति जीवयतीत्यत्र मन्त्रम् इति अन्ये ।

मृगमुदाहरणम् । अतएव केचिन्न पठन्त्यत्र अर्थम् । वृक्षे-
ऽप्यर्चति । “अर्कपणे जुहोति” ॥

(२५) पविः । व्याख्यातो घाङ्नामसु (६८ पृ०) । रथनेमि
यंगश्च पविः । “उत्त पय्या रथानाम् (अ० सं० ४, ३, ६, ४)” ।
यगस्य दर्शितः ॥

(२६) वक्षः । वहतेः ‘वहः सुद् च’—इत्यमुन् । मध्यं काय
उपरि कायस्य प्राप्तं प्रापितं चेत्यर्थः । उर इत्युच्यते । “उपो
भदर्शि शुक्ल्युषौ न वक्षः (अ० सं० २, १, ७, ४)” ॥

(२७) धन्य । व्याख्यातमन्तरिक्षनामसु (४६ पृ०) । न
एष निगमः ॥

(२८) सिनम् । व्याख्यानमग्रनामसु (२२३ पृ०) । स एष
निगमः ॥

(२९) इत्या । इदंशब्दात् ‘या द्वेती न छन्दसि (५, ३,
२६)’—इति द्वेती प्रकारवन्ने शाल्प्रत्ययः । एतेर्वा शाल्
‘अत्रपूर्वविद्येमान्शब्दात् छन्दसि (५, ३, १११)’—इति इपार्थं
शाल् विहितो व्यत्ययेन प्रकृतिभूनादिदंशब्दादपि भवति । अनेन
हेतुना, अनेन प्रकारेण, अयमेवेति पार्थः । “इत्या नन्दमसौ गृहं
(अ० सं० १, ६, ७, ५)” ॥ ‘अमुपा (नि० ५, ५)’—
इत्यर्थकथनं कथमिति निरूपणीयम्, इत्यर्थमिति स्पन्दस्यामि-
ग्रन्था निरूपणीयः ॥

(३०) सना । महार्थोऽयं निपातः । “आदिम्यैस्त्रेपंगुभिः
सना भुषः (अ० सं० ६, ३, १४, १)” ॥

(३१) चित् । निपातो नाम च । निपातोऽनुदात्तः । 'विदित्येपोऽनेककर्मा'—इत्यादिना व्याख्यातः (निरु० १, ४) । "चतुरश्विदमातात् (ऋ० सं० १, ३, २३, ४)" —इत्युपमायाम् । अथकुत्सनादिष्वपि निगमा अन्येष्याः । नाम तु चिनोतेश्चेत्यतेर्वा किपि चिदिति भवति । चित्तां भागैः क्षीरादिभिः चिट्टपा वा सोमकयण्युच्यते । "चिदसि मन्तामि धीरसि (य० घा० सं० ४, १६)" ॥

(३२) आ । 'आ इत्यर्थागर्थे'—इत्युपसर्गो व्याख्यातः (निरु० १, ३) । "परा याहि मघवन्ना च याहि (ऋ० सं० ३, ३, १६, ५)" —इत्युपसर्गस्य । "जार आ भगम् (ऋ० सं० ७, ६, १०, १)" —इत्युपमायाः "आमेन्यस्य रजसो यदन्न आ अपः (ऋ० सं० ४, ३, २, १)" —इत्यध्ययस्य ॥

(३३) धुन्नम् । व्याख्यातं धननामसु (२४० पृ०) । अत्र यशोऽन्नं धामिधीयते । "अस्मै धुन्नमधिरत्नं च धेहि (ऋ० सं० ५, ३, ६, ३)" ॥

(३४) पवित्रम् । पुनातेः 'पुनः सञ्ज्ञायाम् (३, २, १८५)' —'कर्त्तरि चर्षिदेवतयोः (३, २, १८६)'—इतीप्रप्रत्ययः । मन्त्ररश्म्यापोऽग्निचायुसोमसुर्व्यन्द्राध्यामिधेयाः । मन्त्रादिषु

१ २ ३ २ ३ १ २ ३

करणसाधनः अग्न्यादिषु कर्मसाधनः । 'येन देवाः पवित्रेण (सा० सं० २, ५, २, ८, ४)" —इति मन्त्रस्य । "गमस्तिपूतो नृगिरत्रिभिः सुतः (ऋ० सं० ७, ३, १८, ४)" —पवित्रवन्तः परि

पाचमासते (ऋ० सं० ७, २, २६, ३)"—इति च रश्मीनाम् ।
 "शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः (ऋ० सं० ५, ४, १४, ३)"
 —इत्यपाम् । "अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः
 पवित्रन्ते मा पुनन्तु (निरु० ५, ६)"—इत्यग्न्यादीनाम् ॥

(३४) तोदः । तुद्यते पुत्रपौत्रादिभिः स्वसमीहितसाधनाय ।
 तुदेर्घञ् । यद्वा, 'देवसेपमेपादयः पचादौ द्रष्टव्याः'—इति
 पचाद्यञ् । तुदति प्रेरयति कार्येषु कर्मकारानिति तोदो गृहस्थः ।
 "तौदस्येव शरण आ महस्य (ऋ० सं० २, २, १६, १)" ॥

(३६) म्यञ्जाः । सुपूर्वाद्भ्रतेरसुन् । सुगमन इत्यर्थः ।
 "आ जुह्वानो घृतपृष्ठः म्यञ्जाः (ऋ० सं० ८, २, ८, १)" ॥

(३७) शिपिविष्टः । (३८) विष्णुः । एने विष्णोरादित्यस्य
 नामनी । शिपिविष्टशब्दोऽत्र सामर्थ्यादन्तर्णीतोपमानार्थः ।
 'पादृशः शीपो निर्वेष्टितः तादृश इति, शेष इव वेष्टनत्यग्वियोजितः'
 —इति र्थामोजनिषासः । उदितमात्रत्वाद्प्रतिपन्नरश्मिः ।
 अपिवा, 'उपमानयोगात् कुत्सितार्योपमिदम्'—इत्योपमन्यवः ।
 पृथोदरादित्यादृगसिद्धिः अर्थसिद्धिः । 'प्रशंसानाम्'—इत्याचार्य्यः ।
 शिपिभिः रश्मिभिः आपिष्टः शिपिविष्टः उपात्तरश्मिः ॥
 विष्णुरादौ ध्याप्यातो यज्ञनामसु (३५२ पृ०) अर्थोऽनुगुणः ।
 "किमिस्ते विष्णो परि चक्ष्यं भन् प्रयदु वपशे शिपिविष्टो भस्मि
 (ऋ० सं० ५, ६, २५, ६)"—इत्युभयोर्निगमः ॥

(३६) मातृणिः । गृणिशब्दो ज्यञ्प्रनामसु (१७६ पृ०),
 क्रोधनामसु (२४८ पृ०) च व्याख्यानः । मातासदीमिरागतप्रोषो

वा । “आद्युणे संसन्वाचहै (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)”
—इति दीप्तिनामत्वे निगमः । क्रोधवचने त्वेभ्य उदाहरणं
कर्तव्यम् ।

(४०) पृथुजयाः । ‘जि अभिमवे (भू० प०)’ । असुनि
याहुलकात् ककारस्य रेफः । जयो वेगः । पृथुः जयो
यस्य सः । वेगेनान्यातमिश्रचिता महाजयः इत्यर्थः । “पृथुजया
अमिनादायुर्दस्योः (ऋ० सं० ३, ३, १३, २)” ॥

(४१) अधर्युम् । अततेः । ‘जनिमनिवजिदमिभ्यः’—इति
याहुलकात् युस्प्रत्ययो धातोरथरादेशश्च सकार इत्सम्भक्तः ।
अततं गमनमथर्युशब्देनोच्यते मत्वर्थीयस्य लुक् गमनवन्तमित्यर्थः ।
“दूरे दृशं गृहपतिमथर्युम् (ऋ० सं० ५, १, २३, १)” ॥

(४२) काणुका । कान्तक्रान्तकृतशब्दानां काणुभावः । तत्र
स्वार्थे कः । शसि ‘दोऽञ्जन्दसि बहुलम् (६, १, ७०)’—इति
शेर्लुक् । कान्तानि प्रियानि, क्रान्तानि आह्वयनीयं प्रति गतानि,
ऋत्विक् प्रति कृतानि, ऋत्विग्भिः संस्कृतानि सरांसि विशिष्यन्ते ।
{ यद्वा, काणुकेति इन्द्रविशेषणम् । सोमस्य कान्तः बहुलः । यद्वा,
कणेशब्दः ‘कणेमनसी श्रद्धा प्रतिघाते’—इति, तस्य काणुकेति
रूपं क्रियाविशेषणञ्च । “इन्द्रः सोमस्य काणुका (ऋ० सं० ६,
५, २६, ४)” ॥

(४३) अधिगुः । अधिकृतो गौर्यस्मिन् मन्त्रे सोऽधिगुः ।
अधिकृतशब्दस्याधिभावः, गोशब्दश्चात्र पशुमात्रोपलक्षकः ।
छागादिष्वधिकृतत्वात् । यद्वा, - अधिगवादिशब्दचत्वादधिगुः ।

अधिवपुःप्रभृतीनामधिगोर्मुसल्यत्यादधिशुशब्देनाभिधानम् । अधि-
रिन्द्रश्चाधिशुशब्देनोच्यते । अपृतगमनः सर्वत्राप्रतिहतगतिरि-
त्यर्थः । अत्रापृतशब्दस्याधिभावः । गमनं गौः । “अधिगोशमीध्वं
(ऐ० ब्रा० २, १, ७)” — तुभ्यं श्रोतन्त्यधिगो शयीवः (ऋ० सं०
३, १, २१, ४) — “ऋचीपमायाधिवमोहम् (ऋ० सं० १, ४,
२७, १)” — इति क्रमेण निगमाः ॥

(४४) आङ्गूयः । आङ्पूर्वात् घुनेर्वञ् । आघुव्यते आघोयः ।
घोकारस्य ङ्गूकारभावः । ‘आलोऽनुनासिकश्छन्दसि (६, १,
१२६)’ — इत्यनुनासिको व्यन्ययेन । स्तोमोऽभिधेयः । “ए ना-
ङ्गूयेण घयमिन्द्रघन्तः (ऋ० सं० १, ७, २३, ४)” ॥

(४५) आपान्तमन्युः । आपादितमुत्पादितं संस्कारेण
मन्युर्दोषिर्यस्य । आपादितशब्दस्यापान्तभावः, मन्युशब्दो व्याख्यातः
प्रोधनाप्रसु (२५० पृ०) । सोम उच्यते । इन्द्रश्चापान्तमन्युः ।
उत्पादितर्दाप्तिर्यस्य उत्पादितप्रौढो वा । “आपान्तमन्युस्तु-
पलप्रमर्मा (ऋ० सं० ८, ४, १४, ५)” ॥

(४६) श्मश । श्म शरीरमश्नुते व्यप्नोति । श्मशब्दोपपदान्
अधोतेः पचाद्यञ् । उदकवाहिनीं पुन्यां नाडीं पातग्न्यादिनीं
वा श्मशोच्यते । श्म अश्नुते इति निर्वचनं स्वन्दमामिग्रन्थे
नास्ति ध्रानिचासमते तु श्मशब्दोपपदान् अधोतेः पूर्वपदञ् ।
स्वं शासती श्मशा, घकारस्य मकारः । “आय श्मशा मयडा-
(ऋ० सं० ८, ५, २६, १)” ॥

(४) उपर्षी । उपशब्दोपपदान् अधोतेर्वट्टं ५३ स्-

धातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीनप्रत्यये 'हृदिकारात् (४, १, ४५ वा०)'—ङीप् घञ्युत्तरपदे उरुशब्दस्य उलोपश्च । उरु महत् स्थानं यशो वा व्याप्नोति । उरुभ्यां वा अश्नुते सम्भोगकाले कामिनं घशीकरोति, शिल्पोपचारकुशलत्वर्थः । उरुवां घशः कामो यस्याः महेच्छेत्वर्थः । व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । बहुषु कामो यस्याः, यहनो वा कामो यस्याः । “उर्यश्या प्रह्वन् मनसोऽधिजातः (ऋ० सं० ५, ३, २४, १)” ॥

(४८) घयुनम् । व्याख्यातं प्रज्ञातामसु (२६६ पृ०) । कान्तिः प्रज्ञा घामिषेया । “स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत् सूर्येण घयुनवधकार (ऋ० सं० ४, ६, ११, ३)” ॥

(४९) वाजपस्त्यम् । वाजशब्दो व्याख्यातोऽश्वनामसु (२२० पृ०), पस्त्यशब्दो गृहनामसु (३१५ पृ०) वाजश्च पस्त्यश्च परम-
मेतद्वाद्यमस्माकमिति मन्यमाना यस्मिन् देवाः पतन्ति तम् । सौप्त उच्यते । “सनेम वाजपस्त्यम् (ऋ० सं० ७, ४, २४, ६)” ॥

(५०) वाजगन्ध्यम् । ‘गन्धअर्द्धने’ क्षुरादिरात्मनेपदी । अत्र मिश्रणार्थः । ‘अबो यत् (३, १, ६७)’ । गृह्यतेर्गन्ध्यदेशो ण्यच्चेति केचित् । गृह्यमाणस्य मिश्रीभावात् गन्ध्यं मिश्र-
यितव्यमित्यर्थः । “अश्याम वाजगन्ध्यम् (ऋ० सं० ७, ४, २४, ६)” ॥

(५१) गध्यम् । गृह्यतेः अग्न्यादित्वात् (उ० ४, १०८) यत्प्रत्ययो घातोर्गन्ध्यदेशश्च । ग्राह्यं गृह्यमाणस्य मिश्रीभावात्

आत्मना मिश्रयितव्यं भक्षयितव्यमित्यर्थः । सोम उच्यते ।
“ऋज्रा घातं न गन्धं युयूषत् (ऋ० सं० ३, ५, १६, २)” ॥

(५२) गघिता । ग्रहेः के ग्रहस्य गघादेशः । “आगघिता
परिगघिता” (ऋ० सं० २, १, ११, ६)” । आगृहीता, ध्व-
ययेगाङ् परिष्वन्ता सतीत्यर्थः । परिगघिता, सूर्यतोऽन्तर्यद्भिश्च
मिश्रितः आलिङ्गनचुम्बनपुटसरं प्राप्तप्रजनना सती सानुरागं
सम्भोगाय परिगृह्यता च सतीत्यर्थः ॥

(५३) कौरयाणः । कौरशब्दः कृतशब्दपर्यायः । शत्रून्
प्रति कृतमेव यानमायानं नित्यं कृतमनः । यत्रा, हस्त्यश्वो
रथ इत्यादिसङ्ग्रामं कृत्वा फलिप्तं प्रयाणाभिमुखं यानं पाहनं
यस्य स कौरयाणः । “पाक स्थामा कौरयाणः (ऋ० सं०
५, ७, २६, १)” ॥

(५४) तौरयाणः । तूर्णशब्दस्य तौरमावः । तूर्णयाणः
क्षिप्रगमन इत्यर्थः । “स तौरयाण उपपाहि यत्रम् (ऋ० सं०
३, ३, १६, ३ वा०)” ॥

(५५) हारयाणः । हीतशब्दस्य हारमावः । भर्हीयमानः
अदक्षितमानः यो हारिभ्यो दातुं न शक्नोति, स हीनो गच्छति,
तदस्य नास्ति, अतः दत्ताभ्यगमन इत्यर्थः । “अनुष्टुपा हारुग-
हयाणः (ऋ० सं० ३, ४, २५, ४)” ॥

(५६) हरयाणः । हरनेः पचायचि हरः । शत्रूणां जीपि-
नेश्वर्यादिहन्तृ यानं यस्य सः । शत्रुजीपितादीनां हर्षेत्यर्थः ।
“रजनं हरयाणे ऋ० सं० ६, २, २५, २)” ॥

(५७) आरितः । 'ऋ गतो' । 'सूचिसूत्रिमूच्यव्यग्रूणां-
तोनाम् (३ १, २२ वा०)'—इति विहितस्य यङः 'यङोऽचि
च (२, ४, ७४)'—इत्यत्र बहुलानुवृत्तेरनैमित्तिके लुकि
प्रत्ययलक्षणेऽत्र 'सन्त्यङोः (६, १, ६)'—इति ऋइत्यस्य
द्विवचने उरदन्वाभ्यासस्य ऋकारस्यात्वे 'रुप्रिकौ च लुकि
(७, ४, ६१)'—इति लुकि निष्ठायां छान्दसत्वादिद्, ऋकारस्य
यणादेशः 'रोरि (८, ३, १४)' इत्यभ्यासरेफलोपे ढ्रलोपे पूर्वस्य
(६, ३, १११) दीर्घत्वे च आरित इति । ण्यन्तस्य लुगभाव-
श्छान्दसत्वात् । स्तोमान् प्रति गतो यज्ञं प्रति गत इत्यर्थः ।
“य आरितः कर्मणि कर्मणि स्थितः (ऋ० सं० १, ७, १२, ४)” ॥

(५८) ग्रन्दी । ग्रन्दति नैरुक्तधातुः । 'गमेरिनिः (३० ४,
६)'—इति बाहुलकादिनिः । “शुष्णस्य चित्रं ग्रन्दिनो रोरुवद्
ग्रना (ऋ० सं० १, ४, १७, ५)” ॥

(५९) निष्पपी । 'पप समवाये (भू० पू०)'—इत्यस्मात्
स्पर्शत्यर्थे वर्त्तमानात् अलुनि सकारपकारविपर्ययः । स्पर्शश्चात्र
तद्वारकः सुखातिशयोऽभिप्रेतः । सपति स्पर्शति सुखयतीति
सपः, निःपूर्वः, निष्पपा इति प्राप्ते निष्पपी । “मा नो
मघेव निष्पपी परा दाः (ऋ० सं० १, ७, १८, ५)” ।
यदा विनिर्गतपसा इति पठन्ति, तदां सपेरपि विपर्यस्ताक्षरात्
'पुंसि सञ्ज्ञायां षः (३, ३, ११८)' । अर्थः स एव अन्यत् सर्वं
पूर्ववत् । अथापि विनिर्गतपसा इति पाठस्य प्राप्नुय्यात्
तमाश्रित्य स्कन्दस्वामिना व्याख्यातम् ॥

(६०) तूर्णाशम् । 'तूर्णाशमुदकं भवति । तूर्णमश्नुते (नि० ५, १६)'—इति भाष्यम् । तूर्णाशमित्यनघगतं शब्दतद्धातुतश्च उदकमभिधेयम् । तूर्णमश्नुते अत्यर्थं व्याप्नोति एवम् निर्वचनात् तूर्णाशब्दस्य क्रियाविशेषणत्वेनाकर्मत्वात् कर्मोपपदाभावात् को न स्यादिति चेत्,—अश्नुत इत्यशं तूर्णाश्च तदशब्दं तूर्णाशम् । “तूर्णाशं न गिरिरधि (ऋ० सं० ६, ३, १, ४)” ॥

(६१) क्षुम्पम् । 'क्षुम सञ्चलने (दि० प०)' । 'शकि लिङ् च (३, ३, १७२)'—इति शक्यार्थं ण्यत् । क्षोभ्यमिति प्राप्ते औकारस्य ह्रस्वत्वं, भकारस्य पकारो यकारलोपो भकारश्चोपजनः । अयत्नेनैव क्षोभयितुं शक्यम् । अहिच्छन्नकमुच्यते । “पदा क्षुम्पमिच स्फुटम् (ऋ० सं० १, ६, ६, ३)” ॥

(६२) निचुम्पुणः । 'घीणास्थूणग्रणभ्रूणभ्रूणघ्राणतृणघृणादयः'—इति निचान्तनियमनीचैः शब्दोपपदेभ्यः घ्रीणातिपृणातिपृणातिभ्यो णुक्प्रत्ययो धातूनां पुभावेऽणपदानां निचुम्पायश्च निपात्यते । नीचैरुपपदात् दधातेर्वा पुर्ययस्त्रिपातनम् । 'यमु भदने (दि० भा०)' । निचान्तो गश्चिनः घ्रीणातीति निचुम्पुणः सोमः । “अपां जामिर्निचुम्पुणः (ऋ० सं० ६, ६, २५, २)” । नियमेन चम्यते इति निचमनमुदकं, तेन पूर्यते इति समुद्रः । निगमः पर्येष्यः । नीचैरस्मिन् कणन्ति नीचैः शब्देनात्र कर्म कुर्वन्ति इत्यपभृथो निचुम्पुणः । “अपभृथनिचुम्पुण (य० घा० सं० ८, २७)” ॥

(६३) पदिम् । 'पत्ल गती (भू० प०)' । 'इन् सर्वधा-
तुभ्यः (उ० ४, ११४)' । पदिः पक्षी । आकाशे ह्यसौ नित्यं
पत्यते गच्छति । "मुक्षीजयेव पदिमुत्सितानि (ऋ० सं० २,
१, १०, २)" ॥

(६४) पादुः । पद्यतेः 'छन्दसीणः (उ० १, २)'—इति
बाहुलकादुण् वृद्धिः । पदनं पादुः । "स पादुरस्य निर्णिजो न
मुच्यते (ऋ० सं० ७, ७, १६, ४)" ॥

(६५) वृकः । व्युपसर्गार्थविशिष्टाद्, वृणोतेः 'सुवृभूशुवि-
मुविभ्यः कित् (उ० ३, ३६)'—इति कप्रत्ययः । वृकश्चन्द्रमाः ।
विवृतं स्पष्टज्योतिष्मत्त्वात् विवृत इत्युच्यते, न हि नक्षत्राणा-
मिषाव्यक्तमस्य ज्योतिः । विवृतविक्रान्तशब्दयोर्वृकभाषः ।
विवृतत्वं ज्योतिषः शीतत्वात् हासवृद्धिभ्यां वा । विक्रान्तत्वं
ज्योतिषो दिगन्तरगमनात् । "अरु णो मा सङ्गद्वृकः (ऋ०
सं० १, ७, २३, ३)" । यद्वा, 'यृजी वर्जने' अदादिः । अनै-
कार्थत्वादावृणोत्यर्थः । पूर्वसूत्रेण बाहुलकात् को नकारजफा-
रलोपश्च । आदित्य उच्यते । आवृङ्क्ते आवृणोति जगत्
प्रकाशेन, आवृणोति चोदकानि रश्मिभिः सम्भजत इत्यर्थः । यद्वा,
वृणक्तेर्वधकर्मणः पूर्ववद्रूपम् । चिनाशयति तमांसि । "भास्वो
यत्सोममुञ्चतं वृकस्य (ऋ० सं० १, ८, १६, १)" । विविधं
वृन्तति उरणादीनि विकर्त्ता सन् वृकश्च । विपूर्वात् वृन्ततेः
पूर्ववद्रूपसिद्धिर्ह्येता । "वृकश्चिदस्य चारण उरामथिः
(ऋ० सं० ६, ४, ४६, ३)" । अपि घाशृगाली शिवेति प्रसिद्धा

सा शुकपुत्र्यने । “शर्तं मेघान् चक्रे चक्षुर्दानम् (ऋ० सं० १, ८, ११, १)” ॥

(६६) जोषयाकम् । ‘जुषी प्रीतिसेवनयोः (तु० भा०)’
कर्मणि घञ्, घञेमांश्च । जोषयितव्यं घञनम् । विस्पृष्टाय
नेषितव्यं घञनम् । अविस्पृष्टं घञनमित्यर्थः । “जोषयाकं
घटतः पञ्चद्वेष्टिणा (ऋ० सं० ४, ८, २५, ४)” ॥

(६७) कृत्तिः । कृत्तनेः ऋप् । यशोऽश्रया । यशो दि
क्षिप्यः कृत्तति दुर्मत्तं यात्रं मायादि भोक्तागम् । “मही च कृत्तिः
शरणा त इन्द्र (ऋ० सं० ६, ६, १३, ६)” । शरीरान् कृत्तति
चर्ममल्पपि कृत्तिः । मृत्रमल्पपि कृत्तिः क्षान्दुषस्त्रगण्डप्रधितत्त्वान्
कननमामान्यात् । कृत्तिरिषि कृत्तिः शन्द्राख्यने । “कृत्तिं यस्तान्
भाग्यर (ग० घा० सं० १६, ५१)” ॥

(६८) द्यप्ती । म्यशब्दे कर्मण्युपपदे भूनेऽर्थे ‘कर्मणि हतः
(३, २, ८६)’—इति निनिप्रत्ययः । म्यं धनं हतवान्, म्यगती
मन्, द्यप्ती कितयः । म्यशब्दः म्यधेत्यत्र (१४५, १०) व्याख्यातः ।
“कृत् न द्यप्ती पिबिनोति देवने (ऋ० सं० ७, ८, २४, ५)” ॥

(६९) समस्य । समशब्दः स्वयंप्रयायः स्वयंतामसु पश्यने
‘त्यस्य सममिर्मनेमेत्यनुशानि (हि० ४)’—इति स्वयंनुदानः ।
“मा तः समस्य दुष्टाः” (ऋ० सं० ६, ५, २५, ४) । “उत्त-
प्याली भगवतः समस्यम् (य० घा० सं० ३, २६)” । “उत्त
सममिधामिरीति नो घनोः (ऋ० सं० ६, २, २, ३)” ।
“नक्षत्रामन्धके समे (ऋ० सं० ६, ३, २२, १)” ॥

(७०) कुटस्थः । (७१) चर्पणिः । कृतशब्दस्य कुटभाषः । कुप्रर्थात् कुट्टेः कप्रत्यय इत्यन्ये । चर्पणिशब्दो व्याख्यातः पश्यतिकर्मसु (३३३ पृ०) । “पिता कुटस्थ चर्पणि (ऋ० सं० १, ३, ३३, ४)” ॥

(७२) शम्यः । व्याख्यातं शम्यर इति मैघनामसु (८३ पृ०) । “उग्रो यः शम्यः पुरुहूत तेन (ऋ० सं० ७, ८, २३, २)” ॥

(७३) केपयः । कुशब्दोपपदात् पुनातेः ‘अनिपुणकृतिभ्यः क्यप्’—इति बाहुलकात् क्यप्, कोः कादेशः । कपूयः दुःपूयः दुःशोध्यः दुःकामेत्यर्थः । कपूयेन तद्वन्तोऽपि कपूयाः, अकारो मत्वर्थीयः । कुत्सितकर्माण उत्थापितपापकर्माणो घोच्यन्ते । कपूयाः सन्तः केपयः । “ई मैघते न्यविशन्त केपयः (ऋ० सं० ७, ८, २७, १)” ॥

(७४) तूतुमाकृषे । ‘तूतुमेत्यस्य शीघ्रागत्यर्थस्य तूर्णमित्य-
क्षमः’—इति स्वप्नस्वामी । निर्याहो निरुपणीयः । करो-
तेर्लटि ‘धासः सं (३, ४, ८०)’ उप्रत्ययस्य ‘बहुलं छन्दसि (२,
४, ७३)’—इति लुक् कुरूप इत्यर्थः । “यता विद्या सधना
तूतुमा कृषे (ऋ० सं० ८, १, ६, ६)” ॥

(७५) अंसत्रम् । आङ्पूर्वाद्धन्तेःसुनि ङिलोप आकारस्य
हसत्वं च । आहन्तीत्यंहः पापम् । पापेन घात्र तन्फलभूत-
प्रहारादिकं लक्ष्यते । अंहसस्त्रायन्ते । ‘धातोऽनुपसर्गे कः
(३, २, ३)’—इत्यंहसस्त्रं सद्दंसत्रम् । धनुर्वा कघचञ्च ।
“अंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम् (ऋ० सं० ८, ५, १६, १)” ॥

(७६) काकुदम् । कौतेः शब्दकर्मणो यङि, वनाद्यञि, 'यङोऽचि च (२, ४, ७४)'—इति यङ्लुकि, द्विर्वचनादौ, 'न धातुलोप आर्जधातुके (१, १, ४)'—इति गुणनिषेधः । 'कोकृयते पुनः पुनः शब्दं करोतीति काकुजिह्वा । कोकुवाधानं सङ्घर्षणम्-स्यादिना काकुदं तालुः । कोकृयमाना नुदतीति वा । कोकृयतेन नुदश्च काकुदम् । "अनुश्रन्ति काकुदम् (ऋ० सं० ६, ५, ७, २)" ॥

(७७) यीरिटे । मियो वा नक्षत्रादीनां घामासस्ततिस्ततनं यस्मिन् । तत् भोतननं भास्ततनं वा सत् यीरिटमन्तरिक्षम्, मनुष्यगणो वा अनालम्येऽन्तरिक्षे हि भोतिः कस्य न जायते, घृह्नन्ते यतो हि तस्मात्तत्रापि तद् भयं । "भा विष्यती व यीरिट इयाते (ऋ० सं० ५, ४, ६, २)" ॥

(७८) अच्छ । निपातः । अमेर्यं । आभिमुख्यार्थं वर्तते । आप्नुमित्यर्थार्थे इति शाकपूणिः ॥

(७९) परि । (८०) ईम् । (८१) सीम् । इति व्याख्या-तानि प्राथमिके निपातनाकरणे (नि० १, ३ पृ०) अनेकार्थत्वादिहोपन्यासः । एषामुदाहरणानि प्रसिद्धानि ॥

(८२) एनम् । (८३) एनाम् । एतन्पदद्वयमस्या अन्येत्यनेन पदद्वयेन 'उदात्तम् प्रथमादेशे, अनुदात्तमन्वादेशे'—इत्येवं व्याख्यातम् (नि० ४, २५) । अनेकार्थत्वादुपन्यासः । "ध्रित एनमायुनम्"—इत्येवमादीन्युदाहरणानि ॥

(८४) रुणिः । 'रु गतो (भू० पृ०)' । 'वृषुषुक्षिप्रच्छिञ्च-रित्यरिभ्यः कित्'—इति णिप्रत्ययः । लघित्वं प्रति सरणात्

सृणिशब्देनात्र दात्रमभिप्रेतम् ॥ “नवीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्
(य० वा० सं० १२, ६८)” ॥

इति चतुर्गतीति पदानि ॥ २ ॥

आशुशुक्षणिः (१) । आशाम्यः (२) । कार्शिः
(३) । कुणारुम् (४) । अलातृणः (५) । सललूकम्
(६) । कटपयम् (७) । विस्रुहः (८) । वीरुधः (९) ।
नक्षद्वाभम् (१०) । अस्कृधोयुः (११) । निश्रुम्भाः
(१२) । वृवदुक्थम् (१३) । ऋदूदरः (१४) ।
ऋदूपे (१५) । पुलुकामः (१६) । असिन्वती
(१७) । कपना (१८) । भाक्ज्जीकः (१९) ।
रुजानाः (२०) । जूर्णिः (२१) । ओमना (२२) ।
उपलप्रक्षिणी (२३) । उपसि (२४) । प्रकलवित्
(२५) । अभ्यर्धयज्वा (२६) । ईक्षे (२७) ।
क्षोणस्य (२८) । अस्मे (२९) । पाथः (३०) ।
सवीमनि (३१) । सप्रथाः (३२) । विदथानि (३३) ।
श्रायन्तः (३४) । आशीः (३५) । अजीगः (३६) ।

अमूरः (३७) । शशमानः (३८) । देवोदेवाच्या-
 कृपा (३९) । विजामातुः (४०) । ओमासः (४१) ।
 सोमानम् (४२) । अनवायम् (४३) । किमीदिने
 (४४) । अमवान् (४५) । अमीवा (४६) ।
 दुरितम् (४७) । अप्लवे (४८) । अमतिः (४९) ।
 श्रुष्टी (५०) । पुरन्धिः (५१) । रुद्रात् (५२) ।
 रिशादत्तः (५३) । सुदत्रः (५४) । सुविदत्रः
 (५५) । आनुपक् (५६) । तुर्वणिः (५७) ।
 गिर्वणाः (५८) । असूक्ते सूक्ते (५९) । अन्यक्
 (६०) । यादृशिमन् (६१) । जारयायि (६२) ।
 अग्रिया (६३) । चनः (६४) । पचता (६५) ।
 शुरुधः (६६) । अमिनः (६७) । जड्भक्तीः (६८) ।
 अप्रतिष्कृतः (६९) । शाशदानः (७०) । स्रप्रः
 (७१) । सुशिप्रः (७२) । रंसु (७३) । द्विचर्हाः
 (७४) । अक्र (७५) । उराणः (७६) । स्तियानाम्
 (७७) । स्तिपाः (७८) । जवारु (७९) । जरुथम्

(८०) । कुलिशः (८१) । तुञ्जः (८२) । बर्हणा
 (८३) । ततनुष्टिम् (८४) । इलीविशः (८५) ।
 कियेधोः (८६) । भृमिः (८७) । विष्पितः (८८) ।
 तुरीपम् (८९) । रास्पिनः (९०) । ऋञ्जतिः (९१) ।
 ऋजुनीती (९२) । प्रतद्वसू (९३) । हिनोत
 (९४) । चोष्कूयमाणः (९५) । चोष्कूयते (९६) ।
 सुमत् (९७) । दिविष्टिषु (९८) । दूतः (९९) ।
 जिन्वति (१००) । अमत्रः (१०१) । ऋचीषमः
 (१०२) । अनर्शरातिम् (१०३) । अनर्वा (१०४) ।
 अस्मामि (१०५) । गल्दया (१०६) । जल्हवः (१०७) ।
 वक्रुरः (१०८) । वेकनाटान् (१०९) । अभिधेतन
 (११०) । अंहुरः (१११) । वतः (११२) । वाता-
 प्यम् (११३) । चाकन् (११४) । रथर्यति (११५) ।
 असक्राम् (११६) । आधवः (११७) । अनव-
 व्रवः (११८) । सदान्वे (११९) । शिरिम्बिठः
 (१२०) । पराशरः (१२१) । किर्विर्दती (१२२) ।

करुलती (१२३) । दनः (१२४) । शरारुः (१२५) ।
 इदंयुः (१२६) । कीकटेपु (१२७) । वुन्दः (१२८) ।
 वुन्दम् (१२९) । किः (१३०) । उत्त्वम् (१३१) ।
 ऋवोसम् (१३२) । ऋवोसमिमिति द्वात्रिंशच्छतं
 पदानि ॥ ३ ॥

जहासस्त्रिमाशुशुक्षणिस्त्रोणि ॥

इति निघण्टौ चतुर्थाध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

(१) आशुशुक्षणिः । शुचेर्ज्वलत्तिकर्मणः किपि शुक् वीप्तिः,
 क्षणिर्द्विसार्धः, 'इन् सर्पघातुभ्यः (३०४, ११४),—इतिन्, सनोतेर्घा
 इन् । आशु शुचा दीप्त्या क्षणिता द्विसिता तमसां सनिता
 सम्भक्ता वा पाके दाहप्रकाशनादेः स्वव्यापारस्य । अग्निरन्यते ।
 यथा, आङ्पूर्वाच्चदुचेरन्तर्जोतप्यर्थात् सनि आशुशुक्ष इति न्यते
 'आलि शुचेः सतः'—इति विहितः अनिप्रत्ययो चाहुलपाच्चदुचेरपि
 भवति । 'आलि शुचेः—इत्येव वा तत्र पाठः । आशु शोचयिषा
 आदीपयितुमिच्छा, तस्या कर्त्ता आशुशुक्षणिः आदीपयिषुरित्यर्थः ।
 "त्यमग्ने घृमिस्त्वमाशुशुक्षणिः (ऋ० मं० २, ५, १७, १)" ॥

(२) आशाभ्यः । व्याख्यातं दिङ्नामसु (६६ पृ०) । स एव
 निगमः (ऋ० सं० २, ८, ६, २) ॥

(३) काशिः । काशतेः 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतिनप्रत्ययः । प्रकाशयते इति काशिमुंष्टिः । “यत्संगृभ्णा मघयन् काशिरिति (ऋ० सं० ३, २, १, ५)” ॥

(४) कुणारम् । कणतेः शब्दकर्मणः 'कणेराः'—इति याहु-लकात् आरुप्रत्ययस्ताच्छीलिकः, वकारस्य सम्प्रसारणञ्च । शब्दन्शीलः कुणारः, तन्मेघ उच्यते । “अहस्त मिन्द्र सन्निपक् कुणारम् (य० वा० सं० १८, ६६)” ॥

(५) अलातृजः । अलंशब्दोपपदात् तुदेहिंसार्थात् 'धीणस्थूण-प्रणधूणधूणतूणतूणघृणादयः (उ० ३, १३)'—इति णप्रत्ययो वकारलोपो गुणाभावोऽलमोमकारस्याकारञ्च निपात्यते । यद्वा, लुटि वकारस्य लोपो गुणा भावश्च शृणोदरादित्यात् ॥ अलं पर्याप्तमातृर्दानं हिंसा यस्य, बहुदकत्वात् मेघो विशिष्यते । “अलातृणीयल इन्द्र वज्रो गोः (ऋ० सं० ३, २, २, ५)” ॥

(६) सललूकम् । सम्पूर्वाल्लुभेर्निष्ठायां 'लुभो चिमोहने (७, २, ५५)'—इतीडागमः । यद्वा, सत्तेः 'मण्डूकोलूकोलूक-शूफशामूकयूकयठकादयः (उ० ४, ४०)'—इत्यूकप्रत्यये गुणे एपरे कृते अरित्यस्य द्विषन्नेरेफयोर्लत्वापत्तिञ्च निपात्यते । सरणशीलमत्यन्तदूरं नष्टमित्यर्थः । रक्षो विशिष्यते । “आ कीचत सललूकं चकर्थ (ऋ० सं० ३, २, ४, २)” ॥

(७) कत्पयम् । कमिति सुखनाम । तस्य मकारस्य तकारः पयसश्च सलोपः । कत्पयसं सुखपयसमित्यर्थः । मेघोऽभिप्रेयः । “त्यच्चिदित्था कत्पयं शयानम् (ऋ० सं० ४, १, ३२, ६)” ॥

(८) चिष्णुः । चिपूर्वात् घञतेः क्विप् । विविधं भ्रषन्तीति

विमृहः आपः । “यथा इव रुहः संत विमृहः (ऋ० सं० ४, ५, ६, ६)” ॥

(६) वीरुधः । विपूर्वात् रुहेः किपि वेदीर्घो हकारस्य धकारश्च । मूलविभुजादित्यात् के विरुहाः सत्वः वीरुधः । विविधं रोहन्तीति औप्यय उच्यन्ते । “वीरुधः पारयिपूजवः (ऋ० सं० ८, ५, ८, ३)” ॥

(१०) नक्षदाभम् । नक्षतेर्गेतिकर्मणो व्यातिकर्मणो वा शतरि नक्षत्, दम्नोतीति दम्नोतेर्वधकर्मणः कर्मण्यपि नकारलोप-
कृच्छान्दसः, वृद्धिः । युद्धार्थमभिगच्छतां व्याप्नुवताञ्च शत्रूणां हन्तारमित्यर्थः । “नक्षदाभं तनुरि पर्वतेष्टाम् (ऋ० सं० ४, ६, १३, २)” ॥

(११) अस्फुषोयुः । दीर्घागुरित्यर्थः, निरस्थायी पुष्पपोषा-
न्यित इति यापत् । कृत्रियति हसनामसु व्याख्यातम् (३०५ पृ०) । नम्पूर्वम् धातोः सकार उपजनः, धुशब्दस्य धोभावः । यद्वा, नम्पूर्वात् करोतेर्निष्ठायामृत्तशब्दस्याभ्यासः, दधातेर्धिय-
तेर्था ‘इणो णित्’—इति यादुलकात् उल्लिख्यः, निष्ठाह
युगात्तमः, धकारस्य धोभावः । अरुतदानो यादृशो न कस्मि-
चित्पया दत्तपूर्व इत्यर्थः । अरुतयानो वा अनुत्तपूर्वः केनधि-
दित्यर्थः । धनचिरोप उच्यते । “यो अस्फुषोयुरत्तरः स्वर्वां
(ऋ० सं० ४, ६, १३, २)” ॥

(१२) निष्टम्भाः । निपूर्वात् ‘अपि शैथिल्ये (मृ० आ०)’
—इत्यस्मात् षम् । निर्गतः अथः शैथिल्यं यस्याः सा निष्प्रया

गतिः, अशिथिलया गत्या हरन्तीति 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, २०१)'—इति डः। अथशब्दस्य शृग्मावः। अशिथिलया यत्या हरणशीला अविश्रामहरणा इत्यर्थः। "निशृग्मास्ते-जनधियम् (ऋ० सं० ४, ८, २१, ६)"। आप्ये शृग्यशब्दः अथ शब्दपर्यायः (निरु० ६, ३) ॥

(१३) वृषदुक्थम्। वृहच्छब्दो व्याख्यातो महधामसु (३०८ पृ०)। तत्र हकारस्य यः। यद्वा, 'संश्चत्पद्वेहत् (उ० २, ७६)'—इति प्रधातोरतिप्रत्यये वृथच्छब्दो निपात्यते, उक्थशब्द उक्थ्य इत्यत्र व्याख्यातः (३५८ पृ०)। वृहद्वु चत्तव्यं वा उक्थं स्तुतिर्यस्य स वृहदुक्थः, तम्, स्तुत्यर्हमित्यर्थः। "वृषदुक्थ्यं हधामहे (ऋ० सं० ६, ३, २, ५)" ॥

(१४) ऋदूदरः। मृदु उदरमस्य। मृदुर्वा धमन्यिरेषतयो-रकत्ता उदरे अस्तु इत्येवं य आशास्यते यजमानैः स मृदूदरः सोमः, आदेर्मकारस्य लोपः। "ऋदूदरेण सव्या सचेम (ऋ० सं० ६, ४, १२, ५)"। सोमपायिनः प्रायश्चित्तेष्टी याज्येया ॥

(१५) ऋदूपे। 'अर्धे अर्धने' हिंसार्थः। 'छन्दसीणः (उ० १, २)'—इति बाहुलकादुण् घातोर्द्धादेशः, ऋदुराद्भो-पपदे पतेरन्तर्णीतण्यर्थात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (२, २, १०१)'—इति डः, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। यादुविदोपणमेतन्। शत्रूणामर्धनेन पातयितारो। "ऋदूपे चिद्वृद्धा (ऋ० सं० ६, ५, २०, ६)" ॥

(१६) पुलुकामः । पुर्व्वहुकामो यस्य सः । कपिलकादित्वा
ल्लुत्यम् । “पुलुकामो हि मर्त्यः (ऋ० सं० २, ४, २२, ५)” ॥

(१७) असिन्यती । ‘पिञ् वन्धने (स्वा० उ०)’ । अनेका-
र्थत्वाद्वातूनामत्र सङ्ख्यादनार्थः । लट्ः शतरि श्लुः । ‘उगितश्च
(४, १, ६)’—इति ङीप्, पूर्व्वसचर्णदीर्घः । असङ्ख्यादन्त्यादित्यर्थः ।
हन् विशेप्यते । “असिन्यती यप्सती भूर्यन्तः (ऋ० सं०
८, ३, १४, १)” ॥

(१८) कथना । ‘कपि चलने (भू० आ०)’—इत्यस्मात्
‘युच् यहुलम् (उ० ४, ७४)’—इति युचि याहुलकादागमानि-
त्यत्वान्नुम् न क्रियते । घुणाः किमय उच्यन्ते । “मोपथा
वृक्षङ्कपनेय वैधसः (ऋ० सं० ४, ३, १५, १)” ॥

(१९) भाऋजीकः । ऋजुका अकुटिला अप्रतिहता प्रसिद्धा
भा दीतिर्यस्य स ऋजुकभाः सन् भाऋजीकः । अग्निरुच्यते ।
“धूमकेतुः समिधा भाऋजीकः (ऋ० सं० ७, ६, ११, २)” ॥

(२०) रुजानाः । व्याख्यातं नदीनामसु (१५१ पृ०) । स.
निगमः (ऋ० सं० १, २, ३७, १) ॥

(२१) जूर्णिः । व्याख्यानं क्रोधनामसु (२४६ पृ०) । अत्र
सेनाभिधेया । “क्षिप्ता जूर्णिर्न वक्षति (ऋ० सं० २, १,
१७, ३)” ।

(२२) ओमना । अवनशब्दस्याकारधकारपोरोकारमकारो
विभक्तेगकारः । अचनाय अचनेन वा । “पचिंस्समोमना यां.
घयोगात् (ऋ० सं० ५, ५, १६, ४)” ॥

(२३) उपलप्रक्षिणी । उपलशब्दोपपदात् क्षिणोतेः क्षिपतेर्वा 'सुप्यजातौ (३, २, ७८)'—इति णिनिप्रत्यये व्यत्ययेन टिलोपः । उपलेषु शृङ्खलेषु घालुकासु यवान् क्षिणोति दिनस्ति भृञ्जतीत्यर्थः, उपलेषु यवान् प्रक्षिपति चूर्णयतीत्यर्थः । सक्तुकारिकाभिधेया । “उपलप्रक्षिणी नना (ऋ० सं० ७, ५, २५, ३)” ॥

(२४) उपसि । उपस्थशब्दस्य । “आसीन ऊर्ध्वं मुपसि क्षिणाति (ऋ० सं० ७, ७, १७, ३)” ॥

(२५) प्रकलचित् । प्रकर्णेन कलाः मानोन्मानप्रतिमानाः दिविपयाः प्रकृष्टाश्चगणितरत्नपरीक्षादिका वेद विजानाति । ‘सत्सूक्ष्मि (३, २, ६१)’—इत्यादिना किपि ‘इयापोः सप्रज्ञा-च्छन्दसोर्वहुलम् (६, ३, ६३)’—इति ह्रस्वः । प्रकलचिद्व घणिग् भवति । “दुर्मित्रासः प्रकलचिन्मिमानाः (ऋ० सं० ५, २, २६, ५)” ॥

(२६) अभ्यर्धयञ्चा । ‘अधु घृद्धौ (वि० प०)’ । णिजन्तात् पचाद्यचि णिलोपे अभ्यर्ध, यजेदार्थार्थात् ‘सुयजोर्धनिप् (३, २, १०३)’ अल्पानपि रसान् अभ्यर्धयन् मरुद्भ्यो ददाति धनं वा स्तोतृभ्यो यो ददाति सः । पूया विशेष्यते । “सिपक्ति पूया अभ्यर्धयञ्चा (ऋ० सं० ४, ८, ८, ५)” ॥

(२७) ईशे । ईश ऐश्वर्य्ये (अदा० आ०) । ‘थासः से (३, ४, ८०)’ । व्यत्ययेन ईशसे न भवति । “ईशे हि घस्य उभयस्य राजन् (ऋ० सं० ४, ६, ८, ५)” ॥

(२८) क्षोणस्य । ‘क्षि निवासगत्योः (तु० प०)’ । ‘घृत्यत्युदो यदुलम् (३, ३, ११३)’—इति कर्त्तरि न्युद् । क्षणम्येत्यत्र

यकारस्योकारे 'आहुगुणः (६, १, ८७)' । निवसितुरित्यर्थः ।

“महः क्षोणस्यभियना कण्वाय (ऋ० सं० १, ८, १४, ३)” ॥

(२६) अस्मे । अस्मदः । जसादीनां शो प्रगृह्य, लुवेव
शेः । जसादिषु सुयन्तेषु कामेणोदाहरणानि,—“अस्मे ते
यन्तुः (य० घा० सं० ४, २२)” “अस्मे यातं नासत्या सजोषाः
(ऋ० सं० १, ८, १६, ६)” “अस्मे समानेभिर्युषम पाँत्येभिः
(ऋ० सं० २, ३, २५, २)” “अस्मे प्रयन्धि मघघन्नृजीपिन्
(ऋ० सं० ३, २, २०, ५)” “अस्मे आराशिद्वहेपः सनुतर्पूयोतु
(ऋ० सं० ४, ७, ३२, ३)” “ऊर्च इव पप्रथे कामो अस्मे
(ऋ० सं० ३, २, ४, ४)” “अस्मे घस्त यस्तवो घस्ति (य० घा०
सं० ८, १८)” ॥

(३०) पाथः । पथतेः पन्थतेर्वा गत्यर्थादसुनि धातूनां
पाथ इत्ययमादेशः । पथ्यते गम्यते पथ्यादिमितन्तरिक्षपासिभिर्वा
पाथः । अन्तरिक्षम् । “श्येनो न दीयन्तन्वेति पाथः (ऋ० सं०
५, ५, ५, ५)” । उदकमपि पाथः । ‘पियतेस्थुद्वच’—इत्युसुम् ।
पीयते ॥ दकम् । अग्ने पियतिरभ्यवहारार्थः । “आचष्ट आसां
पाथो नदीनाम् (ऋ० सं० ५, ३, २५, ५)”—इत्युदकस्य । “देवानां
पाथ उप प्रविहान् (ऋ० सं० ८, २, २२, ४)”—इत्यन्नस्य ॥

(३) सचीमनि । ‘सु प्रसवेयैश्वर्ययोः’ (मू० प०) । ‘हभृ-
धृसुस्तृशृम्य इमनिच् (उ० ४, १४३)’—इति इमनिच् । प्रसव-
शब्दस्य एव घर्णव्यत्ययादिना । प्रसवेऽप्यनुजाने । “देवस्य वयं
सचितुः सचीमनि (ऋ० सं० ५, १, १५, २)” ॥

(३२) सप्रथाः । प्रथतेरसुन् । सर्वतश्चान्वस्य सभावः । सर्वतः पृथुः । “त्वमग्ने सप्रथा असि (ऋ० सं० ४, १, ५, ४)” ॥

(३३) विदयानि । विदेरथक् (उ० ३, १११) । वेदनानि विज्ञानानीत्यर्थः । “विदयानि प्रचोदयन् (ऋ० सं० ३, १, २६, २)” ॥

(३४) श्रायन्तः । ‘श्रिञ् सेवायाम् (भू० आ०)’ । शतरि शपि गुणे प्राप्ते व्यत्ययेन वृद्धिः । समाश्रयन्तः । यद्वा, भूते ल्युट् । समाश्रिताः । “श्रायन्त इव सूर्यम् (ऋ० सं० ६, ७, ३, ३)” ॥

(३५) आशीः । आङ्पूर्वात् श्रयतेः शृणोतेर्वा ‘क्रियवि-
प्रच्छि (३, २, १६८ वा० १)’—इत्यत्र ‘आक् प्रत्ययनिर्देशादि-
एसिद्धिः (भा०)’—इत्युक्ते किपि प्रवृत्तेः शीरादेशः । यद्वा,
एतेयोरर्थे वर्तमानात् शृणातेः किपि शीरशब्दे निर्वाहः । आङ्
इपदर्थद्योतकः आश्रयणात् होमार्थस्य सोमस्य श्रपणं दध्युच्यते ।
“इन्द्राय गाध आशिरम् (ऋ० सं० ६, ५, ६, १)” । ‘आङः शास्तु
इच्छायाम्’ इत्यस्मात् किपि । “सा मे सत्याशीर्देवान् गम्यात्”
रेफान्तसकारान्तयोरपि साधारणं पाठः सामानाये ॥

(३६) अर्जीगः । ‘जिगर्तिर्निरुक्तधातुर्निगरणार्थो वा ग्रहणार्थो
वा । लङि, सिपि, इतश्च लोपे, ‘यत्सस्य (८, १, २४)’—इति
सलोपः, रेफस्य चिसर्जनस्थः । अयगिरति, गृह्णाति वा । भक्षय-
तीत्यर्थः । “आदिद्विप्रसिष्ट ओषधीर्जीगः (ऋ० सं० २, १२, २)” ॥

(३७) अमृत् । ‘मुह वैदित्ये (दि० प०)’ । निष्ठायाम्
उत्पम्, ष्टुत्यदलोपदीर्घाः, ढफास्य रेफः, नञ्पूर्वः सम्युद्धा-

अमूर । अमूदेत्यर्थः । “मूरा अमूर न वयं चिकित्वाः (ऋ० सं० ७, ५, ३२, ४)” ॥

(३८) शशमानः । व्याख्यातोऽर्चतिकर्मसु (३३८ पृ०) । स निगमः (ऋ० सं० २, २, २१, २) ॥

(३९) देयोदेवाच्या कृपा । देयशब्दोपपदात् अञ्जतेः ‘ग्रहत्विग् (३, २, ५६)’—इत्यादिना किन्, ‘अनिदिताम् (६, ४, २४)’—इति, नलोपः ‘अचः (६, ४, १३८)’—इत्यकारलोपः, (६, ३, १३८)’—इति दीर्घे ‘अञ्जतेश्चोपसङ्ख्यानम् (४, १, ६, था०)’—इति ङीप् ‘विष्णुदेवयोश्च टेङ्ग्यङ् च साधप्रत्यये (६, ३, ६२)’ न भवति, ‘रूप सामर्थ्ये (भू० भा०)’ किपि । देवान् प्रति गतया स्तुत्येत्यर्थः । “देयोदेवाच्या कृपा (ऋ० सं० २, १, १२, १)” ॥

(४०) विजामातुः । धनादन्ये कुलीनत्यादयो विगतां जामातृगुणा यस्मात्, सोऽयमप्राप्तगुणो विजामाता कन्या-पतिरुच्यते । ततः पञ्चमी । “विजामातुरुक्त वा वा स्यालात् (ऋ० सं० १, ७, २८, २)” ॥

(४१) ओमासः । अघतेः पालनार्थस्य तर्पणार्थस्य वा फर्त्तदि कर्मणि वा ‘अचिसिचिसिशुपिम्यः कित् (उ० १, १४१)’—इति मन्प्रत्यये ‘ञ्वरत्वर (६, ४, २०)’—इत्यादिना ऊठि ऊमास इति प्राप्ते व्यत्ययेन गुणः । जस् । ‘आञ्जसेरसुक् (७, १, ५०)’ । रक्षितारस्तर्पयितारस्तर्पणीयाः । “ओमासश्चर्पणी धृतः (ऋ० सं० १, १, ६, १)” ॥

(४२) सोमानम् । सुनोतेर्मनिप्रत्ययः । अमि सोमानम् । सोतारम् । अभियोतारं सोमानाम् । “सोमानं स्वरणम् (ऋ० सं० १, १, ३४, १)” ॥

(४३) अनवायम् । (४४) किमीदिने । अनवयवशब्दस्यानवाय-
भायः । अनवयवं सकलमित्यर्थः । किमिदानीं कस्य किञ्चिदिति
चरति, किमिदं वर्तत इति वा चरति । साधुजनवैरी सदा विरुद्ध-
बुद्धिः पिशुनोऽभिधेयः । किमिदंशब्दस्य चाक्यस्य वा किमीदिन-
भावः । “द्वेपो धत्तमनवायं किमीदिने (ऋ० सं० ५, ७, ५, २)” ॥

(४५) अमवान् । अमा सहार्थाव्ययम् । तस्य मतुपि ह्रस्वः
ससहायः । यदुवा. ‘अम रोगे (चु० प०)’ । ‘पुंसि सञ्ज्ञायां
घः (३, ३, ११८)’ । अमो रोगः कर्त्तव्यः शत्रूणां, रोगैस्तदुवाच,
दस्यूनां रोगभूत इत्यर्थः । आत्मशब्दस्य वा अमभावः । यत्नवान्
‘आत्मा र्जाये यत्ने कलौ मनी चातपि—इति निघण्टुः । “याहि
राजे घामवाँ इमे न (ऋ० सं० ३, ४, २३, १)” ॥

(४६) अमीवा । ‘अम रोगे (चु० प०)’ । ‘अमेरीयः’—इति
ईयप्रत्ययः । टाप् । अमीवा रोगः हिंसिता वा । यदुवा,
‘शेचयहजिह्वाग्रीवाप्यामीवा (उ० १, १५२)’—इति घनप्रत्ययान्तो
निपात्यते । “यस्ते गर्भममीवा (ऋ० सं० ८, ८, २०, २)” ॥

(४७) दुरितम् । दुर्मतिप्रापकं कारणभूतम् । ‘पापकं कर्म
दुरितमुच्यते, । “अतिक्रामन्तो दुर्गितानि विश्वा (निरु० ६,
१२)” । दुःशब्दोऽत्र दुर्मतो घर्त्तने । ‘इणश्चिष्टुविभ्यः कः’
इति घाहुलकात् करणे कः । दुर्मतिर्गम्यते येन तत् दुरितम् ॥

(४८) अपृथे । अपपूर्वात् वेङ्घ्रातोऽन्तर्णीतप्यधात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डप्रत्यये अपेत्यस्यान्त्यलोपश्चा-
न्दसः । टाप् । अपचयति अपगमयति सुखं प्राणाञ्चेत्यर्थः ।
'शेषयद्द्विजिह्वाप्रीवापूचामीषा (३० १, १५२)'—इति चनप्रत्यये
घेभो लोपोऽपशब्दस्यान्तलोपश्च निपात्यते । व्याधिर्या मयं धा
अपृषा । "गृहाणाङ्गान्यपृथे परे हि (ऋ० सं० ८, ५, २३, ६,)" ॥

(४९) अमतिः । अमाशब्द आत्मव्यञ्जनः । आत्ममयी तति-
र्मतिर्या अमतिः । तन्वत् इति ततिर्दीप्तिः । मतिरपि प्रकाश-
रूपत्वाद् दीप्तिः । आत्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्या अमतिः
दीप्तिरभिधेया । अमाततिशब्दस्य आरममतिशब्दस्य वा अम-
तिमायः । सचित्त्विशेषणत्वाद्वात्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्या

३ २३ ३ २ ३ १ २३ ३

अमतिरित्युपपद्यते । 'ऊहृष्या यम्या मतिर्मा अदिद्युतन् (सा० छ०
आ० ५, २, ३, ८)' ॥

(५०) ध्रुष्टी । (५१) पुरन्धिः । अश्रोतेः 'हृष्टृषिकर्षिषर्षि-
मुविशात्तुष्यशिष्याम्यः कित्' । 'हृष्टिकारादकित्त्विः (४, १, ४५,
ग० घा०)'—इत्यत्र खियां विहितस्य ग्रहणान् चिकल्पो टीप् ।
श्रु यष्टि व्याप्तिरत्र ध्रुष्टो । पुरशब्दो बहुनाम । धीगिति कर्मनाम,
प्रज्ञानाम वा । यदुकर्मा यदुप्रज्ञौ वा पुरुषिः सन् पुरन्धिः ।
पुराणि दारयतीति वा पुरन्धिः । 'घेभो डित्'—इति बाहुल्यकान्
डिदिन्प्रत्ययः, दकारस्य घकारः, नकार उपजनः । भृगो धरुण
इन्द्रश्च पुरन्धिः । "ध्रुष्टी मयं नामत्या पुरन्धियम् (ऋ० सं० ५, ४,

६, ४) ” । ध्रुष्टीशब्दः सुखस्याभिधायको धान्यशलाकायाश्च ।
 “ध्रुष्टीचरीभूत नास्मभ्यमापः (ऋ० सं० ७, ७, २६, १) ”—इति
 सुखस्याभिधायकः । “ध्रुष्टी सहरा असह्यः”—इति धान्य-
 शलाकायाः ॥

(५२) रूशत् । ‘रूच कीर्तौ (भू० आ०)’ । ‘संश्चतृम्पद्वेहत्
 (उ० २, ७६)’—इति अतिप्रत्ययो गुणामावश्च चकारस्य शकारश्च
 निपात्यते । रोचते रूशत् घर्णविशेषो ज्वलनाविभूतप्रकाशरूपोऽ-
 भिधीयते । यद्वा, रुशोर्हिंसार्थास्तुदादेः रोचत्यर्थे घर्त्तमानाह्णद्
 शतरि । “समिद्धस्य रूशददर्शि पाजः (ऋ० सं० ३, ८, १२, २)” ॥

(५३) रिशादसः । ‘रिश हिंसायाम्’ तुदाविः । अन्तर्णी-
 तण्यर्थः । लट्ः शतरि छान्दसो दीर्घः । अस्यतेर्यिच् । रिशातां
 शत्रूणां वा असितारः क्षेप्तारः नाशयितार इत्यर्थः । “अस्ति हि
 यः सजात्यं रिशादसः (ऋ० सं० ६, २, ३२, ५) ” ॥

(५४) सुदत्रः । सुपूर्वात् ददातेः पृन्, पृति याहुलकात्
 ह्रस्वत्वम् । सुदानः । “त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायः (ऋ० सं०
 ५, ३, २७, २) ” ॥

(५५) सुविदत्रः । सुपूर्वात् ‘विद ज्ञाने (अदा० ५०)—
 इत्यस्मात् ‘अमियजित्यधिपतिकलिनश्मियोऽत्रन्’—इति याहु-
 लकादत्रन्प्रत्ययो गुणामावश्च । सुविद्यत इत्यर्थः । “आत्ने-
 यामिः सुविदत्रे मिरर्धाङ् (ऋ० सं० ७, ६, १८, ३) ” ॥

(५६) आनुयक् । अनुपूर्वात् ‘यञ सङ्गे (भू० प०)’—
 इत्यस्मात् किपि ‘अनिदिताम् (६, ४, २४)’—इति नलोपः,

अनोरकारस्य दीर्घश्छान्दसः । अनुपसृप्युपरि लानमित्यर्थः ।

“स्तृणन्ति वहिरानुपक् (ऋ० सं० ६, ३, ४२, २)” ॥

(५३) तुर्वणिः । तूर्णशब्दोपपदात् घनोतेः ‘इन् सर्वथांतुभ्यः

(३० ४, ११४)’—इतीन् । तूर्णं घनोति सम्मज्जने । तूर्णवनिः ।

“स तुर्वणिर्महां अरेणु षींभ्ये (ऋ० मं० १, ४, २१, ३)” ॥

(५८) गीर्वणाः । गीःशब्दोपपदात् घनोतेर्ण्यन्तादनुनि

घनेर्घटादित्येन मित्सञ्ज्ञाकत्वात् ह्रस्वत्वम् । गीर्वण इति प्राप्ते

दीर्घाभाष्यछान्दसः । निघण्टुकारपठितर्गाद्यांशश्चदेन समा-

नार्थः । अतो द्वयोऽभिधेयः । स्तोतुरमिमत्प्रदानादात्मानं

स्तोतुभिः सम्मज्जयति । भाष्ये तु (निरु० ६, १४) ‘गीर्भिरेन

घनयन्ति’—इत्यर्थनिर्वचनमिति स्फुटं गम्यते । श्रीनिवासस्तु

स्वार्थे निष् । गीर्भिरेन घनयन्ति । “जुष्टं गीर्वजसे वृहन्

(ऋ० सं० ६, ६, १२, ७)” ॥

(५९) असूर्ते सूर्ते । असुशब्दपूर्वस्य सुशब्दपूर्वस्य ॥ ‘ईर

गतौ (अदा० आ०)’—इत्यस्य निष्ठायां छान्दसत्वादिङभाषे

ईकारस्य पूर्वसवर्णे पूर्वत्र दीर्घश्छान्दसत्वात् । समस्यैकघचनम् ।

असुः प्राणः । प्राणश्च घातः । घातसर्मागिता मग्नादयो हि

सेव्याः । सूर्ते इति रजसीत्यस्य विशेषणम् । सुसमीरिते मृष्टः

प्रेरिते विस्तीर्णे रजसि अन्तरिक्षज्योतेऽपीत्यर्थः । असूर्ते सूर्ते

रजसि निगते (ऋ० सं० ३, १, ७, ४)” ॥

(६०) अम्यक् । माशब्दद्वितीयैकघचन उपपदे अञ्जतेः क्तिप्

नकात्लोपे माशब्दस्य इदो द्रष्टव्योऽकारोपजनेन च माग्यम् ।

आयुधाख्या शक्तिरभिधेया क्षिप्ता सती मां प्रति इव गता ।
यद्वा, अभिपूर्वादञ्चतेः किनि अम्यक् सती मकारस्य मकारापत्त्या
अम्यक् । शत्रून् प्रत्यभिगता । यद्वा, अमाशब्दः सहार्थे
निपातः । अमाक् सती अम्यक् सहभूता । “अम्यक् सा त
इन्द्र ऋषिरस्मे (ऋ० सं० २, ४, ८, ३)” ॥

(६१) यादृश्मिन् । यादृशो इत्यर्थः “यादृश्मिन् धायितमप-
स्पयाचिवत् (ऋ० सं० ४, २, २४, ३)” ॥

(६२) जारयायि । उल्लिखिशेषणम् । तेन व्यत्ययेन तपु-
सकत्वावगमः । ततश्चेदं नाख्यातम् । जार इत्यस्य वा धातो-
रैवम्भूतस्याख्यातस्यासम्भवात् । निघातप्रसङ्गश्च । अन्ये तु
जनेरपत्याभिगतमाख्यातमेतदिति गम्यते । ततश्च जारयायि
अजायतेत्यवगमः इत्युक्त्वा मन्त्रव्याख्याने निघातप्रसङ्गस्य
भिन्नधाक्यत्वेन धाक्यादित्वादुदात्तप्रतिपादनेन पठितत्वात् ।
अजायतेत्येष स्फुटस्वामिनोऽप्यवगमः । उल्लिखिशेषणधाविनां
जारश्चासौ यायीति जारयायि । गवां यौवनस्य जरपितृत्या-
जारत्वम् गवामभिगमनाद्वा यायित्वम् । “उल्लः पितेय जारयायि
यज्ञैः (ऋ० सं० ४, ५, १४, ४)” ॥

(६३) अग्रिया । अग्रशब्दोपपदात् यातिः ‘गृहेः कः (३, १,
१४४)’—इति बाहुलकात् कः । आकारस्येकारः । तृतीयैक-
वचनस्याकारः । यद्वा, अग्रमर्हति ‘छन्दसि च (५, १, ६७)’
—इति यप्रत्यये इकार उपजनः । अर्हार्थो वा घनि घस्य
इयादेशो विभक्तेराकारः । अग्राह्य । यद्वा, अग्रा पपाग्रिया ।

अग्रभूताग्र्या । “विश्वे अग्रियोत वाजाः (ऋ० सं० ३, ७, ३, ३)” ॥

(६४) चनः । (६५) पचता । पचतेल्युट् कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३) — इति कर्मणि ल्युटि पच्यत इति पचनम् । पचनशब्दस्य घकारलोपेनान्ते सकारोपजनेन चनः । अग्रम् । यद्वा, पचेरनुनि बाहुलकात् नोऽन्तादेशः । पचतेः ‘मृदृशिय-जिपचिवच्यमि’ भूतेऽपि दृश्यन्ते (३, ३, २) — इति पचनात् भूते द्रष्टव्यः । विभक्तेराकाट् । पकः पकौ पक्ता इति घाघगमः । पदान्तस्य बहुलसमर्थाद् विशेषनिश्चयः । “चनो दधिय्य पचतोत सोमम् (ऋ० सं० ८, ६, २१, ३)” — इति बहुवचनस्य । “तम्मेदस्तः प्रति पचताग्रमीष्टाम् (निह० ६, १६)” — इति द्विवचनस्य । “पुरोला अने पचतः (ऋ० सं० ३, १, ३१, २)” — इत्येकवचनस्य ॥

(६६) शुरुधः । शुरुं श्रुतिं तापं वा रुधत्यः । ‘अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)’ — इति क्तिप् । श्रुधुधः शुरुधः । “अतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्व्योः (ऋ० सं० ३, ६, १०, ३)” ॥

(६७) अमिनः । ‘माह्माने (अद्वा० प०)’ । निष्ठा क्तः । ‘यतिस्त्वितिमास्थाम् (७, ४, ४०)’ — इति इत्त्वम् । मितः परिच्छिन्नः । न मितः अमितः सप्रमिनः अपरिमाण इत्यर्थः, अपरिगणितफालो वा । यद्वा, मिनोर्निर्वन्धकर्मणः ‘इण्सिञ्जिङोडुप्यविभ्यो नक् (उ० ३, २)’ — इति बाहुलकाशङ्कः । नम्रसमासः । अमिनः अर्द्धसितः केनचित् । यद्वा, स एव

प्रत्ययः । अमितोऽभ्यमितो वा सन् अमिनः । “उत द्विवर्हा
अमिनः सहोभिः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)” ॥

(६८) जञ्भती । जञ्भतीरापो भवन्ति शब्दकारिण्य इति ।
जस् । पूर्वसवर्णः । “मस्तो जञ्भतीरिच (ऋ० सं० ४, ३, ६, ६)” ॥

(६९) अप्रतिष्कृतः । ‘स्कुप्’ आप्रवणे (स्वा० उ०) ।
आप्रवणमागमनम् । स्कचतेर्गत्यर्थाद्वा निष्ठा । अपोपदेशश्चाद्
व्यत्ययेन पत्यम् । अन्येनाप्रतिगतः अप्रतिष्कृतः । गुह्ये अन्ये-
नाप्रतिहतपूर्व इत्यर्थः अप्रतिस्खलितपूर्वो वा । अत्र पक्षे
स्खलितशब्दस्य ष्कृतमावः । “असभ्यमप्रतिष्कृतः (ऋ० सं०
१, १, १४, १)” ॥

(७०) शाशदानः । ‘शत्’ शातने (भू० प०) । अस्माद्
यङ्लुगन्ताद् व्यत्ययेन शानच् । पुनः पुनरसुरांस्तत्पुत्राणि वा
शातयन्तः “प्रस्त्यां मतिमतिरच्छाशदानः (ऋ० सं० १, ३, ३, ३)” ॥

(७१) सृप्रः । शिप्रे इत्यत्र (३६२ पृ०) सृप्रशब्दो व्याख्यातः ।
“सृप्रकरत्नमतये (ऋ० सं० ६, २, २, ५)” । सृप्रौ करत्नौ बाह्व-
यस्य होमेन तर्पणाय घालनाय घातमनः सर्पिस्तैलमपि सृप्रम्
सर्पणात् । निगमः पर्येष्यः ॥

(७२) सुशिप्रः । शिप्रे व्याख्याते (३६२ पृ०) । शौमनस्त्व-
विशिष्टत्वमत्र विशेषः । सुहनुः सुनासो वा सुशिप्रः । “वाजे
सुशिप्र गोमति (ऋ० सं० ६, २, २, ३)” । कचिच्छिप्रशब्देन
शिरस्त्राणमुच्यते । शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययोरिति सुशिप्रः
सुशिरस्त्राण इत्यर्थः सम्भवति ॥

(७३) रंस । रमतेचिच् । सप्तमीबहुवचनम् । रमणी-
येचित्यर्थः । रमणीयशब्दस्य रम्भावः । “स त्रिव्रेण चिकिते
रंसु भासा (ऋ० सं० २, ४ २४, ५)” ॥

(७४) द्विवर्हाः । द्विवशब्दे सप्तम्यन्ते उपपदे ‘बृह बृद्धौ
(भू० प०)’—इत्यस्मादसुन् । द्वयोः स्थानयोर्घोर्घ्येण परिवृद्धः
इन्द्रः । न ह्यन्तरिक्षे घोर्घ्येणापरिवृद्धः शक्नोति घर्षितुं नापि
दिशि आदित्याद्रसान् परिवृद्ध्युत्तुं दिवः सर्वदेवतासाधारणत्वात्
दैवराजत्वेन च प्रसिद्धिरितिहासेषु द्विवर्हा उच्यते । “उत्त
द्विवर्हा अमिनः सहोमिः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)” ॥

(७५) अक्रः । आङ्पूर्वात् क्रमेः ‘अन्येष्वपि दृश्यते (३, २,
१०१)’—इति डः, आङो ह्रस्वस्यम् । आक्रामति सर्वमित्य-
क्रमाकाशमाक्रम्यते घा । “अक्रो न घग्निः समिधे महीनाम्
(ऋ० सं० २, ८, १५, २)” ॥

(७६) उराणः । उर कुर्वाण इति प्राप्ते कथर्णादिलोपा-
दिना घाक्यार्थः । उराण इति पदवचनम् । “दूत ईयसे प्रदिव
उराणः (ऋ० सं० ३, ५, ७, ३)” । स्वल्पमपि हविः उरु यद्
कुर्वाणः । तथाच भृतिः । “यद्ब्रूवै देवो जोगत हविन्तत हिमोर्तुं
पहने अथोऽयमपरिमितः”—इति ॥

(७७) म्तिथानाम् । स्त्यायतेः सदनार्थात् ‘अन्येभ्योऽपि
दृश्यन्ते (३, २, ७५)’—इति चिच् । दृशिग्रहणस्य प्रयोगानु-
सरणार्थत्वात्प्रत्ययपदान्नापि भयति । इकार उपजनः । पृष्ठी-
यद्वचनम् । हिममायेन संहता आप उच्यन्ते । “यथा सिन्धु

नां वृषभः स्तिथानाम् (ऋ० सं० ४, ७, २०, १)" ॥

(७८) स्तिषाः । स्तिषाः पातीति विच् । स्तिषापाः सन् स्तिषाः । यद्वा, उपस्थितपाः सन् अनेकवर्णलोपादिना स्तिषाः । अभिरुच्यते । स ह्याहुतिद्वारेण पालयिता, अङ्गभायीपगमनेन चोपस्थितानां कर्त्तव्यतया ज्योतिष्टोमादीनाम् । “स नः स्तिषा उत भया तनूपाः (ऋ० सं० ८, २, १६, ४)" ॥

(७९) जयाद । जयमद्विर्जरमद्विर्जरचद्विर्वा रश्मिर्मियद्वारोहति तवादित्यमण्डलमुच्यते । जयमज्जरमद्गारमच्छब्दानां जयमाद्यः, आङ्पूर्वाद्गुहेश्च डुमत्स्थयो निपात्यते । “अग्रे ह्य आरुपितं जयाद (ऋ० सं० ३, ५, २, २)" ॥

(८०) जरुथम् । गृणातेः स्तुतिकर्मणो जरतेर्वाचंतिकर्मणः जृ वृजो रुचन्—इति भावे करणे वा रुचन् । याबुलकाद् गकारस्य जकारः । स्तवनं स्तूयतेऽनेनेति वा जरुथं स्तोत्रम् । “जरुथं हन्यक्षि शये पुरन्धिम् (ऋ० सं० ५, २, १२, ६)" ॥

(८१) कुलिशः । वज्रनामसु व्याख्यातम् (२६७ पृ०) । स निगमः (ऋ० सं० १, २, ३६, ५) ॥

(८२) तुजः । तुजतेर्दानकर्मणो भावे घञ् । दानमित्यर्थः “तुजे तुजे य उत्तरं (ऋ० सं० १, १, १४, २)" । वज्रोऽपि तुज स्तत्रैव व्याख्यातः ॥

(८३) वर्हणा । वृहेर्वृद्ध्यर्थस्य ‘वृत्त्यल्युटो बहुलम् (३, ११३)'—इति भूते कर्त्तरि ल्युट् । परिवृद्धः । हिंसाकर्मणो

वा भावे । हिंसा बर्हणा । तृतीयैकवचनस्थाने डादेशः ।

“वृद्धच्छ्वा असुरो बर्हणा कृतः (ऋ० सं० १, ४, १७, ३)” ॥

(८४) ततनुष्टिम् । ‘तनिमृङ्भ्यां किञ्च (उ० ३, ८५)’—
इति तनोतेः तनप्रत्ययः, नुदेर्निष्ठायां नुञ् नुष्टिभावः । यद्वा,
ततशब्दस्य ततन्भाषः, वशेयाः बाहुलकात् कर्तरि क्विप्
सम्प्रसारणे उष्टिः । तद्धर्मसन्तानादग्निहोत्रादेः कर्मणो नुञ्
प्रेरितः ततन् भोगसन्तानं वष्टि ततनुष्टिः, नलोपाभाषः । ततनु-
ष्टिम् । “अपाप शत्रस्ततनुष्टिमुहति (ऋ० सं० ४, २, ३, ३)” ॥

(८५) इलीयिशः । इलाशब्द उलाशब्दपर्यायः । इला अन्नम्,
अन्नान्नहेतुभूते उदके वर्तते । विले दरे शेते इति ‘अधिकरणे
शेतेः (३, २, १५)’—इत्यच् । इलायिले शयो यस्य । निपात-
शब्दादसः । मेघ उच्यते । इलायिलशयः सन् इलीयिशः ।
“न्यायिभ्यदिलीयिशस्य इव्यूहा (ऋ० सं० १, ३, ३, २)” ॥

(८६) कियेधाः । कियञ्छब्दे क्रममाणशब्दे घोषपदे दधा-
तेर्यिच् । कियदर्थं विज्ञायमानपरिमाणं स्वयलं धारयति,
क्रममाणं चाभिमुखं परयलं धारयति निरुणद्धीति । कियद्धा
क्रममाणधा वा सन् कियेधाः । इन्द्रविशेषः । “वृत्राय वज्र-
मीशानः कियेधाः (ऋ० सं० १, ४, २६, २)” ॥

(८७) भृमिः । ‘भ्रमेः सम्प्रसारणञ्च (उ० ४, ११७)’—
इतीन्प्रत्ययः । अग्निरुच्यते । भ्रमिता । स्वयं त्रिष्वपि लोके-
ष्वप्रतिहतगतिरित्यर्थः । अन्तर्णीतण्यर्थो वा भ्रमिः । भ्राम-
यिता । “मृमिरस्युपिङ्गमर्त्यानाम् (ऋ० सं० १, २, ३५, १)” ॥

(८८) विष्पितः । चिप्राप्तशब्दस्य विष्पितभावः । यद्वा, विपेर्वाप्त्यर्थात् कः, इकारपकाराधुपजनी । विस्तीर्ण इत्यर्थः । “पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्यन् (ऋ० सं० ५, ५, २, १)” ॥

(८९) तुरीपम् । तूर्णव्याप्तुं शीघ्रस्य जिनिः । तूर्णापि सत् तुरीपम् । उदकमभिधेयम् । “तन्न स्तुरोपमदुतम् (ऋ० सं० २, २, ११, ४)” ॥

(९०) रास्पिनः । रपतेर्वा रसतेर्वा कर्मणि भावे वा घञ् । रापो रासो वा शब्दा यस्य तद्वापि रासि वा सत् सकारपकारो-पजनेन रास्पिशब्दो बहुदकं स्तोत्रं बोध्यते । तदस्यास्तीत्यर्श आदित्यादन् प्रकृतिभावश्च द्रष्टव्यः । ऋग्निमती शालेति यथा । अतश्च शब्दबहुदकं तद्वाग्मेघोऽभिधेयः । उच्चार्यमाणेन स्तोत्रेण स्तोता वा । “प्रमातरा रास्पिनस्यायोः (ऋ० सं० २, १, १, ४)” ॥

(९१) ऋज्जतिः । धातुनिर्देशात् ‘ऋजी भर्जने’ भूवादिरत्न प्रसाधनकर्मविषयस्य समोकरणं प्रसाधनमात्मसात् करणं तद-स्येत्यर्थः । “यजिष्ठमृज्जते गिरा (ऋ० सं० ३, ५, ८, १)” ॥

(९२) ऋजुनीती । “ऋजुनीती नो वरुणः (ऋ० सं० १, ६, २७, १)” ॥

(९३) प्रतद्वसू । प्राप्तवसुनी । पकारलोपह्रस्वत्यतकारो-पजनेः प्रतद्वसू । हरो विशिष्यी । “हरो इन्द्र प्रतद्वसू भमित्वर (ऋ० सं० ६, १, १२, २)” ॥

(९४) हिनोत । ‘हि गती (ख्या० प०)’ । लोटि यस्य सः ‘छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)’—इत्यादिधातुकत्वात् डित्या-

भावे गुणः ग्रहिण्युत्प्रेर्यः । “दिनोता नो अध्वरं देवयज्या (ऋ० सं० ७, ७, २६, १)” ॥

(६५) चोष्क्यमाणः । (६६) चोष्क्यते । ‘प्युञ्ज् आग्र-
यणे (स्वा० उ०)’ इह दानार्थः, कचिद् व्युदस्यनार्थश्च । यङि
पूर्वत्र लट् शानच्, उत्तरत्र व्यत्ययेन पत्वम् । “चोष्क्यमाण
इन्द्र भूत्विमम् (ऋ० सं० १, ३, १, ३) । अत्यर्थं वददित्यर्थः ।
“चोष्क्यते विश इन्द्रो मनुष्यान् (ऋ० सं० ४, ७, ३३, १)” ।
अत्यर्थं व्युदस्यति ॥

(६७) सुमत् । स्वयमित्यर्थे वर्त्तमानो निपातः । “उपपा-
गात् सुमग्ने धायि मग्म (ऋ० सं० २, ३, ८, २)” ॥

(६८) दिविष्टिषु । दिविशब्दोपपदात् इपेर्गत्यर्थादिच्छा-
र्थाद्वा करणे क्तिन् । द्यौर्गम्यते ग्राध्यते वा याभिस्ताः । “कुरु-
ङ्गस्य दिविष्टिषु (ऋ० सं० ५, ७, ३३, ४)” ॥

(६९) दूतः । अपतेर्द्रवतेर्धार्ग्यतेर्धां ‘इतनिभ्याम् (उ० ३,
८३, ८५)’—इति बाहुलकात् कप्रत्ययो धातूनां कूभावश्च ।
गच्छति हि सः, द्रवते वा शैष्ट्यात्, वारयति हि स्वसामर्थावि-
भिरपरम् । “स्तोमो दूतोऽद्भु घञरा (ऋ० सं० ६, २, २६, १)” ॥

(१००) जिह्वति । जिहिः प्रीणात्यर्थः भूवादिः इदित्वान्नुम् ।
“भूमिं पर्जन्या जिह्वति (ऋ० सं० २, ३, २३, ५)” ॥

(१०१) अमत्रः । अमात्रशब्दस्य ह्रस्वः । मात्रा परिमाण-
मपरिमाणोऽभ्यमितो वा अर्हिसितः । मितशब्दस्य मत्रभावः ।
महां अमत्रो वृजने विरप्शी (ऋ० सं० ३, २, १६, ४)” ॥

(१०२) ऋचीपमः । ‘ऋच स्तुतौ (तु० प०)’ । इप्रत्ययः ।
 ‘हृदिकारात् (४, १, ४५ ग० घा०)’—इति ङीप् । ऋची-
 स्तुतिः । तथा समः । अधिकगुणाध्यारोपेणापि हृता स्तुतिः
 नातिरिच्यत इत्यर्थः । “स्तवे यज्ञऋचीपमः (ऋ० सं० ७, ७,
 ६, २)” ॥

(१०३) अनर्शरातिम् । अर्शरादौऽश्लीलयाची । रातेः
 क्तिनि रातिर्दानम् । अश्लीलविषया रातिर्दानं यस्य सोऽर्शरातिः
 पापकदानस्तद्विषयरीतोऽनर्शरातिः । उत्कृष्टस्य दातेत्यर्थः ।
 “अनर्शरार्तिं वसुधामुपस्तुहि (ऋ० सं० ६, ७, ३, ४)” ॥

(१०४) अनर्वा । अर्त्तः ‘अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)’
 —इति घनिप् । नञ्समासः । ‘अर्चणस्त्रसावनञः (६, ४, १२७)
 —इति शतृचङ्गायाभावः । अप्रत्यृतः अप्रतिगतोऽन्यस्मिन्
 अन्यमनाश्रितः स्वतन्त्र इत्यर्थः । “अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम्
 (ऋ० सं० २, ५, १२, १)” । अनर्वाणमप्रतिगतमन्यं प्रत्याश्रितं
 तथा अपराश्रितमित्यर्थः ॥

(१०५) असामि । असामीत्यनवगतम् । अग्रे च सामि-
 शब्द पञ्चानवगतः । यत आह—‘सामि प्रतिपिदम् असामि
 (निय० ६, २३)’—इति । सामि कस्मात् । स्यतेः समाप्त्यर्थ-
 स्येति केचित् । तेन सामि समाप्तं चोच्यते । तस्य नञ्प्रति-
 पेधः । ततश्च असामि असमाप्तमित्यर्थः । अथवा न सामीति ।
 किन्तर्हि । असुसमाप्तमिति । पाठान्तरेणार्थमाह उदाहरणम्
 (निरु० ६, २३)—“असाम्योजो विभृथा सुदानवः (ऋ० सं० १,

३, १६, ५)” । असामि असमाप्तमनन्तमित्यर्थः । सुष्ठु वा असमाप्तं
पूर्ववदित्यर्थः । ‘स्यतेः कित्’—इति बाहुलकात् मिन्प्रत्ययः ।
साम्यर्थधर्मसामिसमग्रमित्यस्य भाष्ये (नि० ६, २३) द्रष्टव्यम् ॥

(१०६) गल्दया । गल्दाशब्दो गालनपर्यायः । गल्दया
गालनेन क्षारणेन प्रदानेन पूरणेन वृत्तेनेत्यर्थः । “मा त्या सोमस्य
गल्दया (ऋ० सं० ५, ७, १३, ५)” ॥

(१०७) जल्ह्वः । ज्वलतेः क्विप् ज्वलनं ज्वल्, ज्वलन्
जहातीति ‘मृगध्वाद्यध्व’ (उ० १, २६)—इति कुप्रत्ययः पूर्व-
पदस्य जल्मायध्व निपात्यते । ज्वलनेनाग्निना हीना इत्यर्थः ।
“नारायासो न जल्ह्वः (ऋ० सं० ६, ४, ३७, ६)” ॥

(१०८) वकुरः । भास्करशब्दस्य भासमानद्रधिणशब्दस्य
वा वकुरभावः । “अभि दस्युं वकुरेणाधमन्त (ऋ० सं० १, ८,
१७, १)” । वकुरेण भास्करेण दीप्तेन भयङ्करेण वा भासमान-
गमनेन वा सामर्थ्यात् स्वेनायुधेन ज्योतिषा वा ॥

(१०९) येकनाटान् । येक इति द्विशब्दस्यार्थं बहुशो दृष्टः ।
एषां कार्यापणमापणिकाय प्रयच्छन्तुं हीं मह्यं प्रदातव्याचित्येधम-
भिनायनं दर्शयन्ति । ततो द्विशब्दादेकशब्दाद्व्यत्यजेध्व येकनाटाः ।
एतदेतेनाटाः द्विगुणकारिणो वा द्विगुणद्रायिनो वा द्विगुणं
कामयन्ते इति वेति । द्व्येकयोर्नाटा नटनं तद्व्यत्यजेध्व येकनाटाः ।
मत्वर्थोपम्य लुक् । नटैर्घञि नाटः । द्व्येकशब्दस्य येकमाधः ।
घातुं पिपा अभिधेयाः । “इन्द्रो चिद्वान् येकनाटां अहर्दृशः
(ऋ० सं० ६, ४, ४६, ५)” ॥

(११०) अभिधेतन । धावतेल्लोष्मध्यमपुरुषवहुवचनस्य 'तत्तनप्रनथनाश्च (७, १, ४५)'—इति तनधादेशः । धावशब्दस्य धेभावः । अभिधावत । "जीवाओ अभिधेतन (ऋ० सं० ६, ४, ५१, ५)" ॥

(१११) अंहुरः । आङ्पूर्वाद्धस्तेः मृगय्यादिस्थात् (उ० १, ३६) कुप्रत्ययः । आङो हस्त्वर्थं रगागमश्च निपात्यते । अहन्ति श्रेयसो विनश्यन्तीति अंहः पापं, रो मत्त्वर्थोयः अंहुरः । अंहस्वान् । "तास्सामेकामिदभ्यंहुरोगात् (ऋ० सं० ७, ५, ३३, ६)" ॥

(११२) यतः । सत्यवाची प्रथमान्तः । यलादतीत इति वाक्यस्यार्थे पदम् । यलराप्तादततेर्निघ्रायां च यलातीतः सन् यतः दुर्यल इत्यर्थः । यत निपातोऽसत्यवचनोऽप्ययम्, श्लेशो दुःखमानसः, अनुकम्पा दया, तयोर्यत्ते । "यतो यातासि यम नैय ते मनः (ऋ० सं० ७, ६, ८, ३)" ॥

(११३) याताप्यम् । आङ्पूर्वादाप्यायतीरन्तर्णोतप्यथात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इत्यपिशब्दस्य सर्वोपाधिगमि-
चारार्थत्वात् कर्मणि ङः । उदकं दृष्टिलक्षणमभिधेयम् । यातः पुरोयात एव । सत्पृष्ट्युदकमाप्याययति यातेनाप्यायत इत्यर्थः । अथवा यातो यदाप्याययति कर्मोपपदात् कर्त्तरि प्रत्ययः । यातमाप्याययति याताप्यम् । "पुनानो याताप्यं विश्वश्चन्द्रम् (ऋ० सं० ७, ४, ३, ५)" ॥

(११४) चाकन् । चायतेः स्वरितेरघाल्लः शतरि यकारस्य फकारो घादुलकात् । अनेकार्थत्वादिच्छायोऽपि । चायन्

कामयमानो वा । “वने न वायो न्यघायि चाकन् (ऋ० सं० ७, ७, २२, १)” ॥ शाकल्यपक्षे चाकशित्याख्यातम् । तत्र लटि भिर्यस्य क्त्वं ‘बहुलं छन्दस्यमाह्वयोनेऽपि (६, ४, ७५)’ । कामयते इत्यर्थः ॥

(११५) रथयति । रथमात्मन इच्छतीति क्यचि रथीयतीति प्राप्ते रेफ उपजनो व्यवधानादीत्यामायः । “ए प देवो रथयति (ऋ० सं० ६, ७, २०, ५)” ॥

(११६) असक्राम् । सम्पत्वात् समानपूर्वाद्वा क्रमेः ‘जन-सनक्रमगमो विट् (३, २, ६७)’ । छन्दस्युपसर्गेऽपि इति हि तत्रानुपत्तंते । ‘विङ्घनोरनुनासिकः स्यात् (६, ४, ४१)’ । आतो लोपश्छान्दसः । समानस्य छन्दस्यमूर्धः (६, ३, ४)—इति समानशब्दस्य सभावः । न सक्रा असक्रा तां यापज्जायमनपा-यिनीमस्मत्सज्जातैरप्राप्तपूर्वामित्यर्थः । “धेनुं न इपं पिन्यतमसक्राम् (ऋ० सं० ५, १, ४, ३)” ॥

(११७) आधयः । ‘धूम् कम्पने (स्या० प०)’ । पचाद्यच् । अन्तर्णीतिष्यर्थोऽत्र धूम् । आधायकः । कम्पयितेत्यर्थः । “चिप्रा-णाश्चाधयम् (ऋ० सं० ७, ७, १३, ४)” ॥

(११८) अनवग्रवः । धूम् । ‘ऋदोरप् (३, ३, ५७)’ । ‘छन्द-स्युभयथा (३, ४, ११७)’—इत्यपः सार्वधानुकत्वाद् घञ्यादेशो न मयति । ग्रवः घञनम् । अनवक्षितवचनः । ‘ग्रादिभ्यो धातुजस्य (१, ४, ७६, पा०)’—इति समासादिः । अप्रतिहतशासन इत्यर्थः । “पिजेपरुशिन्द्र इषानवग्रवः (ऋ० सं० ८, ३, १६, ५)” ॥

(११६) सदान्वे । सदानोनुवशब्दात् सम्बुद्धौ नोनुवशब्दस्य
न्यभायः । दुर्भिक्षाधिदेवता अलक्ष्मी चामिध्रेया । सदाकर
णनलक्षणशब्दकारिणीत्यर्थः । “गिरिङ्गच्छ सदान्वे (ऋ० सं०
८, ८, १३, १)” ॥

(१२०) शिरिम्बिठः । “शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिः (ऋ० सं०
८, ८, १३, १)” ॥

(१२१) पराशरः । परापूर्वस्य शृणुतेः विशरणार्थस्य
हिंसार्थस्य वा ‘ऋदोरप् (३, ३, ५७)’—इति रूपम् । पराशीर्णः
पराशरः कृपिः । पराशीर्णस्य स्थविरस्य लघिष्ठस्य नता
चिरमृते शक्तौ जात इत्यर्थः । “पराशरः शतयानुर्घसिष्ठः (ऋ०
सं० ५, २, २८, १)” । रक्षसां परा शतयिता पराशर इन्द्रः ।
“इन्द्रो यातूनामभवन् पराशरः (ऋ० सं० ५, ७, ६, १)” ॥

(१२२) क्रिपिर्दती । ‘कृविष्टुविच्छविष्वधिकिक्कीदियि (उ०
४, ५६)’—इति यिन्प्रत्ययो रिदादेशश्च निपात्यते । ददातेः
शतरि ‘यहुल् छन्दसि (२, ४, ७३)’—इति शपो लुक् । ‘उगितश्च
(४, १, ६)’—इति ङीप् । क्रियेर्विकर्तनस्य दती । रंफ
उपजनः । शतद्र्यामामुधविशोरे धर्तते । “यत्रा घो दिपुद्रदति
क्रिपिर्दती (ऋ० सं० २, ४, २, १)” ॥

(१२३) करुलती । कृतदन्तशब्दस्य करुलनीमायः । ‘मुपां
मुलुक् (७, १, ३६)’—इति सोर्लुक् । स्त्रीलिङ्गप्रतिरूपकमेतत् ।
‘तत्कः (निरु० ६, ३१)’—इति पुल्लिङ्गनिर्वेशान् पूरोच्यत इति
निश्चयः । मग इति पूर्यः पक्षः । तस्मात् ‘अदन्तकः पूरा

(शत० ब्रा० ८, ७३)—इति च धृतिः । “वामं देवः करुलती
(ऋ० सं० ३, ६, २३, ४)” ॥

(१२४) दनः । दानमानस इत्यस्य दनस्भावः । दानमानस
इत्यर्थः । “दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः (ऋ० सं० २, ४, १६, २)” ॥

(१२५) शरायः । समुपसर्गार्थविशिष्टात् शृणातेः ‘शृण्व्यो-
रायः (३, २, १७३)’—इति ताच्छील्यदिपु विहित आख्यत्ययेन
इच्छायां भवति । “शरादरमिमन्यते (ऋ० सं० ८, ४, २, ४)” ।
संशिशरिपुः संशयिपूर्वा दीर्घनिद्रया हि मन्यते दुष्टेनातिशयेन
हि भवति ॥

(१२६) इदंयुः । इत्यनवगतम् । क्वचि मान्ताव्ययप्रति-
पेधात् । ‘इदं कामयमान उच्यते (निरु० ६, ३१)’ । कर्म इदं
सामान्येन प्रदर्शितम् । तथाहि लक्षितं धनादि तद् य इच्छति
स इदंयुः । शंयुः कियुः यिप्रयुः इत्याद्यवगतानवगतस्वजनन्तमात्रो-
पसङ्गप्रहारं निगमेषु पठितम्, न विशेषार्थमिति निरुक्तकाराभि-
प्रायः । ‘शतपथ च सामान्यविशेषयोरुदाहरणमिदम् । तेषाञ्च
“यस्यर्चा यस्तुकामाः”—इत्यादि बहुधागतत्वाद् विशेषेण नैह
किञ्चित् भाष्यकारेणोदाजहार । अनेकार्थतां दर्शयन्नाह—‘अथापि
तद्वदर्थं भाष्यते (निरु० ६, ३१)’ प्रयुज्यत इत्यर्थः । तद्वदिति
मतुप्रकृतिः सामान्येन निर्दिश्यते । तेन तद्वदर्थं मत्वर्थे इत्यर्थः ।
“अश्वयुर्ग व्यूग्यवंस्युरिन्द्रः (ऋ० सं० १, ४, ११, ४)” ॥

(१२७) कीकटेषु । मन्त्रे सम्प्रत्यन्त इति तथैव निगमेषु
पठ्यते । किं कृताः । किं क्रिया या सन्तः कीकटाः किं कृताः

किमर्थमुत्पादिताः असदाचाराः । अथवा यागदानादिभिः क्रियाभिः कृताभिः पिवत खादतेत्येवमभिप्राया नेह येषां ते किंक्रियाः । “किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः (ऋ० सं० ३, ३, २१, ४)” । कीकटानाम्यनार्यनिघासे देशे । कृपणा वा कीकटाः ॥

(१२८) घुन्दः । (१२९) घुन्दम् । भिन्द इति घा भयद इति घा भासमानो द्रवतीति वाक्पार्थपदवचनं विदारणभयदान-भासमानद्रवणलक्षणानामर्थेषु सम्भवात् पदलक्षणवर्णसामान्या-द्येदमुक्तम् । ‘वृद्ध सम्भक्तौ (स्वा० आ०)’ । ‘भूतुस्तुक्तुभ्यो दनूच्’—इति दनूच्प्रत्ययः । घवयोरभेदः । यादुलकात् लुग-भावश्च । अनेकार्थत्वात् पूर्वोक्तार्थवृत्तित्वं योद्धव्यम् । घुन्दो घञम् । “साधुर्युन्दो हिरण्ययः (ऋ० सं० ६, ५, ३०, ६)” । “इन्द्रो घुन्दं स्वाततम् (ऋ० सं० ६, ५, ३०, १)” ॥

वृन्देषु शत्रुविदारणभयदारणभयदानभासमानद्रवणरूपा अर्थाः सम्भवन्ति । प्रसिद्धत्वाग्निगमो न प्रदर्शितः ॥

(१३०) किः । करोतिः ‘वैज्री वयिः’—इति यादुलकात् इन्-प्रत्ययः । कर्त्तृत्वार्थः । “अयं यो होता किय स यमस्य (ऋ० सं० ८, १, १२, ३)” ॥

(१३१) उल्यम् । उणोतिवृणोतेर्वा । ‘अलिशलो रित उच्च’—इति विधियमानो वप्रत्ययो यादुलकाद् भवति, मरुतेरुल्भापश्च । गर्मस्याच्छादनमभिधेयम् । “महत्तदुल्यंस्थविरं तदासीत् (ऋ० सं० ८, १, १०, १)” । जरायोरुत्तर्गमवेष्टनं श्रुतम् ॥

(१३२) ऋवीसम् । पृथ्वीयमिन्वेयम् । अपगतभासमित्येव-
माद्याः (निरु० ६, ३५) शब्दसमाधय उत्पद्यन्ते । धात्वन्य-
त्वकृतो विशेषः । अपगतापचितापहतान्तर्हितशब्दानामन्यतमत्
पूर्वपदं भासशब्द उत्तरपदम् । पूर्वस्य ऋमावः, भकारस्य
यकार आकारस्य ईकारश्च ॥ “ऋयोसे अग्रिमग्निनायनीतम्
(ऋ० सं० १, ८, ६, ३)” ॥

अध्यायपरिसमाप्तिकं स्त्रियन्वनम् ॥

इति देवराजयज्वरघिते नैगमकाण्डनिर्वचनं समाप्तम् ॥

समाप्तश्च चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अपि देवताकाण्डनिर्वचनं व्याख्यायते—

अग्निः (१) । जातवेदाः (२) । वैश्वानरः (३)

इति त्रीणि पदानि ॥ १ ॥

(१) अग्निः । अप्राद्युपपदात् नयनेः ‘सत्स्द्विचय (३, २, ६१)’
इत्यादिना क्तिप् । पृषोदरादित्वात् अग्निः । यदुवा, ‘घेन्नो
ययिः’—इति ‘यादुलकादिनृप्रत्ययोऽप्रशब्दस्य रैफाकार्योल्लोपश्च ।

अग्रणीः । मुख्यत्वञ्च 'अग्निर्हि देवानां सेनानीः'—इति श्रुतेः । अग्रं प्रथमं यज्ञेषु कर्त्तव्येषु तादर्थ्येन प्रणीयते । अङ्गोपपदादुवा समर्थविशिष्टात् नयतेः पूर्ववदिकारलोपश्च । अङ्गं शरीरं यज्ञस्य, ततः सन्नममानः स्वयमेव प्रह्वीभयन् हविषां पाककरणत्वेन साधनमात्रं प्रतिपाद्यमानो नयति । नञ्पूर्वात् श्लोपयतेः स्नेहनार्थात् किन्प्रत्यये ककारनकारव्यतिरिक्तं लुप्यते, ककारस्य गकारापत्तिश्च । नञ्चिशिष्टेन स्नेहनेन च तद्विषयीकृतं विरूक्षणञ्च लक्ष्यते, विरूक्षयतीत्यर्थः, दग्धव्यस्य पधादेः शोषणात् विरूक्षण इत्यर्थः । यदुवा, एतेरयनमित्यादी दर्शनादकारः । अञ्जेर्जकारस्य दहेर्हकारस्य च निष्ठायां गकारापत्तिर्द्रष्टव्येति तयोरन्यतरस्मादुकारः, नयतेः पूर्ववन्निः । इतश्च अञ्जनमभिव्यक्तं घसुप्रकाशफत्वात्मकत्वेन वा नयतीत्यग्निः । “अग्निमीले पुरोहितं (ऋ० सं० १, १, १, १)” ॥

(२) जातवेदाः । जातशब्दोपपदात् चित्तेर्यदेर्विचारार्थाद्वा-असुन्, जातानि सर्वाणि भूतानि वेद, लोकपालरवान् । जाते जाते सर्वस्मिन् भूतजाते विद्यते । जातं वेदो हवितर्लक्षणं धनमैश्वर्यादि इतरदुवा यस्य सः । जातं वेदो विचारणं यस्य, वैश्वनरविद्ययापि च एतद्विचार इत्यर्थः । जातमात्र एव चिद्योतते प्रज्ञानस्वभावत्वात्, जातं वेदः प्रज्ञानं वा अस्य । “प्रनूनं जातवेदसम् (ऋ० सं० ८, ८, ४५, १)” ॥

(३) वैश्वानरः । चित्त्वान् नरान् इतो लोकात् लोकान्तरं नयति । इदमर्थेन चिद्वानराणां नैसुत्येन सम्पद्यन्ते वा कर्माद्यं-

प्रणेतृत्वेन सम्पादिनोऽस्य वैश्वानरः । 'अन्येषामपि दृश्यते
(६, ३, १३७)'—इति दीर्घः । अपि चा विश्वान् जन्तून् अरः ।
'अ गतौ'—इत्यस्य छान्दसत्वात् पवाद्यच् उपपदविभक्तेश्चालुक् ।
सर्वाणि भूतान्यरः प्रत्यूतः प्रतिगतः प्रविष्टि विश्वानरः प्राणः ।
तेन जन्यमानत्वात्तस्यापत्यं वैश्वानरः । 'प्राणाद्वि चलान्मध्यमानो
हि जायते'—इति ब्राह्मणम् । "वैश्वानरस्य सुमती स्यात् (ऋ०
सं० १, ७, ६, १)" ॥

द्रविणोदाः (१) । इध्मः (२) । तनूनपात् (३) ।
नराशंसः (४) । इलः (५) । वह्निः (६) । द्वारः
(७) । उपासानक्ता (८) । देव्याहोतारा (९) ।
तिस्रोदेवीः (१०) । त्र्यष्टा (११) । वनस्पतिः
(१२) । स्वाहाकृतयः (१३) । इति त्रयोदश
पदानि ॥ २ ॥

(१) द्रविणोदाः । द्रविणशब्दो व्याख्यातो धननामत्वेन
(२४३ पृ०) । तस्य सकार उपजनः । ददातेरमुनि चाहुल-
फादाकारलोपः । धनस्य यलम्य वा दाता द्रविणोदाः ।
"द्रविणोदा द्रविणसः (ऋ० सं० १, ७, ४, ३)" । ऋतुयाजप्रियेषु
सकारलोपो द्रष्टव्यः ॥

अग्रणीः । मुख्यत्वञ्च 'अग्निर्हि देवानां सेनानीः'—इति श्रुतेः । अग्रं प्रथमं यज्ञेषु कर्त्तव्येषु तादर्थ्येन प्रणीयते । अङ्गोपपदाद्वा समर्थविशिष्टात् नयतेः पूर्ववदिकारलोपश्च । अङ्गं शरीरं यज्ञस्य, ततः सन्नममानः स्वयमेव प्रह्वीभवन् हविषां पाककरणत्वेन साधनभावं प्रतिपाद्यमानो नयति । नञ्पूर्वात् श्लोपयतेः स्नेहनार्थात् किन्प्रत्यये ककारनकारव्यतिरिक्तं लुप्यते, ककारस्य गकारापत्तिश्च । नञ्चिशिष्टेन स्नेहनेन च तद्विषयरीतं विरुक्षणञ्च लक्ष्यते, विरुक्षयतीत्यर्थः, दग्धव्यस्य एधादेः शोपणात् विरुक्षण इत्यर्थः । यद्वा, पतेरयममित्यादौ दर्शनादकारः । अञ्जेर्जकारस्य दहेर्हकारस्य च निष्ठायां गकारापत्तिर्द्रष्टव्येति तयोरन्यतरस्माद्कारः, नयतेः पूर्ववन्निः । इतश्च अञ्जनमभिव्यक्तं पशुप्रकाशकत्वात्मकत्वेन वा नयतीत्यग्निः । “अग्निमीले पुरोहितं (ऋ० सं० १, १, १, १)” ॥

(२) जातवेदाः । जातशब्दोपपदात् चित्तेर्धिदेर्धिचारार्थाद्वा भूतान्, जातानि सर्वाणि भूतानि वेद, लोकपालत्वात् । जाते जाते सर्वस्मिन् भूतजाते विद्यते । जातं वेदो हविर्लक्षणं धनमैश्वर्यादि इतरद्वा यस्य सः । जातं वेदो विद्यारणं यस्य, यैश्चनरविद्ययापि च कृतविचार इत्यर्थः । जातमात्र एव विद्योतते प्रज्ञानस्यभावत्वात्, जातं वेदः प्रज्ञानं वा अस्य । “प्रनूनं जातवेदसम् (ऋ० सं० ८, ८, ४५, १)” ॥

(३) विश्वानरः । विश्वान् नरान् इतो लोकात् लोकान्तरं नयति । इदमर्थेन विश्वानराणां नेतृत्वेन सम्पद्यन्ते वा कर्माणि-

प्रणेतृत्वेन सम्पादितोऽस्य वैश्वानरः । 'अन्येषामपि दृश्यते
(६, ३, १३७)'—इति दीर्घः । अपि'चा विश्वान् जन्तून् भरः ।
'ऋ गतो'—इत्यस्य छान्दसत्वात् पचाद्यच् उपपदविभक्तेश्चालुक् ।
सर्वाणि भूतान्यरः प्रत्यृतः प्रतिगतः प्रचिष्टति विश्वानरः प्राणः ।
तेन जन्यमानस्यास्यस्यापत्यं वैश्वानरः । 'प्राणाद्धि यलाग्नमध्यमानो
हि जायते'—इति ब्राह्मणम् । "वैश्वानरस्य सुमती स्याम (ऋ०
सं० १, ७, ६, १)" ॥

द्रविणोदाः (१) । इध्मः (२) । तनूनपात् (३) ।
नराशंसः (४) । इलः (५) । वर्हिः (६) । द्वारः
(७) । उपासानक्ता (८) । देव्याहोतारा (९) ।
तिस्रोदेवीः (१०) । त्वष्टा (११) । वनस्पतिः
(१२) । स्वाहाकृतयः (१३) । इति त्रयोदश
पदानि ॥ २ ॥

(१) द्रविणोदाः । द्रविणशब्दो व्याख्यातो धननामत्वेन
(२४३ पृ०) । तस्य सकार उपजनः । ददातेरसुनि बाहुल-
कादाकारलोपः । धनस्य यलस्य चा दाता द्रविणोदाः ।
"द्रविणोदा द्रविणसः (ऋ० सं० १, ७, ४, ३)" । ऋतुयाजप्रेषेषु
सकारलोपो द्रष्टव्यः ॥

(२) इध्मः । ‘जि इन्धी दीप्तौ (भू० उ०)’ । इध्यतेऽनेना-
ग्निरिति इध्मः यज्ञेध्म । समिध्यत इत्यस्ति अनेः समिन्धत्यम् ।
ज्वलन्नाम वैध्मः । “समिद्धो अद्य मुनयो दुरोणे (ऋ० सं०
८, ६, ८, १)” ॥

(३) तनूनपात् । नपाच्छब्दोऽपत्यनामसु व्याख्यातः (१६१ पृ०) ।
इह पौत्रे वर्तते । यद्वा, नुतशब्दस्य नपाद्भावाः । पुत्रापेक्षया
नीचैः सुतरां नुतो हि पौत्रः । तनोतेः ‘हृभृशीतृचरित्सरित्तिनिध-
निमस्जिभ्य ऊः’ । तन्वन्त्यस्यां पयआदिभोगाः इति तनूः
गोनाम । अस्याः पयो जायते । पयस आश्रयमिति । आश्रयं
तनूनपात् । अथवा तता अन्तरिक्षे इति तत्त्वः आपः । साम्य
ओषधिवनस्पतयो जायन्ते । ओषधिवनस्पतिभ्योऽग्निर्जायते
इति । अग्निस्तनूनपात् । “तनूनपात्प्रथं श्रुतस्य यानात् (ऋ० सं०
८, ६, ८, २)” ॥

(४) नराशंसः । नरैः ऋत्विग्भिः शस्यतेऽस्मिन् ‘अन्येषामपि
दृश्यते (६, ३, १३७)’—इति वीर्यः । यज्ञ उच्यते । नरैः प्रशस्यते
स्तूयते इत्यग्निः । ‘नराशंसस्य महिमानमेवाम् (ऋ० सं०
५, २, १, २)” ॥

(५) इलः । इलाशब्दो व्याख्यातः पृथिवीनामसु (३४ पृ०)
“आजुहान ईल्यो घन्धश्च (ऋ० मं० ८, ६, ८, ३)” ॥ “होतारमिलः
प्रथमं यजत्यौ (ऋ० सं० २, ८, २२, ३)” ॥

(६) यर्हिः । व्याख्यातं माह्ननामसु (३१३ पृ०) । यर्हिरे-
षोक्तं धर्ममयम् । यद्वा, ‘यर्ही उजमने (भू० प०)’—इत्यस्मा-

दिसिः । पयथोरभेदादुक्तम् । अग्निपक्षे परिवृद्धत्याद् यर्हिः ।

“प्राचीनं यर्हिः प्रदिशा पृथिव्या (ऋ० मं० ८, ६, ८, ४)” ॥

(७) द्रव्यः । जयतेर्द्रव्यतेर्वा गतिकर्मणः धारयतेर्वा म्यात् । जयतेर्जकारस्य दकारः, द्रवतेः रेफलोपः, धारयतेरिडागमश्च निपातनात् । गम्यन्ते ताभिर्न्यग्रहम्, अनभिमतो हि साम्येव निवार्यते । अग्निपक्षे, ज्वाला भागम्यन्ते आभिः, शीतादिति धारणम् । “देवो दुवांगे बृहतीर्विश्वमिन्द्रा (ऋ० मं० ८, ६, ८, ५)” ।

(८) उपसासनका । ‘उच्छी चिवासे (मू० प०)’ ‘यश कान्तौ (अद० प०)’—‘इषिरजिमूश्वः किन्’—इति यादु-लकाच्छकारस्य शकारस्य वा यकारः । ‘ग्रहज्या (६, २, १६)’—इति सप्रसारणम् । उच्छति कान्ता वा उय । नवराशौ रात्रियचनः । ‘उपासोपसः (६, ३, ३१)’—इति उपसादेशः । द्वियचनम्याकाशः । अग्निपक्षे, उय दीप्तिः, तमसो विषामनान्, आदुतिस्तपुता अनन्यग्निमिति । “उपासानका सदतां नियोमौ (ऋ० मं० ८, ६, ८, ६)” ॥

(९) दैव्याहोताग । उभयप्राकारो द्वियचनस्य । आहोतागं दैवानाम् । गार्गिषमव्यमावर्गो उच्येते । “दैव्याहोताग प्रथमा-सुधाया (ऋ० मं० ८, ६, ६, २)” ॥

(१०) निग्रादेर्षाः । प्रथमार्थे द्विर्न्या । भारतीत्यासर-म्यस्यः । भग्नार्थं पृथिव्यानेति मित्रः इति प्रत्ययेण पठित्वापि अपि निग्रादेर्षः इति सामान्येन पाठान् पृथिवीम्यानं माय-

कारेण ज्ञापितम् । सरस्वती मध्यमस्थाना । “आनो यज्ञं भारती
(ऋ० सं० ८, ६, ६, २)”—इति निगमः ॥

(११) त्वष्टा । तूर्णशब्दोपपदादश्रोतेस्तृन्निपात्यते । त्वष्टा
मध्यमस्थानः । आप्रीत्वादिह समाम्नातः । तूर्णश्नुते वायु-
रूपत्वात् । त्विपेक्ष्यतायामकारश्चोपधाया अनित्त्वञ्चेति या
दीप्तो ह्यसौ घैद्यतत्वात् । त्वष्टा पूर्वचन्निपातनम् । अग्निपक्षे-
ऽप्युपपद्यन्ते निर्वचनानि । “देवं त्वष्टारमिह यक्षि विवृचान्
(ऋ० सं० ८, ६, ६, ३)” । “उमे त्वष्टुर्विभ्यतुर्जायमानात्
(ऋ० सं० १, ७, १, ५)” ॥

(१२) वनस्पतिः । वनानां पाता । वन्यते सेव्यते इति घनम् ।
'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)' । पतिशब्दो व्याख्यात
“ईश्वरनामसु (३०० पृ०) । अग्निरन्तरनुप्रविष्टोऽपि यतो न
ब्रूति अतः पातेति व्यपदिश्यते । पियतेघैतद्रूपम् । शूपपक्षे
वनस्पतिविकारत्वाद् वनस्पतिः । पारस्करादित्यात् सुद् (६,
१, १५७) । “वनस्पतिः शमिता दैवो अग्निः (ऋ० सं० ८, ६, ६,
१०)” । “वनस्पते मधुना दैव्येन (ऋ० सं० ३, १, ३, १)” ॥

(१३) स्वाहाशब्दः । स्वाहाशब्दो व्याख्यातो घाङ्नामसु
(१०१ पृ०) । अत्र स्मरणार्थमुक्तमस्य प्रयाजस्य पश्यमाणदेवता-
सङ्कीर्तनपरत्वात्, स्वाहास्वाहेत्येवं पूर्वं कतिचारमुच्चारणं या
समीक्ष्यमाणदेवतानां साः स्वाहाशब्द उच्यन्ते । “स्वाहाशब्दं
हविषादन्तु देवाः (ऋ० सं० ८, ६, ६, ५)” । “स्वाहाशब्दो
रोचते (ऋ० सं० २, ५, ६, ६)” ॥

अश्वः (१) । शकुनिः (२) । मण्डूकाः (३) ।
 अक्षाः (४) । ग्रावाणः (५) । नाराशंसः (६) ।
 रथः (७) । दुन्दुभिः (८) । इपुधिः (९) ।
 हस्तघ्नः (१०) । अभीशवः (११) । धनुः (१२) ।
 ज्या (१३) । इपुः (१४) । अश्वाजनी (१५) ।
 उलूखलम् (१६) । वृषभः (१७) । द्रुघणः (१८) ।
 पितुः (१९) । नद्यः (२०) । आपः (२१) ।
 ओषधयः (२२) । रात्रिः (२३) । अरण्यानी
 (२४) । श्रद्धा (२५) । पृथिवी (२६) । अप्वा (२७) ।
 अग्नायी (२८) । उलूखलमुसले (२९) । हवि-
 र्धाने (३०) । द्यावापृथिवी (३१) । विपाट् छलुद्री
 (३२) । आर्त्ता (३३) । शुनासीरौ (३४) ।
 देवीजोष्ट्री (३५) । देवोर्जाहुती (३६) ।
 इति षट्त्रिंशत् पदानि ॥ ३ ॥

(१) अश्वः । व्याख्याताऽश्वनामसु (१६८ पृ०) । “यद्वाजिनो
 देवजातस्य सप्तैः (ऋ० सं० २, ३, ७, २)” । “सुरादश्वं घस्यो
 निरतष्ट (ऋ० सं० २, ३, ११, २)” ॥

(२) शकुनिः । शक्तेः क्विप् शक् । उन्नयतेः 'वेजो डित्'—इति यादुलकात् ङिदिन्प्रत्यये उदस्तलोपः । शक्नोत्युन्ने-
तुमात्मानं शकुनिः ककारस्य जश्त्वामावः । शक्नोत्युन्नयनादि-
क्रियाः कर्तुम् । “सुमङ्गलश्च शकुने भवासि (ऋ० सं० २, ८,
११, १)” ॥

(३) मण्डूकाः । मस्जेः 'शलिमण्डभ्यामृक्' (उ० ४, ४२)
—इति यादुलकादृकनि जश्त्वचुत्वाभ्यां मञ्जूका इति प्राप्ते
छान्दसत्वात् जकारस्य ङकारापत्या अस्त्यात् पूर्वस्य तुमि
ण्डुत्वम् । निमज्जन्ति हि ते जले । मदतेस्तृप्त्यर्थात् मन्दतेर्था
मोदत्यर्थात् पूर्वचदूकञ् रूपसिद्धिश्च । नित्यमदत्वात्, नित्यतृ-
प्तत्वात् नित्यहृष्टत्वाद्वा मण्डूकाः । मण्डतेर्था यथाप्राप्ते ऊकनि
मण्डूकाः । यद्वा, मण्डो मदतेः । 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति
यादुलकात् कप्रत्यये रूपसिद्धिश्च मण्ड उदकम् । हृष्यन्ति हि
तत्र स्नानपानाद्यगादार्थिनः । मण्डे ओको निवास एषां मण्ड-
शब्दादोक्तशब्दाच्च मण्डूकाः । “प्र मण्डूका अघाविपुः (ऋ० सं०
५, ७, ३, १)” ॥

(४) अश्वाः । अश्नोतेः 'अशोर्द्वयने (उ० ३, ६२)'—इति
सप्रत्ययः । अश्न घन्ते व्याप्नुवन्ति गृह्यन्त्येनानुदेवितारः । अति-
व्याप्नुवन्त्येभिः परस्परमिति वा । “अश्वैर्मा दीप्यः कृदिमित्
रूपस्य (ऋ० सं० ७, ८, ५, ३)” ॥

(५) प्राचाणः । व्याख्यातः पर्वतनामसु (७६ पृ०) । “प्राचम्यो
घाचं घदता घदद्भ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ६, १)” ॥

(६) नाराशंसः । नराण् शंसतीति कर्मोपपदेऽण्, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)' । ततः प्रश्नादित्यात् स्वार्थिकोऽण् । नाराशंस एव नाराशंसः । मन्त्रोऽत्राभिधेयः । "अमन्दोऽस्तोमान् प्रभरे मनीषा (ऋ० सं० २, १, ११, १)" ॥

(७) रथः । रंहतेर्गतिकर्मणः । 'हनिकुपिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उ० २, २)'—इति क्थन्, बाहुलकाप्रकारहकारलोपश्च । गच्छत्यनेन । स्थिरतिर्नैकधातुः । विपरिताक्षरः । 'पुंसि सञ्जायां घः (३, ३, ११८)' । सकारेकारयोर्लोपः । दृढगठित्यात् स्थिरो हि सः । यद्वा, रमतेस्तिष्ठनेश्च द्विधातुज रूपम् । रममाणो चित्प्रत्ययोऽस्मिस्तिष्ठति रथी । यद्वा, रमतेरेव यथाप्राप्तः कथन् । रमणीयो हि रथः । रसतेर्वा शब्दार्थात् पूर्वसूत्रेण बाहुलकात् क्थनि सकारलोपः । भवति हि तस्यागच्छत उपलब्धिः । "तत्रा रथमुप शमं सदेम (ऋ० सं० ५, १, २०, ३)" ॥

(८) दुन्दुभिः । शब्दानुकरणनिमित्तकमेतन्नाम । दुमशब्दस्य वा रेफान्तलोपः । भिदेश्चाद्यन्तविपर्यय उकारश्चोपपन्नः । दुन्दुभ्यतेर्वा नैकधातोर्यधकर्मणः इन् । तादृश्यते ह्यसौ युद्धसमये । "स दुन्दुमे सजूरिन्द्रेण देवेः (ऋ० सं० ४, ७, ३५, ४)" ॥

(९) इयुधिः । इयधो निर्धायन्तेऽस्मिन् । कर्मण्यधिकरणे च (३, ३, १३)—इति फिः । "इयुधिः सङ्काः घृतनाश्च सर्वाः" ॥

(१०) ह्यम्नाः । ह्यन्ते ह्यन्तसमीपे स्थितो ह्यन्त्यते ज्यया शरपुद्गेन वा । 'यप्रथं कविधानम् (३, ३, ५८ पा० २)'—इति कः । "ह्यम्नां विभ्या ययुनानि विद्वान् (ऋ० सं० ५, १, २१, ४)" ॥

(११) अमीशवः । व्याख्याता रश्मिनामसु (५३ पृ०) ।

निगमश्च दर्शितः ॥

(१२) धनुः । धन्वतेर्गन्त्यर्थाद् यधार्थाद्वा 'अर्तिपृवपियजि-
तनिधनितपिभ्यो नित् (उ० २, १७०)'—इति याहुलकादुत्तिः
'प्रत्ययो घफारलोपश्च । धनिर्मारणार्थ इति क्षीरस्वामी । यथाप्राप्त
उत्तिः । धन्वन्त्यपनयन्त्यस्मादिपचः, प्रन्ति वा । "धनुः शत्रो-
रपकामं कृणोति (ऋ० सं० ५, १, १६, २)" ॥

(१३) ज्या । जयतेर्जिनातेर्चाऽन्तर्णीतण्यार्थाद् वा 'मध्य-
विध्यशिक्ष्य'—इत्यादिना यक्प्रत्ययो धातोर्जकारभाचश्च निपा-
त्यते । 'अज्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति निपातनम् ।
जयसाधनं हि ज्या । "धन्वज्ज्या इयं समने पारयन्ती (ऋ०
सं० ५, १, १६, ३)" ॥

(१४) इषुः । इप्तेर्गन्तिकर्मणो यधार्थाद्वा 'इपेः किञ्च
(उ० १, १३)'—इति उप्रत्ययः । गच्छति शप्नुन्, वृन्ति वा तान् ।
"तत्रास्मभ्यमिपचः शर्म यंसन् (ऋ० सं० ५, १, २१, १)" ॥

(१५) अश्वाजनी । अश्वा अज्यन्ते क्षिप्यन्ते प्रेर्यन्तेऽन्या ।
त्युद्, 'वा यो (२, ४, ५७)'—इतिवीमाचविकल्पः, द्विरपान्
हीप् । अश्वानामजनी अश्वाजनी कश्चोच्यते । "अश्वाजनि
प्रचेतसः (ऋ० सं० ५, १, २१, ३)" ॥

(१६) ऊर्गुमलम् । उर्गु चिन्तोर्णं मूलं मुग्रमस्य, उर्गुध्ये वा
उपरिभागे मूलं मुग्रमस्य । ऊर्क् अग्रं तन् करोति । किरनेर्वा
उत्कीर्णं तत् । शब्दानुकरणनिमित्तं वा नामितन्, यतो मुगला-

घातजनितश्च निमुक्तं मैषु कुर्वित्येवमब्रवीत् । सर्वथैव तेषु वर्णय-
त्ययादि वाच्यम् । “उत्सृज्य कथञ्चिदसौ (ऋ० सं० १, २, २५, ५)” ॥

(१७) घृषमः । ‘घृषु सेचने (भू० प०)’ । ‘ऋषिघृषिभ्यां
कित् (उ० ३, ११६)’—इत्यमच्प्रत्ययः । प्रजाहेतुभूतं घोरं
यपति सिञ्चति । बृहेर्वा पाहुलकात् अमचि हकारस्य प्रकारः ।
अतिशयेन रैतः सेक्तुं बृहति उघच्छति आत्मानम् । “अमैहयन्
घृषमं मध्य आजेः (ऋ० सं० ८, ५, २०, ५)” ॥

(१८) दुघणः । दुशब्दो दुमशब्दपर्यायः । दुमविकारः
काष्ठलपट्टोऽत्र दुशब्देनोच्यते । दुर्हन्यतेऽनेन । ‘कारणेऽयोपिद्रुपु
(३, ३, ८२)’—इति हन्तेरप् घनादेशश्च । क्षुब्भादिषु (८, ४, ३१)
पाठापणत्वम्, ‘पूर्वपदात् सम्ज्ञायामगः (८, ४, ३)’—इति घा ।
“काष्ठायामग्रे दुघणं शयानम् (ऋ० सं० ८, ५, २१, ४)” ॥

(१९) पितुः । अन्ननामसु व्याख्यातम् (२२२ पृ०) । स
निगमः (ऋ० सं० २, ५, ६, १) ॥

(२०) नद्यः । (२१) आपः । व्याख्याताः (१५६ पृ० ।
१४१ पृ०) । निगमौ च दर्शितौ सामान्येन । “इमं मे गङ्गा
यमुने’ सख्यति (ऋ० सं० ८, ३, ६, ५)”—इति, विशेषेण ।
“आपो हि एा मयोमुचः (ऋ० सं० ७, ६, ५, १)” ॥

(२२) ओषधयः । ओषशब्दो दोषशब्दे ओषपदे ध्रुवतेः
‘कर्मण्यधिकरणे च (३, ३, ६३)’—इति किप्रत्ययः, ‘वृत्त्यत्युटो
यदुलम् (३, ३, ११३)’—इति कर्त्तरि घा । ओषं दाहं
धयति—पिबति विनाशयतोत्तर्यः, दोषं घातपित्तादिकं घा ।

दकारलोपो द्रष्टव्यः । “या ओषधीः पूर्वा जाता (ऋ० सं० ८, ५, ८, १)” ॥

(२३) रात्रिः । प्रोपसर्गार्थविशिष्टात् अन्तर्णीतण्यर्थात् रमतेः ‘राशदिभ्यां त्रिप् (उ० ४, ६७)’—इति बाहुलकात् त्रिप्प्रत्ययो मकारस्याफारश्च रातेर्वा त्रिप्प्रत्ययो यथाप्राप्तः । प्ररमयन्ति भूतानि नक्तञ्चारीणि, उपरमयन्ति दिवाचराणि स्यध्यापारेभ्यः, प्रदीयन्तेऽस्यामवश्याया मध्यमेन । “आ रात्रि पार्थिवं रजः (य० वा० सं० ३४, ३३)” ॥

(२४) अरण्यानी । अपपूर्वात् रिणतेर्गतिकर्मणो नञ्पूर्वाद् रमतेर्वा अञ्ज्यादित्वात् (उ० ४, ११८) यत्प्रत्यये, रूपसिद्धिर्निपात्यते । अपार्णमपगतं ग्रामाद्धि अरमणं वा, न हि तद्रमयति अरण्यं घनम् । अरण्यपालयित्री अधिदेवता काचित् नैरुक्ताः महः दरण्यमिति वैयाकरणाः । ‘हिमार्ण्यशोर्महत्वे (४, १, १६, वा० १)’—इति विश्रीयते । “अरण्यान्यरण्यानि (ऋ० सं० ८, ८, ४, १)” ॥

(२५) धृद्धा । श्रुत् सत्यम्, तस्मिन् धीयते । तथाच मन्त्रः “अधृद्धामनृते वधातन धृद्धां सत्ये प्रजापतिः”—इति । ‘आत-ओषसर्गे (३, ३, १०६)’—इत्यर्द्धं । ‘धृच्छ्रद्धस्योपसङ्ख्यानाम्’ इत्युपसर्गसंज्ञा । धर्मार्थसुखापवर्गेषु यथाशास्त्रमधिष्ठतः पुरुषस्य कामानुष्ठानहेतुभावप्रत्यानात् बुद्ध्यधिदेवता धृद्धा । “धृद्धयाग्निः समिध्यते (ऋ० सं० ८, ८, ६, १)” ॥

(२६) पृथिवी । ‘प्रथ प्रत्याने (भू० भा०)’ । ‘प्रथे पियन् सप्तसारणञ्च (उ० १, १४६)’ । ‘पिदुर्गोर्गदिभ्यश्च (४, १,

४१) । पृथ्वीत्यर्थः । “स्योना पृथिवि मव (ऋ० सं० १, २, ६, ५)” ॥

(२७) अप्वा । व्याख्यातं नैगमे सनिगमम् ॥

(२८) अग्न्यायी । अग्नेः पत्नी । ‘वृषाकप्यग्निकुसितकुसि-
दानामुदात्तः (४, १, ३७)’—इत्येकारादेशः, पुंयोगलक्षणोऽङोप् ।
“अग्न्यायी सोमपीतये (ऋ० सं० १, २, ६, २)” ॥

(२९) उल्लूखलमुसले । उल्लूखलं व्याख्यातम् । मुहुःशब्दोपपदात्
सत्तैः ‘पुरलोरलमुसलकुचल’—इत्यादिना अलप्रत्ययो ढिलोपो
मुहुःशब्दस्य मुसभावश्च निपात्यते । उत्क्षिप्योत्क्षिप्य निपातनात्
मुहुः सरणं मुसलं द्विर्वचनम् । “आयजी पाजसातमा (ऋ०
सं० १, २, २६, २)” । अग्नेध्मवत् धृतिरसत्यपि लिङ्प्रयोगे ॥

(३०) हविर्जानि । सोमलक्षणानि हवींषि विधीयन्ते ययोः ।
“आ घामुपस्थमद्गुहाः (ऋ० सं० २, ८, १०, ६)” । पूर्यघदु-
दाहरणत्वम् ॥

(३१) द्यावापृथिवी । द्वयो द्युत्यर्थात् ‘दिवेर्दिविः’—इति
द्विविप्रत्ययः । द्योतत इति द्यौः । पृथिवी व्याख्याता (३२ पृ०) ।
द्यौश्च पृथिवी च ‘दिवोद्यावा (६, ३, २६)’—इति द्यावादेशः ।
‘याच्छन्दसि (६, १, १०६)’—इति पूर्वसवर्णः । “द्यावा नः
पृथिवी इमम् (ऋ० सं० २, ८, १०, ५)” ॥

(३२) विपाद्भुनुद्व्यौ । ‘पद गतौ (दि० आ०)’ ‘पश वाच-
नस्पर्शनयोः (चु० प०)’ विपूर्वः । आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० प०)
विप्रपूर्वः । निजन्तान् ‘विज्यनि (३, २, १७८ घा० १,)’—

इत्यत्र 'प्राक्प्रत्ययनिर्देशादिप्रसिद्धिः'—इत्युक्ते किपि प्रशब्दस्य
रेफलोपादि । विविधं कूलपाटनात्, विपाशनात् । अपुत्रस्यो-
द्भूततमोवृत्तेर्मुमूर्षोर्वसिष्ठस्य कण्ठे शिलाबन्धने साधनभूताः
पाशा अस्याम् । विविधदेशप्रापणाद्वोदकस्यापनत्वात् विपाद् ।
शुतुद्री शुद्राविणीत्यर्थः । आशुतुन्नद्राविणीशब्देभ्यो वा । आशुतुन्ने
प्रतोद्रे द्रवतीति शुतुद्री । विपाद् च शुतुद्री च विपाद्छुतुद्री पूर्व-
सर्पणः । "विपाद्छुतुद्री पयसा जवेते (ऋ० सं० २, २,
१२, १)" ॥

(३३) आर्ली । अर्त्तः रिपतेर्वा 'घहिध्रिथुयुदुग्लाहात्वरिभ्यो
निः (३० ४, ५१)'—इति बाहुलकात् निप्रत्ययो धातोरासमापञ्च ।
'हृदिकारात् (४, १, ४५, धा० १)'—इति डीप् । गते ज्यया
ऋष्यमाणे सङ्गच्छते हिंसासाधने वा भयतः । "आर्ली रमे
चिस्फुरन्ती अमित्रान् (ऋ० सं० ५, १, १६, ४)" ॥

(३४) शुनासीरो । शुशब्दार्थविशिष्टात् 'शुन गती (तु० ५०)'
—इत्यस्मात् शुशब्दलक्षणः कः (३, १, १३५) । क्षिप्रं गच्छत्य-
न्तरिक्षमिति शुनो घायुः । यद्वा, शुशब्दोपपदाभ्रयतेर्गतिफर्मणः
'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः । माघ्ये तु
शु-पतदर्थतो निर्वचनं प्रायेण । सर्तः 'टिण्डीरपानीरगभीरगभीर-
कुम्भीर्जारीरकाश्मोरजग्घोरफीरसीरादयः'—इति ईरन्प्रत्ययष्टिन्तो-
पञ्च निपात्यते । सदा सरणात् सीर आदित्यः । शुनश्च सीरश्च
द्विपतादुपपद्ये च (६, ३, २६)'—इत्यश् । "शुनासीरादिमां
घाचं जुषेयाम् (ऋ० सं० ३, ८, ६, ५)" ॥

(३५) देवीजोष्टी । देवशब्दः पचाद्यजन्तः । देवडिति पाठान् 'टिड्ढाणञ् (४, १, १५)'—इति डीप् । जुपतेष्टनप्रत्ययः (उ० ४, १५४) । पित्वात् डीप् (४, १, ४१) । देव्यो जोषयित्री । पूर्वसवर्णः । यावापृथिव्यौ, अहोरात्रे धामित्रये । सस्यसमे इति कारथक्यः । सस्यं प्रीडिः, समा संवत्सरः । “देवी जोष्टी धनुर्धृती ययोः (नि० ६, ४२)” ॥

(३६) देवी ऊर्जाहुती । ऊर्क्शब्दो व्याख्यातोऽग्ननामसु (२२४ पृ०) । आह्वयतेः क्वचि 'वचिस्वपि (६, १, १५)'—इति सम्प्रसारणम्, 'हलः (६, ४, २)'—इति दीर्घाभाषो व्यत्ययेन । ऊर्क्शब्दात् हेतो तृतीया । ऊर्जा हेतुभूतया आह्वातव्ये । ऊर्क् इत्यत्र 'सायेकाचः (६, १, १६८)'—इति विभक्त्येदात्तत्थम्, आहुतिशब्दोऽपि 'ताश्चो च निवि हृत्यत्यर्तो (६, २, ५०)'—इति आयुदात्तः, 'एकदेश उदात्तेनोदात्तः (८, २, ५)' । “देवी ऊर्जाहुती इणमूर्जमन्या धनन् (य० घा० सं० २१, ५२)” ॥

इति पृथिवीस्थानद्रवताः ॥ १ ॥

वायुः(१) । वरुणः(२) । रुद्रः(३) । इन्द्रः(४) ।
पर्जन्यः(५) । बृहस्पतिः(६) । ब्रह्मणस्पतिः (७) ।
क्षेत्रस्यपतिः (८) । वास्तोष्पतिः (९) । वाच-
स्पतिः (१०) । अपान्नपात् (११) । यमः (१२) ।

मित्रः (१३) । कः (१४) । सरस्वान् (१५) ।
 विश्वकर्मा (१६) । तार्क्ष्यः (१७) । मन्युः (१८) ।
 दधिकाः (१९) । सविता (२०) । त्वष्टा (२१) ।
 वातः (२२) । अग्निः (२३) । ववेनः (२४) ।
 असुनीतिः (२५) । ऋतः (२६) । इन्दुः (२७) ।
 प्रजापतिः (२८) । अहिः (२९) । अहिवुध्न्यः (३०) ।
 सुपर्णः (३१) । पुरुरवाः (३२) । इति द्वात्रिंशत्
 पदानि ॥ ४ ॥

(१) घायुः । 'वा गतिगन्धनयोः' (अदा० प०) । 'वृषा-
 पाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उ० १, १)' । 'आतो युक् विण्णूतोः
 (७, ३, ३३)' । यष्ठा, वेतैर्गतिकर्मणो बाहुलकादण् यद्वा, 'छन्दसीणः
 (उ० १, २)'—इत्युणि घकारोपजनः । गच्छत्यन्तरिक्षे । "घायघा
 याहि दर्शतेमे (ऋ० सं० १, १, ३, १)" ॥

(२) घरणः । 'वृत्र घरणे (त्या० उ०)' । 'कृष्ट्वारिभ्य उन्न
 (उ० ३, ५०)' । अन्तरिक्षे उदकमावृणोति । "नीचीनयारं
 घरणः कवन्धम् (ऋ० सं० ४, ४, ३२, ३)" ॥

(३) द्रवः । रीतेः क्तिप् । दृच्छद् करोति । 'आतोऽनुपसर्ग
 कः (३, २, ३)' । यो द्रवन् पति, रीतीति घक्तुं शक्यते ।
 रोरुयमाणोऽत्ययं शब्दं कुर्वन् मेघोदरभ्यो द्रवतीति, रोरुयमाण-

शब्दपूर्वाद् द्रवनेर्वा 'रोदेर्णिलुक् च (उ० २, २०)'—इति रक् ।
 स हि शत्रुकलत्राणि रोदयति रुद्रेव वा निजन्तात् बाहुलकाद्रक् ।
 'इन्द्रः किं पितरं प्रजापतिमिधुना चिच्छेद् तमनुशोचन्तद्ददु
 यदस्यत्तद्द्रस्य रुदत्यम् (वृ० आ० ३, ६, ४)'—इति काठकम् ।
 'यदरोदीन् तद्द्रस्य रुदत्यम्'—इति हारिद्रवकम् । "इमा रुद्राय
 स्थिरधन्वने गिरः (ऋ० सं० ५, ४, १३, १)" ॥

(४) इन्द्रः । इराशब्द उपपदे दृणातेर्दधातेर्दारयतेर्वा 'ऋजो-
 द्राप्रयज्ञविप्र (उ० २, २७)'—इति रक्प्रत्ययान्तो निपात्यते ।
 निपातनाद्वृषसिद्धिरुच्यते । इरा अन्नमनेन सम्यग्व्याख्या तद्धेतुमूलकं
 धनं लक्ष्यते । तेन घटलक्षितलक्षणया तदाधारभूतो मेघः ।
 इरां मेघं धारात्मना दृणाति विदारयति । धीजं घ्रीह्यादि तथासौ
 वृष्टिप्रदानेन विदारयति । अङ्कुरोद्भेदेनामिकाशश्च विदारणम् ।
 इरामन्नं तद्दाति वा । इरां दधाति धारयति वा । इन्द्राशुपपदे
 द्रपतेः रमतेर्वा निपातनम् । इन्द्रे द्रपति गच्छति सोमं पातु-
 मित्यर्थः । इन्द्रो रमतेऽतिप्रियत्वात् नान्यत्र । इन्धेर्वा निपातनम् ॥
 इन्धे द्रापयति शरीरमध्यवर्ती पञ्चवृत्तिः प्राणो वायुः
 शरीरभूमादि इध्यते वा प्राणीः । शरीरमध्यवर्ती प्राणमाधेन
 क्षेत्रज्ञसम्पन्नकः । प्राणीयांगादिभिर्यागवन्नेन वा सम्यगामिमुल्येन
 द्रापयति आत्मोपासकाः । इक्षुमुन्पादीकरोति पश्यति वा इन्द्रः ।
 इदं वृत्तं जगद् वृष्टिप्रदानद्वारेण करोति लोकपालत्वात्, अग्न्य
 सूर्यस्य शुभाशुभकर्मणो द्रष्टा वा । इदुपपदे दारयतेर्द्रापयतेर्वा
 इन्द्रपदम् । यद्वा, इताञ्च शत्रूणां दारयिता द्रापयिता च । यद्वा,

इताञ्च यज्यनामादरयिता च । सर्वत्र निपातनाद्रूपसिद्धिः ।

“महान्तमिन्द्र पर्वतं वियदुवः (ऋ० सं० ४, १, ३२, १)” ॥

(५) पर्जन्यः । तृपेरन्तर्णोत्पत्त्यर्थात् क्विपि तर्पयतीति तृप् । जनहितो जन्यः हितार्थं यत् । तृप् चासी जन्यश्चेति तृप्शब्दस्य परभावः । परशब्दोपपदात् जायतेर्जनयतेर्चा अभ्यादित्वात् यत्, नुम्, परशब्दातो लोपश्च निपात्यते । परः प्रकृष्टो जेताजनयिता वा । प्रस्सशब्दोपपदादर्जयते वा अभ्यादित्वात्त्रिपातनन्तेन पर्जन्यः प्रकर्षेणोपार्जयिता सङ्ग्रहीता रसानाम् । “यत् पर्जन्यस्तनयन् हन्ति दुष्कृतः (ऋ० सं० ४, ४, २७, २)” ॥

(६) बृहस्पतिः । बृहच्छब्दो व्याख्यातो महासामसु (३०८ पृ०) पतिशब्दस्तु ईश्वरनामसु (३०१ पृ०) । अत्र पितृतेरपि बाहुलकात् पतिः । बृहत्तः सोमरसस्य घाव्यात्मना पाता पालयिता रक्षिता वा । पिता रक्षयिता महतो जगतो वा । “बृहस्पतिर्विरयेणा विष्टृत्य (ऋ० सं० ८, २, १८, २)” ॥

(७) ब्रह्मणस्पतिः ।

(८) क्षेत्रस्य पतिः । ‘क्षि निवासगरयोः (तु० प०)’ । ‘गुधृवीपचिवचियमिमनितनिसदिक्षदिम्यस्त्रन् (उ० ४, १६२)’— इति त्रन्प्रत्ययः । निवसन्ति हि येन च हेतुभूतेन, तस्य पाता । “क्षेत्रस्य पतिना घयम् (ऋ० सं० ३, ८, ६, १)” ॥

(९) घास्तोष्पतिः । ‘घस निवासे (भू० प०)’ ‘घसेस्तुन् णिञ् इति । सामर्थ्यात्तत्र घास्त्वन्तरिक्षम्, तस्य पाता विभुत्वेन । “अमी घदा घास्तोष्पते (ऋ० सं० ५, ४, २२, १)” ॥

(१०) वाचस्पतिः । प्राणात्मेन्द्रः । अतः प्राणस्य घाग्रू-
पतयाप्यवस्थानात् प्राणो वाचस्पतिरिति व्यपदिश्यते । “पुनरेहि
वाचस्पते (अथ० सं० १, १, २)” ॥

(११) अषाघपात् । तनूनपात् व्याख्यातः (४५६ पृ०) ।
“अषाघपान्मधुमतीरपोदाः (ऋ० सं० ७, ७, २४, ४)” ॥

(१२) यमः । मध्यस्थानो घायुः । यच्छनि प्रयच्छति
स्तोतृभ्यः कामानि । पचाद्यच् । “यमं राजानं हविषा दुषस्य
(ऋ० सं० ७, ६, १४, १)” ॥

(१३) मित्रः । प्रमीतान्मरणात् प्रायते । ‘सुपि सः (३,
२, ४)’—इत्यत्र सुपीति योगविभागात् प्रमीतशब्दस्य मिद्वायः ।
यद्वा, ‘डुमिर् प्रक्षेपणे (स्वा० उ०)’ । यद्वा, ‘पिचि मिचि सेचने
(भू० प०)’ । सम्मिन्यानः सम्यक् कृष्टिं प्रक्षिपन् सम्यक् सिञ्चन्
वा द्रव्यत्यन्तरिक्षे । मिन्यानशब्दस्य मिद्वायः, द्रवतेः उपत्यया-
न्तस्य प्रभायः । ‘त्रि मिदा स्नेहने (भू० आ०)’ अन्तर्णीत-
ण्यर्थः । ‘अमिचिमिमिदिशंसिभ्यः कित् (उ० ४, १४६)’—
इति व्रन्प्रत्ययः । णिजन्तादुवा बाहुलकादूपसिद्धिः । सर्व-
शस्यान्युदकेन स्नेहयति । “मित्रो जनान्यातयति श्रुधाणः (ऋ०
सं० ३, ४, ५, १)” । ‘त्रिमिदा स्नेहने (भू० आ०)’ अन्तर्णी-
तण्यर्थः ॥

(१४) कः । क्रमेः क्रमेर्वा ‘अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)
—इति टप्रत्यये क्रमते रैफलोपो बाहुलकात्, ‘प्रजापतिरका
मयत’—इति बहुलकामत्वात् कः प्रजापतिः । क्रमणो वा क्रम-

यत्यन्तरिक्षे । कमिति सुखनाम, सुखो वा वृष्टिप्रदानादिना ।
 “कस्मै देवाय हविषा विधेम (ऋ० सं० ८, ७, ३, १)” ॥

(१५) सरस्वान् । सर इत्युक्तं, तेन तद्वान् । “ये ते सरस्व
 ऊमयः (ऋ० सं० ५, ६, २०, ५)” ॥

(१६) विश्वकर्मा । करोतेः कर्त्तरि मनिन् । मध्यमस्थानो
 वायुः । वृष्टिद्वारेण सर्वस्य कर्त्ता सर्वचेष्टानां तदधीनत्वात् ।
 “विश्वकर्मा धिमना आदिद्विहायाः (ऋ० सं० ८, ३, १७, २)” ॥

(१७) तार्क्ष्यः । स्तीर्णशब्दे तूर्णशब्दे चोपपदे क्षियति क्षरति-
 रक्षत्यश्नातिभ्योऽङ्ग्यादित्वात् (उ० ४, १८) यत्प्रत्ययादि निपा-
 त्यते । स्तीर्णे विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति क्षरति रक्षत्यश्नाति, तूर्णे
 धार्यमुद्काख्यं क्षियति क्षरति वा अश्नुते वा तमः । “स्वस्तये
 तार्क्ष्यं मिहाहुधेम (ऋ० सं० ८, ८, ३६, १)” ॥

(१८) मन्युः । व्याख्यातः क्रोधनामसु (२५० पृ०) । दीप्तः क्रुद्धो
 वा । “त्यया मन्यो सरथमारुजन्तो (ऋ० सं० ८, ३, १६, १)” ॥

(१९) दधिकाः । व्याख्यातोऽश्वनामसु (१६१ पृ०) । दध-
 द्धारपद्मं वृष्ट्युदकमन्तरिक्षे कामति गच्छति, क्रन्दति स्तनयितु-
 रक्ष्णं शब्दं कणेति । “आ दधिकाः शबसा पञ्च हृष्टीः (ऋ०
 सं० ३, ७, १२, ५)” ॥

(२०) सविता । ‘यु प्रसवैश्वर्ययोः (मू० प०)’ । वृद्धि
 ‘स्वरतिसूतिसूयतिधृञ्छ्रुदितो वा (७, २, ४४)’ । सर्वकर्मणां
 वृष्टिप्रदानादिना सविता अभ्यनुज्ञाता । “सविता यन्त्रैः पृथिवी-
 मरम्णात् (ऋ० सं० ८, ८, ७, १)” ॥

(२१) त्वष्टा । व्याख्यातः (४५८ पृ०) । “देवस्त्वष्टा सविता
विश्वरूपः (ऋ० सं० ३, ३, ३१, ४)” ॥

(२२) घातः । घातेः ‘हुसिमृग्रिण्वामिदमिन्द्रपुर्विम्यस्तन्
(उ० ३, ८३)’ । घाति घातः । “घात आघातु मेपजम्
(ऋ० सं० ८, ८, ४४, २)” ॥

(२३) अग्निः । व्याख्यातः (४५३ पृ०) । इह मध्यमोऽग्नि-
धेयः । “मद्विष्मन् आ गहि (ऋ० सं० १, १, ३६, १)” ॥

(२४) वेनः । वेनतेः कान्तिकर्मणी पचायच् (३, १, १३४) ।
कान्तो दीप्तो मध्यमस्थानः । “अयं वेनश्चोदयत् पृथिवर्भा
(ऋ० सं० ८, ७, ७, १)” ॥

(२५) असुनीतिः । असुशब्दे उपपदे नयतेः ‘हृत्पदपुटो
यदुलम् (३, ३, ११३)’—इति क्तिन् । असून् नयतीति असुनीतिः ।
स च मध्यमः प्राणः । प्राणश्च वायुः । स हि शरीरादुत्क्रामन्तो-
ऽसून् नयति । विज्ञायते हि प्राणा उत्क्रामन्तः सर्वेऽनूत्क्रामन्ति ।
“असुनीति मनो अस्मासु धारय (ऋ० सं० ८, १, २२, ५)” ॥

(२६) ऋतः । ‘ऋ गती (मू० पृ०)’ । गत्यर्थात् कर्त्तृ-
क्तः । अर्त्ता गन्ता अन्तरिक्षे । “ऋतस्य हि शुक्रयः सन्ति पूर्वीः
(ऋ० सं० ३, ६, १०, ३)” ॥

(२७) इन्दुः । इन्द्वेः ‘मृमृशीतृत्वरित्सरितनि (उ० १, ७)’
—इत्यादिना बाहुलकादुपत्ययो घकारस्य दकारश्च । उनत्तेर्वा
‘उन्देर्वादेः (उ० १, १२)’—इत्युपत्ययः । दीप्यते उनन्ति वा
घर्षेण । “प्रत्ततो चयम्भयायेन्द्वे (ऋ० सं० २, १, १७, १)” ॥

(२८) प्रजापतिः । प्रजानां पाता । “प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः (ऋ० सं० ८, ७, ४, ५)” ॥

(२९) अहिः । व्याख्यातो मेघनामसु (८७ पृ०) । इह त्विन्द्रोऽभिधेयः । “अञ्जामुक्थैरहिङ्गृणीषे (ऋ० सं० ५, ३, २६, ६)” ॥

(३०) अहिर्युध्न्यः । योऽहिः स एव युध्न्यश्चेति समानाधिकरणश्चाहिर्युध्न्यशब्दोऽसमस्तः । तथाच ‘अहिना युध्न्येन (३, ३, १९ ये० या०)’—इति श्रुतौ लिङ्गम् । “मनोऽहिर्युध्न्यो रिवे धात (ऋ० सं० ५, ३, २६, ६)” ॥

(३१) सुपर्णः । व्याख्यातो यश्मिनामसु (५७ पृ०) । इह शोभतगमनत्वान्मध्यम उच्यते । “एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश (ऋ० सं० ८, ६, १६, ४)” ॥

(३२) पुरुरवाः । पुश्शब्दोपपदात् भृशार्थविशिष्टात् रौतैरसुनि ‘अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)’—इति पूर्वपदस्य दीर्घः । अनेकविधमित्यर्थः । स्तनयितुलक्षणं शब्दं करोति पुरुरवाः । विहायते हि पाताः प्राणा एव पुरुरवा इति । “महे यत्त्वा पुरुरवो रणाय (ऋ० सं० ८, ५, ३, २)” ॥

श्येनः (१) । सोमः (२) । चन्द्रमाः (३) ।

मृत्युः (४) । विश्वानरः (५) । धाता (६) ।

विधाता (७) । मरुतः (८) । रुद्राः (९) । ऋभवः

(१०) । अङ्गिरसः (११) । पितरः (१२) । अथ-

वार्षाः (१३) । भृगवः (१४) । आप्त्याः (१५) ।
 अदितिः (१६) । सरमा (१७) । सरस्वती (१८) ।
 वाक् (१९) । अनुमतिः (२०) । राका (२१) ।
 सिनीवाली (२२) । कुहूः (२३) । यमी (२४) ।
 उर्वशी (२५) । पृथिवी (२६) । इन्द्राणी (२७) ।
 गौरी (२८) । गौः (२९) । धेनुः (३०) । अघ्न्या
 (३१) । पथ्या (३२) । स्वस्तिः (३३) । उपाः
 (३४) । इला (३५) । रोदसी (३६) । इति पट्-
 त्रिंशत् पदानि ॥ ५ ॥

(१) श्वेतः । श्वेतोऽश्वनामसु व्याख्यातः (१६६ पृ०) । इह
 मध्यमोऽभिधेयः । “आदाय श्वेतो अभरत् सोमम् (ऋ० सं०
 ३, ६, १५, ७)” ॥

(२) सोमः । ‘पुञ् अमिषवे (स्वा० उ०)’ । अस्तिस्तुसुह-
 धृक्षि (उ० १, १३७)—इति मन् । सूयते सोमः । “पचस्व
 सोम धात्या (ऋ० सं० ६, ७, १६, १)” ॥

(३) चन्द्रमाः । चायनात् द्रमतेरसुन् । चायनशब्दस्य
 चन्सायः । चायन् पश्यन् लोकपालत्वात् दमन् गच्छति ।
 यदुपा, चन्द्रशब्दे उपपदे मातेश्च ‘चन्द्रे मो डित् (उ० ४, २२२)’

—इत्यसुन । चन्द्रश्चासौ निर्माता । चन्द्रमानं निर्माणमात्मनः कर्मणां घास्य । यदुवा, चान्द्रं चन्द्रसम्बन्धि मानमस्य चान्द्रमाः सन् हस्वेत्येन चन्द्रमाः । यदुवा, चारुशब्दे उपपदे द्रवतेरसुनि बाहुलकादूपसिद्धिः । चारु शोभनं द्रवति गच्छति मन्दगतिः त्वात् चा । चिरं द्रवति या । “अ चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः (ऋ० सं० ८, ३, २३, ४)” ॥

(४) मृत्युः । प्रियतेरन्तर्णोत्पत्त्यर्थात् ‘मुजिमृङ्म्यां युक्-
त्युक्ती (उ० ३, १६)’—इति त्युक्प्रत्ययः । मारयति प्राणिनः
मृतं व्यावयतीति घा । मृतमिति वर्त्तमानसामीप्ये आसन्न-
मृत्युं चरमोच्छ्वासकाले शरीरात् व्यावयति । अथवा, मृत
क्षीणायुःसंस्कार उच्यते, तम् मृतं मध्यमः प्राणः शरीरात्
व्यावयतीति मृत्युः । मृतशब्दोपपदात् व्यावयतेः ‘अध्याद्यश्च
(उ० ४, १०८)’—इति उपप्रत्ययः, मृतान्तलोपः, व्यावयतेस्त्यु-
भाद्यश्च निपात्यते । “परं मृत्यो भन्तु परे हि पन्थाम् (ऋ० सं०
७, ६, २६, १)” ॥

(५) विश्वानरः । ‘अपि घा विश्वानर एवेति व्याख्यातम्
(निह० ७, २१)’ । “अर्चा विश्वानराय विश्वाभुघे (ऋ० सं०
४, १, ६, १)” ॥

(६) धाता । (७) विधाता । व्युपसर्गाथं विशिष्टात्तदुपपदाद्य
धाप्रस्तृच् । वर्षकर्मणा सर्वं स हि दधाति । “धाता ददानु
दागुपे (अथ० सं० ७, १, ४, २)” । “धातविधातः पन्थार्त्ता
अमक्षयम् (ऋ० सं० ८, ८, २५, ३)” ॥

(८) मरुतः । व्याख्याताः (३५३ पृ०) । मितं स्वन्ति स्तनयितुलक्षणं शब्दं कुर्वन्ति । अमितं चा बहुप्रकारं स्वन्ति । महदुच्चैर्द्रवन्ति, महदन्तर्गिर्द्रवन्तीति चा मरुतः । “आ विद्यन्महिर्मरुतः स्वर्गैः (ऋ० सं० १, ६, १४, १)” ॥

(९) रुद्राः । रुद्रशब्दो व्याख्यातः (४६८ पृ०) । अत्र यदुपचनम् । “आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसः (४, ३, २६, १)” ॥

(१०) ऋभयः । ऋभुशब्दो व्याख्यातो मैधाविनामसु (३४३ पृ०) विद्यन्प्रकाशनमुरः विस्तीर्णं भाति, ऋनेन घादनेन दीप्यन्ते, ऋनेन सत्येन चान्तःसहाया भवन्ति । “सौधन्यना ऋभयः मूर्च्छक्षसः (ऋ० सं० १, ७, ३०, ४)” ॥

(११) अङ्गिरसः । ‘देवस्य वितने यज्ञं महतो परुणस्य च । प्रहृणोऽप्सरसो दृष्टा रेतश्चम्यन्द कर्दिनिन् । तन् प्रतीक्ष्य समर्थेन स जुहाप विभाचसी । अङ्गास्तोऽङ्गिराः’ । जस् । “नै अङ्गिरसः सूनप्रन्तं अग्नेः पञ्जिजिरे (ऋ० सं० ८, २, १, ५)” ॥

(१२) पितरः । ‘पिता पाता वा (निग० ४, २१),— इत्यादिना व्याख्याताः । जम् । “उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः (ऋ० सं० ७, ६, १७, १)” ॥

(१३) अथर्वाणाः । (१४) भृगवः । भवन्ति अर्वाण्यर्थो नैस्त-
धानुः । न भवन्मभ्यर्वाणमगमनं ततो जसि अथर्वाणाः सन्तः
आभ्यर्वाणाः । यद्वा, भवन्तः ‘श्वश्रुश्चनपूवन् (उ० १, १५२)’—
इत्यादिना कनिनप्रत्ययान्तो निपात्यने । अथर्वाणोऽगतन्तारः ।
भृगवः । भृज्यमानाः महत्तेजम्वित्तान् । असृज पाके (तु० २

उ०) । 'प्रथिभ्रदिभ्रसृजां सम्प्रसारणं सलोपश्च (उ० १, २७)
—इत्युप्रत्ययः, न्वङ्कादित्वात् कुत्थम् । "अथर्वाणो भृगवः
सोम्यासः (ऋ० सं० ७, ६, १४, १)" ॥

(१५) आप्त्याः । आप्रोतेः अप्र्यादित्वात् (उ० ४, १०८)
यद्प्रत्ययः तुगागमश्च निपात्यते । आप्रुचन्ति सर्वमाप्त्या
मध्यमस्थाना इन्द्रसहचारिदेवगणाः । "इतममाप्त्यानाम् (ऋ०
सं० ८, ७, २, १)" ॥

(१६) अदितिः । 'सर्वास्त्रियो मध्यमस्थाना पुमान् वायुश्च
सर्वशः । गणाश्च सर्वे मरुत इति बृहदानुशासनम्' । अदिति
व्याख्याता नैगमे (१३ पृ०) । "दक्षस्य चादिते जन्मनि व्रते (ऋ०
सं० ८, २, ६, ५)" ॥

(१७) सरमा । 'रु गतौ (भू० प०)' । 'कलिकर्षोरमः
(उ० ४, ८२)'—इति बाहुलकादमप्रत्ययः । पणिमिरसुरैः गूढानि
गा अन्धेषु प्रहिता इन्द्रेण सरमा देवशुनी । "किमिच्छन्ती सरमा
प्रेदमानङ् (ऋ० सं० ८, ६, ५, १)" ॥

(१८) सरस्वती । व्याख्याता धाङ्नामसु (१०० पृ०) ।
"पायका नः सरस्वती (ऋ० सं० १, १, ६, ४)" ॥

(१९) पाक् । व्याख्याता स्वनामसु (११० पृ०) । "यद्वाग्
घदन्त्यधिचेतनानि (ऋ० सं० ६, ७, ५, ४)" ॥

(२०) अनुमतिः । (२१) राका । अनुपूर्वान्मन्यतेषां दुल-
कात् कर्त्तरि क्तिन् । अनुगम्यते यदनुमन्तव्यम् । 'रा दाने
(अद्वा० प०) वृत्राधारार्चिकलिप्त्यः कः'—इति कप्रत्ययः ।

दीयते हि तस्यां देवेभ्यो हविः । मध्यमस्थाने देवपत्न्यां (११, २८)—इति नैरुक्ताः । पीर्णमास्याविति धार्मिकाः । “अन्वि-
दनुमते त्वम् (य० घा० सं० ३४, ८)” । “राकामहं सुहृद्यां
सुपुत्रां हुवे (ऋ० सं० २, ७, १५, ४)” ॥

(२२) सिनीवाली । देवपत्न्यावमायास्ये घा । सिनमग्रना-
मसु व्याख्यातम् (२२३ पृ०) । चालं पर्व । “सिनीवालि
पृथुष्कु (ऋ० सं० २, ७, १५, ६)” ॥

(२३) कुहः । ‘गृह संचरणे (मू० उ०)’ अस्मान्, कशश्चो-
पपदात् भवनेर्हयतेर्घा ‘नृतिशृङ्घोः कृः (उ० १, ८८)’—इति
यादृलकात् उपत्ययो गकारस्य ककारादि च । शुभ्रः, दृशश्च-
न्द्रमा न भवति तस्याप्रयक्षत्वान् । क पुनरसाविति वितर्क्यश्च
चन्द्रमा भवति । ‘कृहमहं सुवृत्तं विद्यनापसम् (तै० ब्रा० ३,
३, ११)” ॥

(२४) यमी । यमेन व्याख्याता (४७१ पृ०) । ‘इन् सर्वधा-
नुम्यः (उ० ४, ११४)’—इतीन् । ‘रुदिकारात् (४, १, ४५
या०)’—इति ङीप् । “अन्यमूपुत्वं यम्यन्यद त्वाम् (ऋ० सं०
७, ६, ७८, ४)” ॥

(२५) उर्वशी । व्याख्याता (४१३ पृ०) । उर्वशुने इत्यादि
यथानुसन्धानं योज्यम् । “प्रोर्वशी तिरन दीर्घमायुः (ऋ० सं०
१, ५, २, ४)” ॥

(२६) पृषिषी । व्याख्याता (४७ पृ०) । इह मध्यमामिषेया ।
“एदं पिमरि पृषिषि (ऋ० सं० ४, ४, २६, १)” ॥

(२७) इन्द्राणी । 'इन्द्रवरुण (१, १, ४६)'—इति ङीपा-
नुक् च । मध्यमस्थाना इन्द्रस्य पत्नी वा । "इन्द्राणीमासु
नारिषु (ऋ० सं० ८, ४, ३, १)" ॥

(२८) गौरी । (२९) गौः । (३०) धेनुः । व्याख्याता वाङ्मनामसु
(१५, १४, १११ पृ०) । "गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति (ऋ० सं०
२, ३, २२, १)" । गौरीमीमेदनु वरसं मिपन्तम् (ऋ० सं० २, ३,
२६, ३)" । "उपह्वये सुकुधां धेनुमेताम् (ऋ० सं० २, ३, २६, १)" ॥

(३१) अश्विन्या । व्याख्याता शीनामसु (२४४ पृ०) । "अदि
तृणमश्विन्ये विश्वदानीम् (ऋ० सं० २, ३, २१, ५)" ॥

(३२) पथ्या । (३३) स्वस्ति । 'पन्थाः पततेः'—इत्यादिना
पथिन्शब्दो व्याख्यातः (निरु० २, २८) । पथते तत्स्थानि-
भिरिति पन्था अन्तरिक्षम् । तत्र भया पथ्या 'भये छन्दसि
(४, ४, ११०)'—इति यत्, 'नस्तद्विते (६, ४, १४४)'—इति
दिलोपः । सुपूर्वावस्तेः क्तिन्, 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—
इत्यसार्धधातुकत्वात् भूमाद्याभायः, आर्द्धधातुकत्वच्छसोरलोपो
न भयति । शोभना अस्ति रसवत्तया यस्याः स्वस्ति ।
शोभनत्वज्ञाविनाशित्वात् । 'पथ्यां स्वस्ति प्रथमां प्रायणीये
यजति'—इति दृष्टत्वात् द्विपदमेव समास्रात्मम् । "स्वस्तिरिद्धि
प्रपथे श्रेष्ठा (ऋ० सं० ८, २, ५, ६)" ॥

(३४) उषाः । उच्छतीति व्याख्याता (निरु० २, १८) ।
सा एतुदकादि विद्यासयति विद्यास्यते वा मेधात् । "अपोषा
अनसः सरत् (ऋ० सं० ३, ६, २०, ५)" ॥

(३५) इला । व्याख्याता वाङ्नामसु (६४ पृ०) । “अग्नि
न इला दूथस्य माता (ऋ० सं० ४, २, १६, ४)” ॥

(३६) रोदसी । व्याख्याता याज्ञवल्क्यीनामसु (१७३ पृ०) ।
अथ पुंयोगलक्षणो ङीप् (४, १, ४८) । रुद्रस्य मध्यमस्थानस्य
पत्नी माध्यमिका वाक् । “सच्चा मरुतु रोदसी (ऋ० सं० ४,
३, २०, ३)” ॥

इति मध्यस्थानदेवताः ॥ २ ॥

अश्विनौ (१) । उषाः (२) । सूर्या (३) ।
वृषाकपायी (४) । सरण्यूः (५) । त्वष्टा (६) ।
सविता । (७) भगः (८) । सूर्य्यः (९) । पूषा
(१०) । विष्णुः (११) । विश्वानरः (१२) । वरुणः
(१३) । केशी (१४) । केशिनः (१५) । वृषाकपिः
(१६) । यमः (१७) । अजएकपात् (१८) ।
पृथिवी (१९) । समुद्रः (२०) । दध्यङ् (२१) ।
अथर्वा (२२) । मनुः (२३) । आदित्याः (२४) ।
सप्तऋषयः (२५) । देवाः (२६) । विश्वेदेवाः
(२७) । साध्याः (२८) । वसवः (२९) । वाजिनः

(३०) । देवपत्न्यः (३१) । देवपत्न्य इत्येकत्रिंश-
त्पदानि ॥ ६ ॥

इति निघण्टौ पञ्चमाध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

(१) अश्विनौ । अश्वशब्दो व्याख्यातोऽश्वनामसु (१६८ पृ०) ।
भासा सर्वं जगद् व्याप्नुतः । अवश्यायरसेन, मध्यमः, तेजसो-
त्तमः । वाधापृथिव्याचहोरात्रे सूर्याचन्द्रमसौ वाश्विशब्दा-
भिधेयौ । द्यौः ज्योतिषाश्नुते, पृथिवी रसेनाल्लक्षणेन ।
अहज्योतिषा, रात्रिरवश्यायेन । सूर्यो ज्योतिषा चन्द्रमा
रसेनाह्लादादिना वा । अश्वैस्तुरङ्गैस्तद्वन्तौ राजानौ पुण्य-
कृतावित्यौर्णनामः । “कदेदमश्विना युषम् (निघ० १२, २)” ॥
तपोः कालः उद्धर्षमर्द्धरात्रात् सूर्योदयपर्यन्तः । तस्मिन्नान्या
देवता उपास्ते ॥

(२) उषाः । षष्ठेर्बोद्धतेर्वा । “उपस्तधिभ्रमा भरा (य०
पा० सं० ३४, ३३)” ॥

(३) सूर्या । व्याख्याता चाङ्नामसु (१०० पृ०) । एषैवोषाः
सूर्या सम्पद्यते । “आरोह सूर्यं अमृतस्य लोकम् (ऋ० सं०
८, ३, २३, ५)” ॥

(४) वृषाकपायी । वृषाकपेरादित्यस्य पत्नी । ‘वृषाकप्यग्नि-
कुसितकुसिद (४, १, ३७)’—इत्येकार्द्धीयी । “वृषाकपायि
रेवति (ऋ० सं० ८, ४, ३, ३)” ॥

(५) सरण्युः । सौघोपा प्रभातं दृष्टुं दयावस्था सूर्यं प्रत्यात्मानं सरणेन नयति तदा सरण्यूरुच्यते । सत्तैः 'पुंसि सम्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)' । सरेण सरणेन नयति 'मृत्तिमृदिकुदिभ्यः'—इति बाहुलकाभ्रयतेरुक्तप्रत्ययः, 'घरेजेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (६, ४, ८२)' । "अजहादुष्ठा मिथुना सरण्युः (अ० सं० ७, ६, २३, २)" ॥

(६) त्वष्टा । (७) सचिता । व्याख्याते (४५८ पृ०, ४७२ पृ०) तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्मचति । "यिनाफमस्यत् सचिता घरेण्यः (य० धा० सं० १२, ३)" ॥

(८) भगः । व्याख्यातो घननामसु (२३६ पृ०) । भजनीयो भूतानां स्वकार्यप्रयुक्तानाम् । त्वष्टृकालानन्तर्यसिञ्ज्योतिर्विशेषो भगाव्यः । प्रागुत्सर्पणादनाकिर्मूतमण्डल इत्यर्थः । "प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम (अ० सं० ५, ४, ८, २)" ॥

(९) सूर्यः । व्याख्यातः सूर्याशब्देन (१०० पृ०) प्रागवस्थानः । सरति कर्मसु जगत् प्रेरयति धायुना घट्टाम् । सुष्टु सूर्यदैवो-दयास्तमयी प्रति ईर्यते । "दृशे विश्वाय सूर्यम् (अ० सं० १, ४, ७, १)" ॥

(१०) पूषा । 'पुष पुष्टौ (अ० सं० १०)' । 'श्वन्नुक्षन् (उ० १, १५५)'—इति कनिष्ठप्रत्यये ऽपधादोर्ध्वत्वं निपात्यते । यदा रश्मिभिः परिपुष्टो भवति तदा पूषा । "भद्रा ते पूषश्चिह्नं रातिरस्तु (अ० सं० ४, ८, २४, १)" ॥

(११) विष्णुः । व्याख्यातो यज्ञनामसु (३५१ पृ०) तद्विरश्मिद्वारेण सर्वत्र ह्यविशति । विशेषाद्बहुलकान्नुप्रत्ययादि ।

विश्वं रश्मिभिर्व्यश्नुते वा । “इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ० सं० १, २, ७, २)” ॥

(१२) विश्वानरः । व्याख्यातः (४५४ पृ०) । इह उत्तमोऽभिधेयः । “विश्वानरस्य वस्पतिम् (ऋ० सं० ६, ५, १, ४)” ॥

(१३) वरुणः । व्याख्यातः (४६८ पृ०) । “त्वं वरुण पश्यसि (ऋ० सं० १, ४, ७, ५)” ॥

(१४) केशी । (१५) केशिनः । केशा रश्मयः । प्रशंसायामिनिः । प्रकृष्टैः केशैस्तद्वान् ‘काश्ट दीप्ती (भू० आ०)’ काशनं काशाः, तद्वान् काशी सन् केशी । तमसोऽप्रव्यगत आदित्य उच्यते । “केश्यरग्निं केशी विषम् (ऋ० सं० ८, ७, २४, १)” ॥

(१६) वृषाकपिः । ‘वृष सेचने (भू० पृ०)’ । ‘कनिन्यू-वृषि (उ० १, १५४)’—इत्यादिना कनिन् । ‘कपि बलने (भू० आ०)’ । ‘कुण्डिकम्प्योर्नलोपश्च (उ० ४, १३६)’—इतीप्रत्ययः निजन्तो वा । अयञ्च सेचयिता, अयस्यायादीन् कम्पयञ्च चरति, दिवा चारीणि भूतानि भयात् कम्पयतीति वा । ‘तन्पुरुषे कृति बहुलम् (६, ३, १४)’—इति बहुलवचनादलुक् । “पुतरेहि वृषा-कपे (ऋ० सं० ८, ४, ४, ३)” ॥

(१७) यमः । व्याख्यातः (४७१ पृ०) । सङ्गच्छते रश्मि-मिरिति अस्तमयावण आदित्य उच्यते । “देवैः सम्पिबते यमः (ऋ० सं० ८, ७, २३, १)” ॥

(१८) अजपकपात् । अस्तमायात् आदित्य उच्यते । द्विपदं चैतन् । अजतेः पचायन्ति बाहुलकान् घीमायामावः । एकश्च

पादः कस्य ग्रहणः । कुत एतत् विभ्रते हि अग्निः पादः, वायुः
पादः, आदित्यः पादः, दिशः पादः, इति । तेनाज्ज्ञासावेकपा-
दोति । 'संश्लेषपूर्वस्य (५, ४, १४०)—इत्यबहुव्रीहावपि पाद-
स्याकारलोपः । एकेन पादेनांशेन सर्वमिदं जगत् ज्योतिरात्मना
प्रविशन् पाति, एकेनांशेन उदकं सर्वस्य जगतः पियति, किपि
तकारोपजनः । एकोऽस्य पाद इत्ययथाप्राप्तः पादान्त्यलोपः ।
“पार्थिवीतन्वतुरेकपादजः (ऋ० सं० ८, २, ११, ३)” ॥

(१६) पृथिवी । व्याख्यातः (४७ पृ०) । इह 'घौरुच्यते ।
“यदिन्द्रानी परमस्यां पृथिव्याम् (ऋ० सं० १, ७, २७, ३)” ॥
(२०) समुद्रः । व्याख्यातोऽन्तरिक्षनामसु (४६ पृ०) ।
निर्वचनेषु योज्यम् । उत्तमोऽमिधेयः । “महः समुद्रं चरण-
स्तिरोदधे (ऋ० सं० ७, २, २६, ३)” ॥

(२१) दधवद् । ध्यानं ज्ञानं लोककृत्यादृत्यविषयं लोकपा-
त्यत्वात् । ध्यानं प्रतिपन्नं प्रत्यक्षमस्मिन् ध्यानमिति वा ।
ध्यानशब्दोपपदान् अज्ञानेः किनि पृषोदरादित्यात् ध्यानशब्दस्य
अधिभावः, “किन्प्रत्ययस्य कुः (८, २, ६२)” ॥

(२२) अथर्षा । व्याख्यातोऽधर्षाण इत्यत्र (४७७ पृ०) ।
एद तु उत्तमो वाच्यः । न ह्यर्षं स्वाधिकारं व्यभिचरति, रसा-
दानादिकं नित्यमनुतिष्ठतोत्तर्यः ॥

(२३) मनुः । मनुतेर्मननार्थादर्थतिकर्मणो वा 'शुभ्रवृत्तिदिश-
प्यसिपतिहनिद्रिद्रिवन्निमनिम्यश्च (३० १, १०)’—इत्युप्रत्ययः ।
मननान् स्वाधिकारादेः, अर्च्यते इति वा मनुरादित्यः ।

“यामथर्चा मनुष्पिता दध्यद् धियमन्नत (ऋ० सं० १, ५
३१, ६)” ॥

(२४) आदित्याः । आहूषूर्वात् दातेर्दीप्यतेर्वा अघ्न्यादित्वात्
(उ० ४, १०८) यत्प्रत्ययः । आकारेकारयोरिकारः, दाजस्तुक्
दीप्यतेः पकारस्य तकारश्च निपात्यते । भुवो रत्वं रश्मिभिरा-
दत्ते । ज्योतिषां अम्भनक्षत्रग्रहादीनां भासमादत्ते वा, तदुदयेऽ-
तद्वानादानव्यपदेशः । आदीप्तः ज्योतिरन्तरापेक्षया हि स्वभासा ।
अदितेः पुत्रा वा आदित्याः ‘दित्यदित्यादिरय (४, १, ८५)’—इति
ण्यः । तथा च ‘अदितेः पुत्रकम्’—इत्यादि आह्वयणम् । जसि
आदित्याः मित्रादयः । “इमा गिर आदित्येभ्यो घृतलूः (ऋ०
सं० २, ७, ६, १)” ॥

(२५) सप्त ऋषयः । व्याख्याताः (५६ पृ०) । रश्मयः ।
पङ्क्तिरियाणि वा मनःपष्ठानि विद्यासप्तमानि । “सप्त ऋषयः
प्रतिहिताः शरीरे (य० वा० सं० ३४, ५५)” ॥

(२६) देवाः । दिव्यतिर्दानार्थो दीप्त्यर्थो वा । पचायत्
(३, १, १३४) । वस्तारोऽभिमतानां भक्तेभ्यः । तैजसत्वाद्
दीप्ता वा । घृतेर्चापि चाहुल्लभाद्रूपसिद्धिः । अर्थः समानः ।
दियः सम्यन्धिनो वा देवाः । तस्येदम् (४, ३, १२०)’—इत्यजि
वृद्धयभाचक्षुःशब्दसः । ‘सुप्रागवागुदङ्प्रतीचो यत् (४, २,
१०१)’—इति यत्प्रत्ययो नात्र भवति । घृत्याना इत्यर्थः ।
देवा रश्मय उच्यन्ते । “देवानां मद्रा सुमतिर्ह्यज्यताम् (ऋ०
सं० १, ६, १५, २)” ॥

(२७) विश्वेदेवाः । सर्वे देवाः । “विश्वेदेवास आगत
(ऋ० सं० १, १, ६, १)” ॥

(२८) साध्याः । व्याख्याताः रश्मिनामसु (५७ पृ०) । नैरुक्त-
पक्षे रश्मयः । ऐतिहासिकानान्तु कर्मभिरात्मभिरात्मसाधनात्
पूर्वं देवसमूहाः, ये च किल विश्वसृजो नाम ऋषयः । “यत्र
पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः (ऋ० सं० २, ३, २३, ४)” ॥

(२९) वसवः । व्याख्याता रश्मिनामसु (५५ पृ०) । त्रिभा-
गेनावस्थितमिदं सर्वमाच्छादयन्ति । अत्र त्रिस्थाने छादक-
त्वात् । वसवो यावन् किञ्चिन् पृथिवीस्थानमग्निभक्तिं तन् सर्वं
घसुत्येनामिमेत्येतदुच्यते,—“अग्निर्वसुमिर्यासव इति समाख्या
तस्मात् पृथिवीस्थानाः (निरु० १२, ४१)” । ययमिन्द्रो वासवः,
मरुतो हि वासवाः समाख्याताः, तस्मात् मध्यमस्थानाः । वसव
भादित्यरश्मयो विवासनात्तमसां तस्मान् घुम्यानाः । “अस्मै
धत्त वसवो घसुनि (य० घा० सं० ८, १८)” ॥ “उमया अत्र
वसवो रन्त देवाः (ऋ० सं० ५, ४, ६, ३)” ॥

(३०) वाजिनः । वाजिशब्दश्चाश्वनामसु व्याख्यातः (१६०
पृ०) रश्मयोऽभिधेयाः । देवाश्च वाजिनः । “शत्रो मयन्तु
वाजिना हवेषु (ऋ० सं० ५, ४, ५, ७)” ॥

(३१) देवपत्न्यः । देवानां पालयित्र्यः पालनीया वा ।
“देवानां पदां ग्राहीरयन्तु नः (ऋ० सं० ४, २, २८, ७)” ॥

अध्यायपरिसमाप्तिर्द्विर्यचनं, ध्रुविदर्शनान् ॥

अग्निर्द्रविणोदा अश्वो वायुः श्येनाः

अत्रिगोत्रर्ध्रदेवराजयज्वनः कृते निघण्टुः

पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमन्
तृतीयं दैवतञ्चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थि
गौराद्यपारपर्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मत
जहाद्युल्वमृवीसान्तं नैगमं सम्प्रचक्षतं
अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते
तत्र च—

अग्न्यादिदेवीउर्जाहुत्यन्तः क्षितिगतो गण
वाय्वादयो भर्गान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवता
सूर्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थानदेवता इति
गौरादिदेवपत्न्यन्तः समाम्नायोऽभिधीयते
इति निघण्टुः समाप्तः ॥

॥ श्रीः ॥

निरुक्ते (निघण्टु भागस्य) शुद्धिपत्रम्

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२	६	निर्गुघता	निर्गुघता
३	१७	शुद्धा	शुद्धा
१०	१३	मूर्त्याः	मूर्त्याः
११	३	अमीशयः	अमीशयः
१२	५	द्युन्नम्	द्युन्नम्
१७	११	हलते	हलते
१४	१६	संयत	संयत्
२१	८	तृतीयोऽध्यायः	तृतीयोऽध्यायः
२८	६	परिधाजकः	परिधाजकः
२८	१०	घार्थे	घार्थे
२६	१८	वृष्ट्या	वृष्ट्या
३७	५	त्रत्यप्रयः	प्रत्ययः
३७	७	त्रैङ्	त्रैङ्
३८	६	वाणिज्य	वाणिज्य
३६	१०	गच्छत	गच्छति

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३६	१६	हियते	हियते
४०	८	वृहदारण्यके	वृहदारण्यके
४०	८	मात्रा मपा	मात्रामपा
४१	११	धार्प्यते	धार्प्यते
४८	८	पूर्वेण	पूर्वेण
४८	१०	मार्गो	मार्गो त
४८	१८	तर्णी	तर्णी
४८	२२	सर्गे	सर्गे
४६		चतुर्थो	प्रथमो
५१		तृतीयो	"
५१	६	मयूखा	मयूखाः
५१	१६	रस्मिः	रस्मिः
५२	६	एष्येन	एष्येन
५३		चतुर्थो	प्रथमो
५३	३	योजना ^{१४}	योजनाऽ
५३	५	रश्मिमिस्त	रश्मिमिस्तऽ
५४	१५	७	७,
५५	३	नाञ्च	नाञ्च
५५	१५	जमया	जमयाऽ
५८	४	त्वर्य	त्वर्य
५८	१६	उपसर्गे	उपसर्गे

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
५६	४	घञ्जठ	घञ्जर्थे
६२	११	हिसायाम्	हिसायाम्
६६	१६	लक्षणम्	लक्षणम्
७०	१	सर्वे	सर्वे
७०	७	सर्गे	सर्गे
७१	६	वर्णे	वर्णे
७१	१७	रूपी	रूपी
७१	१८	अ	अ
७४	४	स्थार्थे	स्थार्थे
७४	६	स्व्	स्व्
७४	६	स्वार्थे	स्वार्थे
७४	२१	सत्तै	सत्तै
७४	७	ग्रंस	ग्रंसः
७५	१५	जिघत्तै	जिघत्तै
७५	१५	दीङुः	दीङुः
७५	१	मैघ	मैघ
७७	८	स्थार्थे	स्थार्थे
७८	६	वज्र	वज्र
८०	१५	ऐश्वर्य्ये	ऐश्वर्य्ये
८१	१५	वर्षेण	वर्षेण
८२	२	इद	इद

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
८२	१६	मैघः	मैघः
८६	१५	कश्य	कश्य
८८	४	सर्व	सर्व
८९	१६	त्यर्थः	त्यर्थः
८९	२२	त्रिन्द्रेण	त्रिन्द्रेण
९०	३	दर्श	दर्श
९०	५	सन्दिधम्	सन्दिधम्
९०	२०	शस्त्र	शस्त्र
९३	१२	क्रिय	क्रिय
९४	११	यह	यह
९६	६	पृषोदर	पृषोदर
९६	१२	प्रत्यये	प्रत्यये
९९	२	कर्म	कर्म
९९	२२	ह्यर्थेन	ह्यर्थेन
१००	१३	स्वार्थे	स्वार्थे
१०१	१	देवाता	देवता
१०१	२०	अथवा	अथवा
१०३	१२	निगमा	निगमाः
१०३	१७	वृष्ट्युदकं	वृष्ट्युदकं
१०४	११	यडन्त	यडन्त
१०६	६	चौ	चौ

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१०६	१०	दीर्घः	दीर्घः
१०७	३	इध	इध
१०७	१६	अमि	अमि
१०८	६	न पूर्यः	न पूर्यः
१०८	१२	चणं	चणं
१०९	२२	चयं ण	चयं ण
११०	११	सयः	सयः
"	१५	गत्यर्थो	गत्यर्थो
"	१५	हृष्ट	हृष्टः
"	१६	मिने	मिने
१११	१	वृद्धयर्थः	वृद्धयर्थः
१११	४	स्पशो	स्पशो
१११	१५	निगम	निगमः
११२	१२	सगो	सगो
११३	८	()	(१)
११३	८	क्षत्रः	क्षत्र
११३	३	शयः	शयः
११४	३	प्राणितां	प्राणितां
११६	१५	सचममः	सचममः
११७	५	पुनर्व	पुनर्व
११८	२०	अग्नेर्व	अग्नेर्व
१२३	८		

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१२३	१३	सर्वे	सर्वे
१२४	६	त्रिर्णयः	त्रिर्णयः
१२५	१०	सर्गे	सर्गे
१२६	५	सङ्ख्या	सङ्ख्या
१३१	१	सम्यग्	सम्यग्
१३१	१२	स्थैर्यं	स्थैर्यं
१३२	३		(
१३२	५	प्रजन	प्रजनन
१३२	८	मुख्यार्थो	मुख्यार्थो
१३३	८	सर्वे	सर्वे
१३३	१७	वर्तमाने	वर्तमाने
१३४	१६	ऋषयः	ऋषयः
१३६	३	निरुक्त	निरुक्ता
"	६	गभीर	गभीरः
"	१५	अजयनाथ	अजयनाथः
१३६	२२	दर्थे	दर्थे
१४०	७	पूर्ववत्	पूर्ववत्
१४०	१७	यहो	यहोऽ
"	१७	चर्द्धते	चर्द्धते
१४२	६	"	"
१४३	३	निश्चि	निश्चि

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१४३	८	घञर्थे	घञर्थे
१४५	३	त्यर्थः	त्यर्थः
१४६	१०	रुद्र	रुद्रं
१	१४	कमिर्न	कमिर्न
१४८	८	ह्रस्वः	ह्रस्वः
१४८	१८	स्थैर्यं	स्थैर्यं
१५२	२०	पूर्वेण	पूर्वेण
१५४	१०	न्येपणीय	न्येपणीयः
१५६	१	ह्रस्वं	ह्रस्वं
"	१६	पदं	पदं
१५६	४	नद्या	नद्यो
१६०	२	घामत्या	घामत्याऽ
१६०	२	कर्प	कर्णे
१६०	१८	घञ	घञ्
१६२	१	घञ्शुः	घञ्शुः
१६४	८	ईपद्	ईपद्दुः
१६४	८	कृच्छार्थं	कृच्छार्थेषु
१६४	२१	क्षीयतेर्वो	क्षीयतेर्वो
१६४	२	युयुजे	युयुजेऽ
१७०	८	यदेतदयुक्ता	यदेतदयुक्त
१७०	७	कृग	कृग
१७१			कृग

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१७४	१८	शृङ्गानिः	शृङ्गानि
१८०	१८	कर्तृन्	कर्तृन्
१८४	१	करिक्त्	करिक्त्
१८५	१	कर्त्तो	कर्त्तो
१९४		निघण्टः	निघण्टुः
१९५	१	कृष्टयः	कृष्टयः
१९८	१२	इत्यस्मात्	इत्यस्मात्
२०१	१४	त्यौ	इत्यौ
२०४	६	२५	३
२०७	५	इपि घनि	इति घनिप्
२०८	८	अग्रलोपः	ग्रलोपः
२०९	६	(५)	(६)
२०९	६	निर्वचने	निर्वचने
२०९	१०		इति युच्
२१०	२१	लोपः	लोपः
२१२	६	मिष	मिण्
२१३	८	विसर्जनीयः	विसर्जनीयः
२१६	१५, १६	समर्थो गा	समर्थो गा ५
२१७	१६	द्वयतः	द्वयतः
२२०	१४	मर्थो	मर्थो
२२२	१४	प्रजन	प्रजनन

पत्राङ्कम्.	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः :	शुद्धपाठः :
२२८	१२	पृथन्य	पृथून्य
२३५	१४	मस्जी	मस्जो
२४६	१२	१६	११
२४८	८	इत्येकादशः	इत्येकादश
२५२		निघण्टः	निघण्टुः
२५३	४		१५॥
२५५	१५	शप्मे	शुप्मे
२५५	१६	र्विसखा	र्विसखाऽ
२५८		निघण्टः	निघण्टुः
२६१	८	स्वसारः	स्वसारः
२६१	८	मञ्जुपन्	मञ्जुपन्
२६१	१२	कर्माः	कर्मा
२६१	१८	विहायसां	विहायसा
२६२	२	श्यतो	श्येतो
२६२	२	दीतन्न	दीपन्न
२६६	१६	मस्जी	मस्जो
२७६	२०	एधमर्थो	एधमर्थो
२८५	२१	शत्रन्	शत्रून्
"	२२	त्स	स
२६२	१४	बहुल	बहुलं
२६४	२	सिद्धि	सिद्धिः

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३६४	१	द्रुपदे	द्रुपदे
"	२	"	"
४०१	२२	चयम	नयसऽ
४०२	२१	चार्यम	चार्यम्
४०५	१७	श्रेष्ठ	श्रेष्ठ
४०६	१३	भदन्तेः	भन्दतेः
४०७	८	विसर्ज	विसर्ज
४०६	१४	धाल	धाल्
४०६	१५	इषार्थे	इषार्थे
४१०	८	सर्गो	सर्गो
४१३	१	मृगखल्य	मृगख्य
"	२२	(४)	(४७)
४१५	१३	तूर्ण	तूर्ण
४१६	१३	घना	घना
४१७	२२	स०	स०
४२०	१५	से	से
४२०	२०	सर्गे	सर्गे
४२१		चतुर्थो	चतुर्थो
४२१	४	वर्णम्बु	वर्णम्बु
४२३	५	अप्वे	अप्वे
४२६	११	गुणा भाव	गुणाभाव

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
४२७	८	दस्रो	दम्नो
४२८	७	क्षृप	क्षृम्प
४३१		चतुर्था	चतुर्थो
४३१	१६	एदकम्	एदकम्
४३२	१	सर्वतः	सर्वतः
४३७	२८	सुष्टुः	सुष्टु
४४२		निघण्टः	निघण्टुः
४४३	२२	भूमि	भूमि
४४६	११	अर्चणम्	अर्चणम्
४४६	११	वचनो	वचनो
४४८	२२	च्छार्थो	च्छार्थो
४४६	८	सम्पूर्णात्	सम्पूर्णात्
४४६	६	सर्गे	सर्गे
४५१	१	धृतिः	धृतिः
४५२	२०	विधि	विधी
४५४	११	फारः	गफारः
४५४	१६	लक्षणं	लक्षणं
४५७	२०	प्रथमाये	प्रथमार्थे
४५८	१६	पूर्व	पूर्व
४५६	१७	ख्याता	ख्यातो
४६०	१	उग्रयतेः	उग्रयतेः

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
४६०	४	भवासिः	भवासि
४६०	१८	अश्न	अश्नु
४६१	७	नैरुक्त	नैरुक्त
४६२	१८	अश्वा	अश्वा
४६३	१८	शब्दे	शब्दे
४६४	८	(स०)	(सं०)
४६७	२	प्द्रन	प्द्रन
४६८	६	अहियु	अहियु
४७२	१०	स्तोर्णे	स्तोर्णे
४७२		निघण्टुः	निघण्टुः
४७६	४	घति	द्रघति
४७७	४	विद्यन्	विद्युन्
४७७	८	विद्यन्	विद्युत्
४८५	३	संख्यास	संख्यासु

इति निरुक्ते (निघण्टु भागस्य) शुद्धाशुद्धि पत्रम् ।

ॐ नमः शिवाय